● ज्ञानमार्ग कुण्डलिनी को कुमारिका कहता है 'वाममार्ग कुमारिका को कुण्डलिनी रूप मान कर पूजता है। बात एक है, लक्ष्य एक है, दृष्टि दो है इसलिए उपासना पद्धतियाँ दो हैं।

जीवन जटिल पहेली है और नियति रहस्यावृत अज्ञात भविष्यत्। वस्तुत: नियति हमारे ही कर्मों का विपाक है, हमारे जीवन का मूलभूत प्रयोजन है। नियति को अवशभाव से भोगना पशुता है, इस पशुभूमि में सारा संसार विचरण कर रहा है। तंत्र हमें पशुत्व से ऊपर उठने का वीरभाव देता है। वीरभाव से दिव्य-भाव को प्राप्त करना—तंत्र साधना का लक्ष्य है।

भौतिक वातावरण (आइनोस्फेयर) में स्वतंत्र घूम रहे विद्युदणुओं (इलेक्ट्रानों) को अपने साधना-बल एवं सूक्ष्म तकनीक के सहारे अभीष्ट रूप में ढालना तंत्र का चमत्कार है जिसे भैरव, यक्षिणी, पिशाचिनी, मारण, मोहन आदि नाम दिए जाते हैं, शिव और शक्ति के लीला विलास का सम्यक् विवेचन ही तंत्र दर्शन है और इस दर्शन को जीवन में उतार लेना हमारे जीवन की कृतार्थता, स्वतंत्रता, वीरता।

● काम की नैसर्गिक तृप्ति के अभाव में ही मनुष्य इतना असक्त हो गया है कि वह नारी की परछाई तक से उत्तेजित हो उठता है। इस सम्पूर्ण विकृति का उपाय काम के रूपान्तरण में ही निहित है। यह रहस्य को **'तंत्रदर्शन'** में बड़ी सुन्दरता से निरूपित किया गया है सबके लिए स्पष्ट और सुवाच्य। आवश्यकता उसे देखने वाली आँखों की है। हमारा मन शिवसंकल्प करने लगे तो पंच मकार जैसे त्याज्य एवं गर्हित माने जाने वाले साधन भी मोक्ष का कारण बन सकते हैं।

तंत्रदर्शन

तंत्र शास्त्रों का सार ग्रन्थ

लेखक : गोविन्द शास्त्री

© सर्वाधिकार सुरक्षित

लेखक अथवा प्रकाशक की लिखित पूर्वानुमति के बिना इस पुस्तक को अथवा इसके किसी भी अंश को किसी भी रूप में उद्धरित, अनुवादित एवं सन्दर्भित नहीं किया जा सकता।

8956

प्रथम संस्करण : नवम्बर १९८०

मूल्य : चालीस रुपये

मुखपृष्ठ की आवरण सज्जा श्री रामचरण प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान, जयपुर के सौजन्य से

प्रकाशक :
सर्वार्थ सिद्धि प्रकाशन
१२८, कटवारिया सराय गाँव, नई दिल्ली-११००१६

मुद्रक :
गुप्ता प्रिंटिंग प्रेस, ४०, विश्वास रोड, दिल्ली-११००३२

आगमतीर्थ श्रीयुत गोपीनाथ कविराज

युवावस्था की मोह मुग्धता को वे दुलराते रहे, अज्ञता भी उनका स्नेहसिंचन पाती रही, उनकी प्रच्छन्न और अहेतुकी कृपा, किस प्राक्तन सुकृत का फल थी, नहीं जानता। उनसे कितना कुछ ग्रहण कर सका—कह नहीं सकता क्योंकि पात्रता शनैः शनैः प्राप्त होती है और उनकी विराट्ता के समक्ष मैं अपर्याप्त पात्र ही बना रहता तदपि वे जो कुछ दे गये वह उनकी जरामरण से अतीत यशःकाय है, उनकी कृपा ही मेरा बल है, तंत्र-शास्त्र में मादृश आकिंचन का चंचु प्रवेश उनकी कृपा का फल है।

उनकी पावन स्मृति का अभिषेकभूत यह ग्रंथ
महनीय चरित्र प्रेरणास्पद गुरुवर्य

श्रीयुत हर्षनाथ मिश्र

प्रवाचक,
श्री लाल बहादुर शास्त्री, अखिल भारतीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
को सादर समर्पित

आत्म निवेदन

तन्त्र-दर्शन प्रस्तुत है। लिखना एक भिन्न स्थिति रही थी और लिखने के पश्चात् उसको समीक्षा की दृष्टि से देखना नितान्त भिन्न। इसके चिन्तनपक्ष का अधिकांश-मुक्त भाव से लिखा गया था, केवल आत्मतुष्टि के निमित्त। यह लेखक का एकान्तिक था, और एकान्तिक में स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता हो जाया करती है। इस को जब स्नेहशील आत्मीयों को समर्पित करने की इच्छा हुई तो बिना किसी प्रकार का संस्कार किए अशोक जी(प्रकाशक) को दे दिया। प्रूफ आए तो लेखक ने समीक्षक के रूप से पढ़ा, अनेक पृष्ठों तक एक तारतम्य-हीन प्रसार दिखता रहा और यह इसलिए अप्रकाश्य लगा कि मानव उचित शैली और विन्यास की अभ्यस्त मानसिकता उपवनों में विचरती है उसे वनों की प्राकृतिकता किंवा पादपों का स्वच्छन्द एवं यदृच्छाजनित आरोह स्यात् विचित्र लगे फिर भी पाठकों के आत्मीयभाव का विश्वास मानकर ये पृष्ठ छप ही गए।

विवेचन कैसा रहा—यह मेरा अधिकार क्षेत्र नहीं है। मैं केवल लेखक हूँ अर्थात लिपिक। जो लिखाता है वह इतर व्यक्तित्व है। एक बार श्री प्रभाकर जी (कन्हैया लाल मिश्र) से मैंने इस 'दूसरे' के सम्बन्ध में कहा था तो वे सहमति में कह उठे थे—इस मध्यम पुरुष के जागृत हुए बिना कुछ लिख सकना कठिन है। वस्तुत: मेरा काम लिखना रहा है इसमें यत्किंचित् भी यदि प्रशंसा योग्य है तो वह उसी मध्यम पुरुष का है जो स्तुति या निन्दा से असंपृक्त बना केवल अपने अनुभव, अभिव्यक्ति और निर्णय के प्रति उत्तरदायी है और उसी से प्रतिबद्ध भी। शैली में जो भी अप्रियता है वह अब संशोधन योग्य नहीं रही, वह जैसी है वैसी ही रहेगी। भाषा भी अपनी स्वच्छन्दता में रही इसलिए वह जटिल हो गई या उसमें तद्भव शब्द अधिक आ गए—यह भी निजत्व का अधिकार बना रहा।

'आभिजात्य' शब्द समाजवादी आग्रहों के परिप्रेक्ष्य में एक निन्दनीय स्थिति का सूचक है किन्तु मेरी दृष्टि में वह एक गरिमा और शालीनता का संयुक्त रूप है। उसमें आतंक नहीं है, दंभ नहीं है, संकीर्णता नहीं है प्रत्युत एक सुकुमार स्थिरता है, यति है। किसी विराट् की महिमा को प्रस्तुत करने की मुद्रा आभिजात्य है, ठीक यही आभिजात्य मुझे भारत के प्रत्येक ऋषि में दिखता है उसमें यदि सूर्य की-सी प्रखरता है तो वह सविता के रूप में नमस्य है और चन्द्रमा की सी मोहकता है तो सोम का पीयूष वर्षण है। जब कभी यह अभिजात्य मेरी कल्पना अथवा ज्ञान में आया है मैं तृप्ति की शून्यता में खो गया हूँ। यथार्थ यह है कि विश्व का समस्त विस्तार अपने गुरुत्वाकर्षण

से आत्मव्यवस्थित तो है पर वह किसी पूर्ण (परम शिव) की सत्ता से सुव्यवस्थित भी। वह पूर्ण इन सब को आकर्षित कर रहा है, उसके दुर्निवार आकर्षण से न व्यक्ति मुक्त है, न कण। यह आकर्षण परम शिव नहीं है क्योंकि वे आकर्षक हैं और यह उनकी शक्ति है, मायावी की माया। उससे और उसकी शक्ति से कोई मुक्त कैसे रह सकता है? शब्दातीत परम तत्त्व को किसी प्रतीक बोध या उपमान से व्यक्त करना शक्य नहीं है किन्तु उस स्थिति के स्मृति सुख को प्रसादवत् बांटे बिना कोई रह भी नहीं सकता और यह सब उसी मध्यम पुरुष का काम रहा है। ऋषियों का आभिजात्य रहा है।

प्रस्तुत चिन्तन में कोई विशेषता नहीं है। ज्ञान के शाश्वत स्तर पर संसार का समस्त अतीत एवं अनागत अविकृत रूप में विद्यमान है और हम बहुत भाग्यवान् ही नहीं अभिजात भी हैं कि ऋषियों ने हमें बहुत कुछ अयाचित रूप में ही दे दिया। यद्यपि इसे लिखते समय मेरे मन पर कोई आग्रह नहीं था, न यह भाव रहा था कि इस लेखन का कोई सम्बोधित भी है फिर भी मैंने युक्ति बल का प्रयोग किया है। विद्वान् मनीषियों की इस पर दृष्टि पड़ी तो वे इसे बालिश कर्म कहेंगे पर मेरी विवशता यह कि इससे अधिक मेरी गति भी नहीं है।

कतिपय पृष्ठों में यौनाचार को विचारणीय मानकर मीमांसित किया है। इस पुस्तक के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि यह विवेचन दिया ही जाए किन्तु पश्चिम की भोगवादी एवं भोग से अधा रही (वैसी ही स्थिति में जी रही भारतीय) सभ्यता को संभोग की पारमार्थिक अवस्था तथा प्रकृति के प्रयोजन से परिचित कराने के उद्देश्य से की गई है। तंत्र की एक शाखा है वाममार्ग। प्रमुख पाँच आम्नायों में वामाचार भी एक सम्मानित आम्नाय है जिसका मूल रूप संसार के व्यक्त होने की प्रारंभिक अवस्था का सूचक है। अर्थात् सृष्टि के प्रवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि शिव और शक्ति परस्पर अभिमुख हो। इस अभिमुखीकरण में एक बिन्दु शिव प्रधान होती है तो दूसरी शक्ति प्रधान रहती है। शिव प्रधानता में ब्रह्मा, विष्णु, महेश व्यक्त होते हैं और शक्ति प्रधानता में वामा, ज्येष्ठा, रौद्री प्रकट होती है। वामा का विस्तारोन्मुख रूप ही वाममार्ग या वामाचार कहलाता है।

वामाचार मदयपान और यौनाचार नहीं है। जब तक व्यक्ति मदिरा को मादक मानता है और मैथुन को देह व्यापार समझता है तब तक पशु है और पशुभावापन्न व्यक्ति को वामाचार में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं है। मुक्त मैथुन को मैथुनमुक्त अवस्था में रमने का स्तर जब तक नहीं मिलता तब तक वामाचार साधक के लिए पतन का कारण ही रहता है। प्राचीन तंत्र ग्रंथों ने वामाचार के विधान और तत्परक साधनाओं का ही निर्देश दिया है तथा संकेत रूप में साधक की उदात्त अवस्था का विवेचन अवश्य किया है किन्तु उसके रहस्यों को विस्तृत रूप से समझाया नहीं, संभव है यह सब उन्होंने गुरुपद के लिए छोड़ दिया हो। तारा, मातंगी, काली आदि रूपों की साधना में वामाचार अधिक प्रभावशाली पद्धति हैं क्योंकि इन रूपों में शक्ति का प्रचण्ड भास्वर रूप प्रकट होता है इसलिए वीरत्व चाहिए ही और वीरभाव वामाचार की शर्त्त है।

वामाचार तंत्र का परम नहीं है और न ही अनिवार्य है। जो लोग इस साधना पद्धति में उतरे हैं वे जानते हैं कि एकान्त में किसी मंत्र का जप करने की अपेक्षा और अपने सामने किसी ताम्र, रजत, स्वर्ण या भोज पत्र पर मंत्र को प्राण प्रतिष्ठ कर के पंचोपचार से पूजित करने की अपेक्षा, नारी के यंत्र को पूजित प्राण प्रतिष्ठित करके मंत्र के स्वरूप को प्रकट करना असिधारा व्रत है इसके लिए कितना सन्तुलन, संयम और निष्ठा चाहिए। वाम-मार्ग की साधना के लिए माया की पाशविक ग्रन्थियों का विमोचन करते हुए, पशुत्व का वध करके ही दिव्यभाव प्राप्त करने का साहस आवश्यक होता है।

पूज्य चरण कविराज (गोपीनाथ) जी अन्तर्मुखी अतएव ज्ञानमार्गी साधना करने वाले थे। प्राक्तन संस्कार गुरुकृपा और अविश्रान्त साधना के कारण वे परम भाग्य वत्ता को प्राप्त थे इसलिए उनके अपने साहित्य में तथा कल्याण के शक्ति अंक में (जिसकी विषय सूची उनकी ही कृपा का प्रसाद रूप थी) भी वामाचार का ज्ञानगम्य अतएव आभ्यन्तर निदर्शन ही मिलता है और ज्ञानमार्ग में सभी साधन साधक के देह में मिल जाते हैं तथा उनका नाम भी बदल जाता है। आज के अल्पमेघा व्यक्ति के लिये उनका वाङ्मय दुरूह है तथा उन्होंने जिस उदात्त भूमि का वर्णन किया है, उसे उसी स्तर पर पहुँचे विना समझा कैसे जा सकता है। शास्त्रीय व्यवस्था और इस युग की शिशन पूजकता को देखते हुए संभोग जैसी प्राकृतिक क्रिया का तंत्रदृष्टि से विश्लेषण करना मेरी अपनी दृष्टि से समीचीन रहा।

तंत्र के वामाचार को पढ़ सुनकर कुछ लोग इसके प्रति विरोधभाव रखते हैं, कुछ इसमें आतुरता से प्रवृत्त होना चाहते हैं' ये दोनों ही तंत्र के रहस्य को नहीं जानते। ये परिणति को ही देखते है, वाममार्ग की पूर्व पीठिका अपने वल, साहस, धारणा-शक्ति, एकाग्रता, संयम, सन्तुलन जैसी पात्रता से परिचित नहीं है। वामाचार की ओर आकृष्ट एवं प्रवृत होने वालों को स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस मार्ग में प्रवृत्त होने के लिए ज्ञान की उच्च भूमिका, बोध की आग्रह-मुक्त अवस्था और इन्द्रियों का स्वस्थ एवं नियंत्रित रूप परमावश्यक है। इस सबके लिए अपने आपको कितना साधना पड़ता है यह तथ्य सहज अनुमेय है।

भाषा की कठिनता का आक्षेप प्रायः मुझ पर लगाया जाता है, कई बार पत्रिकाओं ने मेरे लेख इसी भाषा के कारण नहीं छापे।—मैं इस आक्षेप को उस दृष्टि से स्वीकार किए लेता हूँ जिसने इसे जटिल समझा है असंशय रूप से इस पुस्तक की भाषा अर्थभार से आक्रांत हो गई है किन्तु मेरी विवशता यह कि आत्मस्थ वृत्ति का उदय होने पर व्यक्ति स्वतंत्र हो जाता हैं और यही है उसकी 'स्व'ता होती है, उसमें अन्य को अवकाश कहाँ ? तद्यपि मेरा विश्वास है कि इस समीक्षा को शिव और शक्ति के विलास का रूप मानकर, भाषा की कठिनता के दुराग्रह से मुक्त होकर समार्पित भाव से पढ़ा जाएगा तो समझ में आ जाएगा। प्रयोग एवं व्यवस्था से सम्बन्धित उत्तर खण्ड तो सबके लिए है इसलिए गम्य है ही।

वस्तुतः इस विवेचन के माध्यम से मैंने अपने देश की अतिवैज्ञानिक प्राचीन

पद्धति से परिचित कराने का प्रयास किया है इस विश्वास के साथ कि इसे हृदयंगम करके आप भी असंदिग्ध भाव से यह कह सकते हैं कि शब्द का, शब्द के माध्यम से संसार व सत्य के शाश्वत का दर्शन करने का जितना सार्थक एवं सांगोपांग प्रयत्न इस देश में किया गया। उतना विश्व के किसी दूसरे भूभाग पर नहीं किया गया।

तंत्र शास्त्र का विस्तार अनन्त है। हमारा बोध जब चेतना का साहचर्य पाकर इन स्तरों को भेदता हुआ स्व—प्रकर्ष को प्राप्त करता है तव तंत्र के रहस्य का द्रष्टा बनता है। देवी के दिव्य स्तवन में उसे मेधा, मनीषा, प्रतिभा, पण्डा, ब्राह्मी आदि अभि-धानों से अभिहित किया जाता है, यदि हम परमार्थत: इनमें से एक भी रूप की साधना व प्राप्ति कर सकें तो जीवन कृतार्थ हो जाए।

शब्द की उपासना व्यावहारिक है क्योंकि वह अनाम-अरूप तत्त्व केवल इसी स्तर पर प्रकट हो सकता है। षोडश मातृका, पंचदेव के रूप में और इन सबके पहले गणपति की पूजा वास्तव में प्रणव, मात्रा और व्यंजन वर्गों का पूजन है। तत्त्वदृष्टि चेतन के विस्तार और विलास को संवेदनशील होकर देखती है और उस समय प्रत्येक पदार्थ सप्राण हो जाता है। हमारे यहाँ शब्द उपास्य रहा-शिव और शक्ति की प्रकट मूर्ति की तरह इसके रहस्य को गोपायित रखने के लिए हमारे यहाँ विविध सशक्त प्रयत्न किए गए। इतने तकनीकी वन गए कि उनको समझना कठिन हो गया। भाषा को संयमित-संस्कृत रखने का कार्य व्याकरण का रहा किन्तु वीज का, शब्द के मूल रूप का विवेचन, उसकी क्षमता, उसके दोलन एवं आवर्तन के प्रभावों का मूल्यांकन जिन ग्रन्थों में किया गया है वे न सुलभ है, न गम्य। एक अध्याय में उन सभी अक्षरों की प्रतीकों और संकेतकों की संक्षिप्त सूची दी गई है इस आशय से कि सामान्य संस्कृत जानने वाले भी तंत्र के मूल ग्रंथों को यत्किंचित् समझ सके।

चिन्तन पक्ष में देश और संस्कृति के प्रति अत्यधिक श्रद्धा और ज्ञान परम्परा के प्रति अतिशय कृतज्ञता के कारण कहीं-कहीं भावुकता प्रभावी हो गई है। संभव है यत्र-कुत्र ऐसा आभास हो कि विवेचन प्रसंग की सीमा का अतिक्रमण कर रहा है किन्तु जहाँ यह ध्यान आएगा वहीं आपको ऐसा वाक्य मिल जाएगा जो सीमा का सूचक है। प्रारम्भ में ही मैं निवेदन कर चुका हूँ कि इसमें वह चिन्तन समेकित है जो तंत्र से सम्बद्ध है और मूलत: बिना शीर्षक लिखा गया है शीर्षक की परम्परा से मुक्त होकर इस सम्पूर्ण को पढ़ने पर तंत्र का वास्तविक रूप, सीमा, विवेच्य विषय, हमारी धारणा आदि प्रसंगों का संकेतात्मक ज्ञान हो जाएगा।

यदि इस विषय की गूढ़ता और विस्तार को कुछ और व्यापक दृष्टि दी जाती तो भाषा अधिक तकनीकी हो जाती, प्रत्येक शब्द अपनी पारमार्थिक सत्ता एवं स्वरूप का वोधक होने के कारण दुरुह बन जाता इस सबसे इसे प्रकाशित करने का प्रयोजन ही अपूर्ण रह जाता। वस्तुतः तंत्रशास्त्र के मूल रूप से परिचित कराने और साभिरूचि जनों को क्रियात्मक दिशा दर्शन करने के लक्ष्य से यह पुस्तक प्रस्तुत की गई है।

इस पुस्तक के प्रयोगिक पक्ष में शारदा तिलक, मेरुतंत्र, तोडल तंत्र, फेत्कारिणी

तंत्र, डामर तंत्र, उड्डीश तंत्र तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों व इस विषय के विश्वस्तजनों से सहायता ली गई है। चिन्तन पक्ष में प्रेरक ग्रंथ कामधेनु तंत्र, मंत्र और मातृकाओं का रहस्य, स्फोट दर्शन, ज्ञान संकर्षिणी तंत्र, महा निर्वाण तंत्र आदि ग्रंथ और पुण्यश्लोक गोपीनाथ कविराज का साहित्य रहा है। प्रयोगों का चयन करने में अनेक आधार ऐसे रहे हैं जो विश्वास के कारण बना करते हैं जैस एक प्रयोग का अनेक ग्रन्थों में उल्लेख, उसके विधि विधान एवं मंत्र की रचना में संगत संयोजन विश्वस्त एवं सत्पात्र जनों को देकर उसका सत्यापन।

प्रयास यह रहा कि तंत्र के क्षेत्र में यह एक उपयोगी पुस्तक (हैंड बुक) वन सके इसीलिए आज के युग की विडम्बनाओं का चिन्तन पक्ष में और विषमताओं का प्रयोगिक पक्ष में समाधान करने का आग्रह रहा। कतिपय ऐसे प्रयोग भी इसमें दिए गए हैं जो शायद आप पहली वार देखें जैसे—कार्तवीर्य अर्जुन का, चोर को पहचानने का आदि।

प्रयोग करने के इच्छुक जनों को कभी भी अपनी सिद्धि या सामर्थ्य के प्रति इतना आसक्त और उत्सुक नही होना चाहिए कि वे अपने कर्म को भूल कर केवल फल का ही चिन्तन करने लगे। प्रयोगों में यह शर्त लगाना भी व्यर्थ है कि अमोघ ही हो, अनुष्ठान करने पर सफलता ही मिले। कोई भी प्रयोग असत्य नहीं है, कर्त्ता, कर्त्ता की पात्रता, विधि और मात्रा ये सब मिल कर ही सिद्धि का मार्ग प्रशस्त करते हैं। एक प्रयोग चार जनों ने किया उनमें तीन को सफलता मिली एक को असफलता अथवा एक को सफलता और तीन को असफलता ऐसी स्थिति में बहुमत से निर्णय नही किया जाता प्रत्युत सफलता को ही उसका मापक मान लिया जाता है।

मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि निष्ठापूर्वक करने वाले साधक को सिद्धि मिलती ही है। जिन लोगों ने ये प्रयोग दिए हैं उन्होंने स्वयं करने और आश्वस्त होने के पश्चात् ही हमें बताए हैं, यह दूसरी बात है कि हम उन्हें करने लायक नही होकर भी करें और असफल होकर इनको असत्य कहने लगे। परांबा आपको सहायता दे, आप इस मार्ग में प्रवृत होकर हमारे देश की वैज्ञानिकता का साक्षात्कार करें और संयोगवश आने वाली प्रत्येक विफलता आपके साहस और प्रयत्न को अधिक प्राणवान् करे।

शिवमस्तु

चौमूं, जयपुर

गोविन्द शास्त्री

प्रकाशकीय

मनु के विश्वासदीप्त वाक्य—एतद्देश प्रसूतस्य सकाशाद अग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवा :—अभौतिक क्षेत्र में आज भी चरितार्थ हैं किन्तु युगीन विसंगति यह कि चिन्तन सड़कों पर आ गया है। चरित्र और मानवीय मूल्य साहित्य की पकड़ से छूट गए हैं। इसलिए वह अपने अभिजात्य और शालीनता से च्युत होकर वित्तेषणा का पूरक बनता जा रहा है, सर्व सुलभता का मोह पाठक में उत्सुकता अवश्य जगा रहा है, पढ़ने का व्यसन भी उत्पन्न कर रहा है। किन्तु संस्कार नहीं कर रहा, पाठक की रुचि को उन्नत नहीं कर रहा। व्यक्ति की अन्तर्हित पशुता को दीप्त करना साहित्य का शिवभाव नहीं है, दुर्मद दानव को वीरोचित विन्यास देना पाठक की सुकुमार भावनाओं के साथ अतिचार है यही एक कारण है कि महानगर या कोयला क्षेत्र पर घिर जाने वाले सांध्य धूमावरण की तरह यह साहित्य वैचारिक सन्दूषण के रूप में छाता—फैलता जा रहा है यही गति रही तो कालान्तर में स्वस्थ एवं स्तरीय साहित्य पर्वतीय स्थान की तरह प्रयत्नलक्ष्य हो जाएगा।

भीड़ के स्वेच्छाचार और सम्मर्द के लोभहत स्वभाव को धर्म की बल्गा से ही नियन्त्रित किया जा सकता है, एतन्निमित्त भगवान, पुण्य, धर्म, उपासना जैसे शब्दों को व्यवहार का जीवन देना ही होगा किन्तु विवशता यह कि इस विषय के प्रामाणिक प्रस्तोता बहुत कम है, जो हैं वे भी जन साधारण के लिग गम्य भापा में नही कह पाते, उनकी तकनीकी शैली आज के सन्दर्भ में दुर्बोध हो गई है। स्थाई साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि वह शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाए और खेदजनक स्थिति यह है कि इतने बड़े देश में स्तरीय एवं प्राचीन प्रामाणिक साहित्य को निर्दोष रूप में प्रकाशित करने वाले विश्वस्त संस्थान कतिपय रह गए हैं।

भारत की पावन धरित्री का इतिहास समुज्ज्वल है, इसकी प्रकृति विलक्षण है इसलिए भारत माँ की कृतियां अद्भुत हैं। चिन्तन, अन्वेषण एवं अनुसंधान की परम्परा इस धरती का स्वभाव है, इसलिए अधुनातन विज्ञान का चमत्कारी रूप और उसकी सम्भावनाएं हमें चौंकाती नहीं क्योंकि उन सिद्धियों के उच्चतम स्तर की कथायें हमारे इतिहास के उपाख्यान हैं। वैचारिक स्तर को उन्नत करने के लिए स्वस्थ चिन्तन एवं दर्शन के विवेक से पूरित पुस्तकें युगीन आवश्यकता है। सवार्थ सिद्धि प्रकाशन ऐसी आवश्यकता को पूर्ण करने का यत्किंचित् आयोजन है, यह एक दार्शनिक किंवा आध्यात्म याग है जिसकी संपूर्णता एवं सफलता आपके स्नेहसिक्त सहयोग से सम्भव है।

विनम्र

१२८, कटवारिया सराय गाँव, नई दिल्ली-११००१६

अशोक जैन

सर्वार्थसिद्धि प्रकाशन

विषय-सूची

चिन्तन पक्ष

तंत्र क्या है ?	३
तंत्र—एक सिद्धान्त और विधा	६
तंत्र और विज्ञान	१५
आत्म जिज्ञासा	२२
अन्तर्यात्रा	२५
तत्त्व सिद्धान्त	३०
प्रकृति साधना	३३
मुक्ति का तार्किक पक्ष	३६
मुक्ति का दार्शनिक पक्ष	४१
तंत्र और सैक्स	४४
पंच मकार	४६
इच्छा शक्ति	६२
प्रायोगिक चिन्तन	६६
स्तुति शक्ति	७०
शब्द व्याकरण का दार्शनिक पक्ष	७५
शब्द	८०
मंत्र रचना	८६

प्रायोगिक पक्ष

शास्त्रीय व्यवस्था	१०७
मंत्रदोष	११३
अक्षरों का तत्त्वानुसार वर्गीकरण	११७
अक्षरों का नक्षत्रानुसार वर्गीकरण	११८
काकणी विचार	११९
मन्त्र का सिद्ध, साध्य , सुसिद्ध व अरि विचार	१२०
मंत्र का स्वरूप	१२२
मासों के फल/तिथि विचार	१२३
षटकर्मानुसार ऋतु-कालादि विचार	१२४
साधना विधि	१२५
पुरश्चरण	१४४
मांत्रिक प्राण प्रतिष्ठा की संक्षिप्त एवं सामान्य विधि	१४५

शावर मंत्रों को जागृत करने की विधि	१४६
पुत्तलिका प्रयोग	१४६
वशीकरण	१५१
सामान्य पूजा पद्धति	१५४
कार्तवीर्यार्जुन प्रयोग	१६१
वीसा यंत्र	१६४
लक्ष्मी कवच	१६६
कमला अष्टोतरशतनाम स्तोत्र	१७०
लक्ष्मी सूक्त	१७१
सदाशिव कवच	१७२
उच्छिष्ट गणपति का प्राकृतिक प्रयोग	१७५
शक्ति विनायक गणपति प्रयोग	१७६
लक्ष्मी विनायक गणपति प्रयोग	१७७
गणपति स्तवन	१७९
राजमातंगिनी स्तोत्र/त्रिपुरा स्तोत्र	१८१
श्यामा (दक्षिणा कालिका) स्तोत्र	१८२
काली स्तोत्र	१८५
शिव प्रयोग	१८८
महापुरुष विद्या/नरसिंह कवच	१८९
हनुमत द्वादशाक्षर कल्प	१९१
चोरी वरामद करने का मुसलमानी प्रयोग	१९२
कतिपय यक्षिणी प्रयोग	१९३
कुबेर मंत्र प्रयोग	१९५
वेद व्यास मंत्र	१९६
धर्मराज मंत्र/कामपिशाचिनी मंत्र	१९७
चतुरक्षर लक्ष्मी मंत्र प्रयोग/उच्छिष्ट चाण्डलिनी प्रयोग	१९८
कामगायत्री प्रयोग/उपयोगी औषधि प्रयोग	१९९
नरायण शास्त्र	२०२
आगन्तुक व्याधिनाशक भूतेश्वर मंत्र/प्रेतबाधा निवारण शाबर मन्त्र	२०४
दृष्टि दोषनिवारणार्थं प्रयोग/ज्वर नाशनार्थं पुत्तलिका प्रयोग	२०५
पीलिया झाड़ने का मंत्र	२०७
सम्मोहन के लिए सावर मन्त्र/कर्ण पिशाचिनी की सरल साधना	२०८

चिन्तन पक्ष

तंत्र क्या है ?

तंत्र शास्त्र का विस्तार मनुष्य जन्म की सीमा से नहीं नापा जा सकता। इस गूढ़ ज्ञान की तकनीक को समझने में ही व्यक्ति अर्धायु रह जाता है, शेष आयु में कितना क्या किया जा सकता है ? विवशता यह भी रहती है कि शास्त्र ज्ञान के माध्यम से जो जाना जाता है—वह औपदेशिक ज्ञान है, उसे व्यक्ति स्वप्नदृष्ट की तरह अनुभव करता है अथवा स्मृति किंवा प्रतिवेदना जैसी सुखद अवस्था को प्राप्त करके उल्लसित हुआ करता है। यह भी आत्म साधना का एक प्रकार है, शास्त्रों के व्यासंग से व्यक्ति जागतिक आग्रहों और व्यामोहों से ऊपर उठता चला जाता है तथा शनैः शनैः विस्तार में अपने आपको पहचान लेता है, इसे सर्वात्मभाव की सिद्धि कहते हैं। एक दूसरा मार्ग और है जो प्रतिभा का है। प्रतिभा के लिए कहा गया है कि यह वह बुद्धि का स्वरूप है, जो नित्य नई उद्‌भावना, कल्पना और विचार का उन्मेष करती है। यह उपदेश या परप्रत्यय से प्राप्त नहीं होता।

जो लोग आत्म साधन या स्वरूप दर्शन के लिए ज्ञान मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, उनमें परांबा की कृपा से प्रतिभा का उदय होता है और वे ज्ञान की उस अखण्ड सत्ता का साक्षात्कार करते हैं जो काल अतएव जरा-विनाश से क्षुण्ण नहीं होती। ऋषियों का निर्णय है कि हमारी यह स्थूलवाणी और इसके माध्यय से व्यक्त हो रहा ज्ञान, मूल रूप में अक्षर अवस्था का ही प्रस्फुरण है इसलिए जो शास्त्र आज सुलभ हैं, जो लुप्त हो गए और जो अब प्रकाशित होने हैं वे सब उस अक्षय-अव्यय स्तर पर स्व-रूप में विद्यमान हैं। व्यक्ति अपनी चेतना को किंवा बोध को, मल विहीन करता हुआ अनौपदेशिक प्रतिभा के क्षेत्र में प्रवेश प्राप्त कर लेता है तो ये उसके ज्ञान में प्रकट हो जाते हैं। यह पद्धति अपने में विश्व को देखने की है, इसीको "सोऽहम् ब्रह्मास्मि" का बोध कहा जाता है।

किसी भी विषय या वस्तु के पूर्वापर को जानने की इच्छा सहज मानवीय प्रकृति है। इससे व्यक्ति का विश्वास दृढ़ होता है, संशय का अवकाश नहीं रहता। तंत्र क्या है ?—इस प्रश्न में तंत्र का क्षेत्र और इतिहास दोनों आ जाते हैं। क्षेत्र का जहाँ तक संबंध है वह तंत्र ग्रंथों के अनुशीलन से रेखांकित हो जाता है किन्तु इतिक्रम का तिथि-क्रम निर्धारित करना जटिल कार्य है, विशेषकर इसलिए कि लेखक या उपदेष्टा जब विषयनिष्ठ हो जाता है तो वह ज्ञान की अजस्रवाहिनी शाश्वत धारा में जुड़ जाता है, फिर जिस देश में विशाल ग्रंथ रचकर भी रचयिता अपना नाम नहीं लिखता—उपदेष्टा शिव को और श्रोता के रूप में माँ पार्वती को प्रस्तुत करता है, वहाँ कोई संवत् या काल गणना का संकेत किया भी कैसे जा सकता है ? वास्तविकता यह है कि ज्ञान का कालक्रम नहीं होता उसका स्तर हुआ करता है और स्तर व्यक्ति के संवेदनशील एवं निर्मल बोध के अनुसार प्राप्त होता है।

तंत्र शास्त्र के ये प्रतीक-कैलाशशिखर, शंकर और गौरी-इतिहास दृष्टि से

महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, क्योंकि भगवान् शंकर और उनकी सहचरी हमारे यहाँ की घटनाओं की द्रष्टा हैं। कैलाश, विवेक का प्रतीक है और विवेक हमेशा सन्देहहीन निर्णय दिया करता है इसलिए तंत्र शास्त्र के मुख्य उपदेष्टा के रूप में पूज्य शंकर इतिहास की परिधि में आते ही नहीं।

तदपि ज्ञान के विकसित होने का एक क्रम तो रहता ही है और वही क्रम तंत्र शास्त्र के इतिहास का समीचीन आकलन होगा। इतिहास लेखन का यह क्रम जिसमें वहि: साक्ष्यों के आधार पर किसी कालकथा को जोड़ते हैं, सर्वांशत: सही नहीं रहता क्योंकि इन साक्ष्यों की कड़ियाँ जोड़ने में क्षेपक अधिक आते हैं और एक साक्ष्य के विश्लेषण को बहुधा इतना खींचना पड़ता है कि वह दूसरे साक्ष्य तक पहुँच जाए। इसीमें इतिहासकार को अपनी संयोजन चातुरी का प्रदर्शन करने का अवसर मिल जाता है, परिणाम स्वरूप हमारे सामने इतिहास स्वयं प्रस्तुत नहीं होता, प्रत्युत प्रस्तोता के कौशल के अनुसार इतिहास सामने आता है।

इतिहास को जानने का दूसरा प्रकार भी है और वह है प्रतिक्रम पद्धति। कोई भी वस्तु विकसित होती है तो अनुक्रम से होती है इसलिये उद्‌भव तक जाने के लिए विकास की प्रतिलोमगति पर विचार करना पड़ता है इस विचारणा में अन्त: साक्ष्य अधिक विश्वसनीय रहते हैं।

मूलत: संशोधन, परिमार्जन या विस्तार वहिर्मुखी अवस्था में ही होते हैं। अन्तर्मुखी वृत्ति अथवा ज्ञानमार्गी साधना में कोई अन्तर नहीं। तंत्र का इतिहास व्यष्टि या समष्टि का इतिहास है जिसके माध्यम से हम यह जाना करते हैं—ज्ञान का प्रस्फुरण सूक्ष्म अवस्था से स्थूल स्तर तक आता-आता पशुभूमि तक आ जाता है। मूल रूप में ज्ञान या बुद्धि में जो ऐश्वर्यमयता है, वह विकास के साथ मन्द होती चली जाती है और यही मन्दता जीवात्मा के विविध देह स्तरों का नाम वन जाती है।

ज्ञान का आधार शब्द होता है और शब्द ही उसके विकास की कथा कहता है। भारत में ज्ञान के विकास की दो प्रामाणिक धारायें हैं—एक वेद और दूसरा तंत्र, दोनों ही शब्दमय हैं इसलिये विश्वास भूमि हैं। एक को स्वयंभू कहते हैं, दूसरे को आगम।

आगम शब्द का अर्थ होता है **आ समन्तात् भावेन गमयतीति आ गमः** अर्थात् जो विधि हमें पूर्णरूप से ले जाती है वह आगम कहलाती है। ले जाने से तात्पर्य उस गन्तव्य विन्दु से है, जहां सारा भेद, सारी जड़ता समाप्त हो जाती है। आगम का दूसरा अर्थ, आने से भी होता है। आने की क्रिया की संगति इसलिये होती है कि यह ज्ञान परम विश्वस्त परम शिव से आया है इसलिये आगम है, आप्त है। इन अक्षरों का एकैकश: संकेतार्थ वताते हुए इसकी परिभाषा करते हैं।

आगतं शिववक्त्राब्जात् गतं च गिरजामुखे
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।"

अर्थात् 'आ' से शिव के मुख कमल से आना, 'ग' से गौरी के मुख में जाना और 'म' से वासुदेव का मत सम्मत् होना सूचित होता है।

वाचस्पति मिश्र आगम की परिभाषा करते हैं—जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस

के उपाय हमारी बुद्धि में आते हैं—वह आगम है।

आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्मादाभ्युदय निःश्रेयसोपायाः स आगमः।

इस प्रकार आगम शास्त्र के सम्यक् अध्ययन के पश्चात् इस शब्द या शब्द के प्रत्येक वर्ण की वोधकता के अनुसार विभिन्न विद्वानों ने अपने अनुभव एवं विज्ञान के आधार पर परिभाषायें स्थापित की हैं। इन सब में कोई पारमार्थिक अन्तर नहीं है।

तंत्र शब्द के भी अनेक अर्थ किये गये हैं जैसे आचार संहिता (कुलार्णव तंत्र जैसे ग्रंथ हमारे गार्हस्थ एवं औवासनिक आचरणों की स्मृति-संहिता है) सिद्धांत (प्रपंच सार तंत्र) औषधि (शरीर शास्त्र के अन्तर्गत स्थूल देह की विकृतियों की चिकित्सा जैसे अगद तंत्र) प्रवन्ध विस्तार, तन्थुवाय (जुलाहा) शपथ, धन, गृह आदि।

तन्त्र शब्द को इन अर्थों में प्रयुक्त किया गया है पर जहां यह विधा विशेष का सूचक वनता हैं वहां इसका उद्गम् निष्कल शिव के सकल अतएव प्रपंच व्याप्त होने की अवस्था से होता है।

'यामल' शब्द उपर्युक्त दोनों शब्दों की अपेक्षा अधिक सुकुमार है। शब्द शास्त्रीय दृष्टि से इसका अर्थ होता है—युगल से सम्बन्धित या उद्गत। युगलावस्था शिव और शक्ति के परस्पराभिमुख होने की है। तांत्रिकों के परमाराध्य परमशिव अपने स्वभाव में अवस्थित रहने की अवस्था में निष्कल कहे जाते हैं। शक्ति, जो शिव की ही सक्रियता है, उस समय सुप्त रहती है किन्तु जब शिव में सहज विक्षोभ होता है तो शक्ति का प्राकट्य होता है। शिव और शक्ति परस्पर अभिमुख होते है और उनकी कला का विकासमय विलास प्रारम्भ होता है। दक्षिणा कालिका का शिवारुढ़ मुद्रा का चित्र, इस परिकल्पना का सरस-सहज ज्ञेय प्रतीक है। शंकर के मस्तक पर चन्द्रकला को भूषित करने का व्यवहार भी निष्कल शिव की कलामय स्थिति का निदर्शन कराता है।

शिव और शक्ति की परस्पराभिमुखता सृष्टि का कारण है। शिव की विन्दुमय अवस्था विक्षुब्ध होने पर विसर्ग की उत्कट आकांक्षा से प्रेरित होती है जिसे भाषा में उपर्यधः दो विन्दु के चिह्न से लिखा करते हैं। मूलतः ये दो विन्दु शिव और शक्ति के मिथक को, उनके साम्मुख्य को संकेतित करते हैं। विन्दु का विकास त्रिकोणमय हुआ करता है और त्रिकोण के कोण विन्दुमयता का आभास देते हैं। शिव और शक्ति के द्वित्व पर आधारित विन्दु द्वय में साम्मुखीन क्रिया होने पर दोनों में भेद, विशिष्ट अभेद प्रकट होता है और दोनों की एकरूपता किंवा परस्पर आवद्ध हो जाने पर शिवांश प्रधान और शक्त्यंश प्रधान त्रिकोण व्यक्त होता है। जिसमें शक्ति के अंश की प्रमुखता वाले त्रिकोण में इच्छा, ज्ञान, क्रिया का समावेश होता है तथा शिवांश प्रधान त्रिकोण में ब्रह्मा, विष्णु, महेश स्थापित होते हैं।

यही इस दृश्य संसार के विकास का मूल रूप है और हम भारतीय मुक्ति कामना से प्रेरित होकर इन्हीं प्रतीकों के परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया करते हैं। तंत्र इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है और यहीं पर हमारी जिज्ञासाओं का शमन हो पाता है।

भारतीय तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने—जिनका जन्म निःसंशय सृष्टि के प्रादुर्भाव

एवं विकास के बहुत बाद हुआ था— इस इतिहास को ज्ञान चक्षु से देखा था। वस्तुतः शिव और शक्ति का यह सम्मिलन एक शाश्वत अवस्था है, दोनों की रति ही संसार का प्रवर्तन है इसलिए जो साधक निर्मल अन्तःकरण हो जाते हैं उनके लिए यह शाश्वत अवस्था अगम्य नहीं रहती। शिव और शक्ति का यह रूप कालातीत है इसलिए जरा-मरण जैसी अवस्था इनको नहीं व्यापती।

ऋषियों ने परमशिव के दिव्य स्वरूप का दर्शन अन्तश्चक्षु से ही किया पर माध्यम शब्द ही रहा। शैवों का—शिवोऽहम् और शाक्तों का साऽहम्-शिवाऽहम् अथवा वैष्णवों का 'सोऽहम् ब्रह्म' जैसी प्रतीतियाँ द्वित्व को एकत्व में पर्यवसित करने की अथवा एक के अनेक रूप में विस्तीर्ण होने की अनुभूतियाँ हैं।

तांत्रिक वाङ्मय शब्द रूप है। शब्द के पारमार्थिक रूप को जानना तंत्र को जानना है। शब्द के विस्तार और यथार्थ को जानने के लिए छन्द, निरुक्त, व्याकरण जैसे ग्रंथ तो हैं ही, पर वे उसके परिणामी अतएव बहिर्मुखी रूप का ही सम्यक् विवेचन करते हैं। वह ज्ञान हमें सामर्थ्य देता है, संकोच से ऊपर उठाता है किन्तु पाशमुक्त नहीं करता इसके लिए शब्द की मंत्रमय गरिमा को प्राप्त करना आवश्यक है।

तंत्र शास्त्र की अनुभवसिद्ध घोषणा है कि हमारे व्यवहार में आ रही भाषा में, शब्द और अर्थ का द्वित्व रहता है। अर्थ शिव स्वरूप है और शब्द शक्ति (शिवा, पार्वती) का स्वरूप है। अर्थ के समग्र को व्यक्त करना शब्द की सामर्थ्य नहीं है, वह उसकी सम्पूर्ण सत्ता को अविकल रूप से प्रकट नहीं करता पर अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द के अतिरिक्त कोई सुसंवाही आधार मिलता भी नहीं। उदाहरण के लिए हम पशु शब्द लें। यह शब्द अभिधा-लक्षणा-व्यंजना के स्तर पर अपने प्रसंगानुसार अर्थबोध करता है। किन्तु वह एक समग्र बोध है—परिप्रेक्ष्य जितना व्यापक होता चला जाएगा उतना ही यह शब्द निगूढ़ार्थ होता चला जाएगा—इस तथ्य से साहित्य शास्त्र के अध्येता परिचित हैं। इससे भिन्न स्थिति में शब्द—प्रतीक, पर्याय और परम स्तर पर ज्ञान का प्रकटीकरण करता है। प्रतीक अर्थ में पशु एक चतुष्पद प्राणी का सूचक बनता है, पर्याय का भावार्थ रूप में जड़बुद्धि को पशुता समझते हैं और परमार्थ में पाशबद्धता को पशुता का लक्षण मानते हैं। 'पाश' प्रकृति का मोहक बंध है जो बाहर से आकर्षक लगता है है किन्तु तत्त्वतः हमारे स्व को उसी तरह संयत, आबद्ध, आवृत्त रखता है जिस तरह

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्"

सत्य का मुख सोने के पात्र रूप ढक्कन से ढँका हुआ है। जिस दिन हम पाश को जान जायेंगे। उसके विस्तार, शक्ति, सम्मोहन और बन्धनकर आकर्षण को परमरूप में जान जायेंगे, तब हम अनुभव करेंगे कि पशु शब्द इस विस्तार को, प्रकृति के प्रखर स्वरूप को सम्पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं करता। पर यही अनुभव हमें तंत्र शास्त्र का अन्य विवेचनासे सहमत करताहै। तंत्रज्ञ कहते हैं— यहसंसार वैखरी वृत्ति में निवास करता है और कण्ठ में आते आते शब्द, अर्थ की सूक्ष्मता एवं व्यापकता को संकुचित कर देता है। जो शब्द पश्यन्ती एवं मध्यमा क्षेत्र में विश्व के मौलिक स्वरूप का आख्याता रहता है वही कण्ठ निर्गत होकर प्रतीकबोधक रह जाता है। हमारी वृत्तियों के निर्मल होने पर

किंवा एकाग्र रहने पर हम वैखरी वृत्ति का विषय बने शब्द से अर्थ की विराट्ता में प्रवेश करते हैं, शनैः शनैः शब्द के आग्रह से मुक्त होकर अर्थ के परम का दर्शन करते हैं। यही हमारे उल्लास का क्षण होता है, यही हमारे शिवत्व का उन्मेष है और ऐसी अवस्था हमें मुक्ति का आभास कराती है।

शब्द के माध्यम से गम्य दिव्यत्व को तंत्र शास्त्र कुछ इस प्रकार समझाता है—संसार में शिव एक है। जो विश्व की उद्‌गति का कारण होकर भी अविनाशी है। व्यवहार में हम जिस शिव की अर्चा करते हैं वे कल्पान्त स्थायी हैं उन्हीं का पारमार्थिक रूप और है जो ज्ञानातीत अवस्था है, इसे हम परम शिव के नाम से जानते हैं। पर शब्द यहाँ अवाच्य अवस्था का सूचक है, जिस अवस्था में हमारे सारे भौतिक एवं अभौतिक आयाम, ज्ञान के उपकरण असमर्थ हो जाते हैं, वह 'पर' है। संभव है, 'पर' शब्द की वास्तविकता इनसे भी सूचित न हो सके ?

परम शिव की यह अवस्था कला, काल आदि तत्त्वों से अस्पृष्ट है। अपनी स्वतंत्र, निष्कल अवस्था में विद्यमान शिव स्थाणुरूप हैं। निष्कल शिव में स्वयंभू क्रिया का उन्मेष होता है। स्वयंभू का अर्थ यही होता है कि स्वयं परमशिव क्रियामय हुआ करते हैं अर्थात् यह क्रिया किसी अन्य द्वारा प्रेरित या प्रदत्त नहीं है, उनकी ही है। शक्ति के प्रकटीकरण से शिव शक्तिमय और शक्ति शिवमय हो जाती है। युगलभाव में दोनों का समान रूप में प्राधान्य होता है—अर्ध नारीश्वर के रूप में अथवा अग्निषोमात्मकता में हम इसी भिन्न अभेद को माना करते हैं। शक्ति से नाद और नाद से विन्दु का विकास होता है।

परा और पर के विन्दुमय होने की अवस्था तक शब्द और अर्थ परस्पर प्रगाढ़ रूप में नद्ध रहते हैं, तदनन्तर संभाव्य अवस्थाओं में उनका भेदमय रूप विस्तारित हाता चला जाता है। भेद शब्द का आशय यही है कि कहीं शक्ति का प्राधान्य परिलक्षित होता है, तो कहीं शिव का।

तंत्र शास्त्र के विवेचन में ये सूक्ष्म अवस्थायें स्थूलता की ओर अग्रसर होते समय बीज, विन्दु एवं नाद के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। विन्दु शिवांश है, बीज शक्त्यंश है, दोनों का युगल नाद है अर्थात् यह नाद भी शिव के नदनकारी स्वातंत्र्य का सूचक है। **'विश्वात्मा नदते स्वयम्'** के अनुसार नदन एक क्रिया है और क्रिया एक भिन्न सत्ता व अवस्था है जो क्रियामय का ही है किन्तु नाद में दोनों का सम्मिलित रूप प्रकट हो जाता है। विन्दु में, जो मूलतः शिवांश है शक्त्यंश के प्राबल्य से रौद्री, नाद में शिवांश के मन्द रहने से ज्येष्ठा और बीज में शिवांश के गूहित रहने के कारण वामा रूप प्रकट होते हैं। बिन्दु, बीज और नाद में शिवांश के प्राधान्य से रुद्र, ब्रह्म एवं विष्णु सत्ता में आते हैं।

इस त्रिपुटी से ही दृश्य विस्तार को रूपाकार मिलता है। तीन दो से गुणित होकर छः होते हैं। तीन के गण में गुणात्मकता प्रमुख है, उसे द्विगुणित करने से भौतिकता प्रखर हो जाती है। तंत्र अपने नैसर्गिक विस्तार के कारण अभौतिक से भौतिक की सीमा एवं प्रक्रिया को विवेचित करता है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि षट्कर्म तंत्र शास्त्र की सीमा में इसीलिए विवेचनीय रहे हैं कि इनका सीधा संबंध हमारे

क्रियापरक अन्तःकरण से रहता है। वहिःकरण से संबंध रखने वाले षट्कर्म दोषाश्रयी देह का विषय है, त्रिगुण या त्रिदोष एक ही चित्र के दो पार्श्व हैं। अर्थात् त्रिगुण का आधार अन्तःकरण है और त्रिदोष का आधार स्थूल देह। अन्तःकरण के विषयभूत सत्व, रज, तम दो से गुणित होकर मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तंभन, विद्वेषण, वशीकरण के रूप में षट्कर्म कहलाते हैं तो वहिःकरण के आधारभूत वात, पित्त, कफ दो से गुणित होकर वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन आदि षट्कर्मों के नाम से जाने जाते हैं।

प्रसंगवश यक्षिणी, इन्द्रजाल, वेताल जैसी मायावी साधना पर भी तंत्र ने विचार किया है जिसकी आवश्यकता युग परिवर्तन के साथ हो रहे वैचारिक ह्रास के कारण अधिक रही। तंत्र की उपयोगिता युग के अनुसार बढ़ती रही, युग के ही अनुसार मनुष्य की आयु, धारणाशक्ति, वैचारिक निर्मलता आदि गुणों में ह्रास-विकास का क्रम चलता रहा। तत्त्वद्रष्टा ऋषियों की दृष्टि से मानव के वाह्य व आभ्यन्तर में संभावित ह्रास ओझल नहीं हो सका इसलिए उन्होंने मनुष्य के साथ अपने ज्ञान का रूपान्तरण करने का प्रयोग किया।

माना वेद, श्वेत ऐरावत की तरह तपस्या प्राप्य इन्द्रपद का ही वाहन है इसलिए वह संभ्रान्त वर्ग का प्रतीक है, पतित व्यक्ति का वहाँ प्रवेश नहीं है, उसके प्रत्येक व्यवहार के साथ शर्त जुड़ी हुई है—यह दूसरी बात है कि युग-विशेष में वेद विहित आचार व्यवहार के कारण वे शर्तें कठोर नहीं लगती थीं और धर्म नियंत्रित समाज में कुत्सित एवं निम्नस्तरीय कामनाओं को अवकाश नहीं था, इसलिए सम्मोहन, उच्चाटन आदि कर्म वेद की विषय सूची में नहीं रहे। निर्विवाद रूप से यह माना जाता है कि संपन्नता के लक्षण एवं रूप कुछ और तरह के होते हैं तो विपन्नता का चिन्तन एवं परिवेश कुछ और होता है। इस भेद को हम किसी धनपति के सज्जित प्रासाद एवं सुविधासंपन्न जीवन में तथा किसी दरिद्र के अभावग्रस्त जीवन में देख सकते हैं। मानसिक किंवा वैचारिक स्तर पर भी यह दैन्य एवं संपन्नता अपनी शैली से प्रकाशित होती है। संपन्नता के साधन विपन्नता के परिवेश में अर्थहीन हो जाते हैं जैसे किसी सामन्त का हाथी दरिद्र के लिए समस्या हो जाता है। सम्पन्नता और दरिद्रता समवर्ती सत्ता हैं। इनके अनुपात में अन्तर होना ही युग का रूप अथवा समाज की व्यवस्था का निर्धारण करता है। कलियुग में वेदवाद ऐरावत हाथी हो गया है इसलिए मनुष्य की कामनाओं के निकृष्ट स्तर के अनुसार समाधान ढूँढ़ने का काम तंत्र का रहा। इसका आशय यह नहीं है कि तंत्र में साधना पद्धति की वेदवाद-सदृश उदात्तता नहीं है। तंत्र का अध्येता जानता है कि तंत्र की ज्ञानमार्गी शाखा में उपासना का उत्कृष्टतम रूप एवं स्तर है। वेद का अग्निषोम दर्शन वहाँ शिव शक्ति का प्रतीक है। यज्ञ दर्शन पर संभवतः तंत्र ने अधिक व्यापक दृष्टिकोण अपनाया है। तंत्र की दृष्टि में यज्ञ एक मानुषिक कर्म ही नहीं है, प्रकृति का सहज कर्म भी है। नर और नारी के संपर्क को भी यज्ञ भावना जैसी उदात्तता देना तंत्र का भौतिकता में अभौतिकता का दर्शन करना है। वेदाचार के विशृंखल होते रूप को मनुष्य की सहज, युगानुसारी आकांक्षा— आवश्यकता के अनुरूप ढालने में तंत्र ने बड़ी उदारता दिखलाई है।

• • •

सामाजिक क्रान्ति एवं समानता की उद्घोषणा करके तंत्र ने समाज के निम्न एवं उपेक्षित वर्ग (स्त्री एवं शूद्र) को भी धर्माचार की सीमा से बाँधने का सुकर्म किया था। एतदर्थ तंत्र ने वेदों को विकीर्ण अथवा अपने स्तर से च्युत न करके समानान्तर विधि व उपासना का आविष्कार करके समाज को धर्मबद्ध रखने का सत्प्रयास किया था अन्यथा स्थिति यह आ गई थी कि श्रुति-स्मृति समर्थित आचार की कठोरता और मनुष्य के वैचारिक अवमूल्यन में परस्पर टकराहट की स्थिति आ गई थी, निश्चय से ऐसी अवस्था में वेदाचार उपेक्षा का विषय बनते और समाज के सामने काई अन्य संहिता न होने से बिखराव होने की परिस्थिति वन जाती।

समाज को चमत्कृत करने के लिए तांत्रिकों ने यद्यपि सामाजिक प्रदर्शन के स्तर पर अपनी साधना का दुरुपयोग नहीं किया तदपि आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने तंत्र मार्ग के प्रसार के लिए हर संभव उपाय किये। परिणाम यह रहा कि केवल भारत में ही नहीं चीन, मंगोलिया, जावा आदि द्वीपों तक तंत्र का वर्चस्व स्थापित हो गया। बौद्धों और सिद्धों, जैनियों और नाथों से भी प्राचीन रही यह विधा। जिस समय बौद्धाचार अपने उत्कर्ष पर आया उससे पहले तंत्र अपने भास्वर रूप में दीप्त था इसलिए इन सभी संप्रदायों ने तंत्र की साधना पद्धति को तथा देवता स्वरूपों को उसी रूप में या रूपांतरण करके अपनाया, यह तथ्य इन संप्रदायों के इतिहास, कर्मकाण्ड आदि से जाना जा सकता है। इस वात के आज भी प्रमाण सुलभ हैं कि सहस्राब्दियों तक भारत में तंत्र दर्शन एवं उपासना का प्रभुत्व रहा। तांत्रिक वाङ्मय अत्यन्त विपुल है। भगवान् शिव तंत्र के उपदेष्टा रहे हैं इसलिए तंत्र की विश्वसनीयता में कोई सन्देह नहीं। वेद और प्रतिवेद जैसा इनका संवंध है। वामाचार को लेकर तंत्र पर मुक्त यौनाचार का पक्षधर होने का आक्षेप लगाया जाता है किन्तु वामाचार के पंच मकार का वास्तविक स्वरूप एवं उनके उपयोग करने की पात्रता का ज्ञान होने पर ऐसा आक्षेप नहीं लगाया जा सकता। इस लोकरुचि और मानव-प्रकृति से इन्कार भी नहीं किया जा सकता कि कालान्तर में लोगों ने मायाचारी वनकर इस पद्धति को शारीरिक वासना पूर्ति का माध्यम वना लिया। जैसे कोई व्यक्ति मन्दिर के नाम पर चन्दा करके शराव पीने लगे।

हम यह कह सकते हैं कि प्रेत साधना तंत्र नहीं है, वेताल साधना या षट्कर्मों की सिद्धि ही तंत्र नहीं है यह इतना विस्तृत है कि ऐन्द्रिय कामनाओं से प्रारंभ होकर इन्द्रियातीत परमावस्था तक की साधना है। इसके उत्कृष्ट स्तर को जाने विना तंत्र का परिचय अधूरा है।

तंत्र—एक सिद्धान्त और विधा

विश्व में प्रति पल नई संभावनाओं के द्वार खुलते जा रहे हैं, कल से आज वेहतर नजर आता है। जो लोग प्रौढ़ हो चुके हैं या जिनके कानों में मौत की दस्तक सुनाई देने लग गई है वे मायूस हो उठे हैं। कोई ऐसा उपाय हो जिससे वे एक शताब्दी न सही

पचास वर्ष और देख सकें, तो निश्चय से वह सब कुछ देख जायेंगे जो पुरानी पीढ़ियाँ नहीं देख सकी। धरती और चन्द्रलोक के बीच बनाई जाने वाली वस्तियाँ, ग्रहान्तरों में नगर निर्माण के मधुर स्वप्न और जाने क्या-क्या मोहक प्रयोग जो अभी टेबल पर, कागजों में, माडल्स में और वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में हैं कल उनके मूर्त हो जाने की आशा एक सम्पूर्ण वर्ग को अहर्निश अशान्त किये हुए है और वह वर्ग प्राणपण से जुटा हुआ है। धरती पर फैल रहा सन्दूषण और जनसंख्या का विस्तार उसे चुनौती दे रहा है। उसकी क्षमता चुनौती को स्वीकार कर रही है किन्तु जेम्सवाट से आज तक के आविष्कारों का फलित इस सारे विकास को एक ऐसा प्रयोग सिद्ध करती है जिसका परिणाम नहीं निकला। तो फिर, आज तक का यह वैज्ञानिक विकास क्या माना जाय? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है तो इसका उत्तर भी सहज ही मिल जाता है। एक व्यक्ति ने मकान बनाया उसमें उसने खिड़की नहीं लगाई, दम घुटने लगा तो उसने छोटी-सी खिड़की निकाली वह अपर्याप्त रही तब उसने बड़ी खिड़की निकाली, बड़ी बहुत बड़ी हो गई उसे फिर आकार का किया, क्रास-वैण्टिलेशन न होने से उसका पूरा उपयोग नहीं हो सका और इस तरह से उसके हर प्रयोग के परिणाम में तात्कालिक या कालान्तर में प्रकट होने वाला दोष दिखाई देने लगा और वह निर्दोष बनाने की प्रक्रिया में ही फंस गया। इसे देखकर यह लगता है कि प्रयोग की यह परम्परा कभी समाप्त नहीं होने की और एक निर्णय को दूसरी उपलब्धि से नकारने वाला विज्ञान स्वयं यह स्वीकार करता है कि नये तथ्य प्राप्त होने पर पुराने स्वीकारों में संशोधन करना बुद्धिमत्ता है और इस मान्यता से किसी को कोई मतभेद नहीं हो सकता।

एक समाज व्यवस्था ऐसी है जो मानव की आधारभूत आवश्यकता को प्रमुखता देती है इसलिए भोजन, वस्त्र और मकान उसके लिए अनिवार्य विषय हैं किन्तु इसके साथ ही सुरक्षा और स्वास्थ्य पर भी उसे सोचना पड़ता है क्योंकि वह जिस विश्व में रह रहा है उसमें स्वार्थ भी है, लोभ भी है, अहंकार भी है और रोग भी हैं। इसलिए उसकी मूलभूत आवश्यकतायें दूसरे क्षेत्र की भी हो जाती हैं और क्रिया एवं प्रतिक्रिया का क्रम चल पड़ता है। वह अपने गौरव और श्रेष्ठता को स्थापित रखने के लिए वह सब करने के लिए विवश हो जाता है जो धनाढ्य अतएव विलासी राष्ट्र का अर्थप्राण समाज कर रहा है। हम मानते हैं कि विज्ञान ने अपने सामर्थ्य और योग्यता के कारण ही बहुत सारी समस्याओं पर नियन्त्रण पाया है। इस समय हम उस तथ्य को गौण मान लेते हैं जिसके आधार पर वैज्ञानिक सिद्धि को त्रुटिपूर्ण माना जा सकता है या यह कहा जा सकता है कि विज्ञान ने जो कुछ दिया वह 'वह' नहीं था जिसकी हमें कामना थी।

एक बहुत बड़ा-बड़ा इसलिए कि अपने समर्थन में अधिकांश विज्ञानप्रेमी दुहराया करते हैं, तर्क यह दिया जाता है कि विज्ञान ने मनुष्य को स्वस्थ रखने में बहुत योग दिया है, उसने महामारी और चेचक जैसे रोगों पर नियन्त्रण प्राप्त करके मृत्यु-दर को नीचे उतार दिया है। इस तथ्य को हम स्वीकार करते हैं किन्तु विश्व में अस्वाभाविक रूप से मरने वालों की संख्या में कितनी कमी आई? इसका उत्तर शायद उतना अधिक आशाजनक नहीं है। दुर्घटनाओं से, समाज की दुराग्रहपूर्ण मान्यताओं से, औषधियों के

अपस्थानिक प्रयोग और प्रतिक्रियाओं से मरने वालों की संख्या में कोई आनुपातिक अन्तर नहीं आया और अभी इस अन्तर के कम होने की कोई आशा भी नहीं है क्योंकि यह सिक्के का दूसरा पहलू है। यह मानना, कि मरने वाले मरते ही हैं, युग केवल तरीके वदला करता है, मरने के कारण रूपान्तरित हो जाते हैं, गलत नहीं हो सकता।

प्रकृतिवदी अथवा भाग्यवादी लोग इस प्रक्रिया को भगवान् के भरोसे भी छोड़ सकते हैं किन्तु यह भी एक परिचित जीव विज्ञानी तथ्य है कि जब किसी भी रोग के कीटाणु अधिक प्रचार में आते हैं तो उनके प्रति कीटाणु विकसित होते हैं और यह प्रकृति का स्वयं सिद्ध नियम है। डी० डी० टी० का छिड़काव करके मलेरिया के मच्छरों का विनाश करके 'मच्छर न रहेगा मलेरिया न रहेगी' फिर संशोधित रूप में 'मच्छर रहेगा मलेरिया न रहेगी' का नारा लगाने वाला वैज्ञानिक आज इस कटुसत्य को स्वीकार करने के लिए विवश है कि मच्छर भी हैं और मलेरिया भी है। इस स्वीकार का वैज्ञानिक विश्लेषण वही है जो भारतीय या अन्य प्रकृतिवादी लोग करते हैं अर्थात् मच्छरों ने अपनी नस्ल में सुधार कर लिया है और आज वे डी० डी० टी० को भी पचा जाते हैं। इसके समानान्तर चिकित्सा विज्ञान का यह परीक्षण भी कि एण्टी-बायटिक्स जिनको दी जाती है उनकी शक्ति प्रत्येक प्रयोग के साथ बढ़ानी पड़ती है। अर्थात हमारे शरीर में उस मात्रा तक को पचा लेने की क्षमता स्वाभाविक रूप से विकसित होती जाती है। इस आधार पर हमारा यह मानना और इस तथ्य का ऐतिहासिक विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि कोई भी व्याधि लम्बे समय तक किसी भी प्रदेश को जकड़े नहीं रह सकती क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रकृति अपना काम स्वयं करने लगती है। जन्म और विनाश की दर प्रकृति ने नियत कर रखी है उसमें व्यतिक्रम नहीं हो सकता। व्यतिक्रम की तनिक-सी संभावना होती तो ये सागर मछलियों से भर जाते और धरती पर वही वनस्पति छाई रहती जो शीघ्र फैलती है पर ऐसा नहीं हो रहा क्योंकि हो भी नहीं सकता।

आज यह माना जाता है कि कृषि के लिए उर्वरक, जलस्रोत और कीटनाशक नहीं खोजे जाते तो आज तक अन्न की समस्या अत्यन्त विकट हो जाती। वात किसी हद तक विश्वास योग्य भी है, क्योंकि इस उक्ति को गणित का आधार देकर मनवाया जा सकता है पर विश्वास योग्य नहीं भी है, क्योंकि अन्न का उत्पादन विकसित वैज्ञानिक साधनों और उपकरणों के वावजूद भी प्रकृति का अधिकार क्षेत्र है। ये उर्वरक पशुओं के अनर्गल वध के कारण प्राणिज खाद में आने वाली कमा का विकल्प है अन्यथा धरती की वास्तविक उर्वरता उसी खाद से सन्तुलित रह सकती है। पारम्परिक ढंग से खेती करने वाले, खास कर भारत जैसे देश, उर्वरकों का प्रयोग करके देख चुके हैं और अमरीका जैसा देश गोवर—खाद देने के विषय पर गंभीरता से विचार कर रहा है। ये इस बात के प्रतीक हैं कि पशुओं का और मनुष्यों का तथा इन दोनों के आहार का एक तारतम्य है जिसका सन्तुलन प्रकृति करती है। मनुष्य ने उसमें व्यतिक्रम उत्पन्न करने की जोखिम उठाई है और उसे सही सिद्ध करने का प्रयास कर रहा है।

भारत में पशु, विशेषकर गाय, राष्ट्रीय सम्पदा का प्रतीक रहा है और इस मूक

प्राणी ने यावज्जीवन यन्त्र की तरह मानव की सेवा की है तो उसके लिए आहार जुटाने में भी प्रमुख योगदान दिया है। अब दयनीय स्थिति इसलिए आ गई है कि मानव ने इस निरीह प्राणी पर क्रूरता पूर्वक बिना सोचे समझे खड्ग चलाना शुरू कर दिया है। पर्याप्त प्रमाण के बिना किसी भी तथ्य को स्वीकार न करने वाला तार्किक व्यक्ति भले ही इसे न माने पर यह विश्वजनीन तथ्य है कि इतिहास अपने को दुहराता है। जन-संख्या का यह विस्तार विश्व में सबसे पहले घटने वाली घटना नहीं है, बल्कि पुनरा-वृत्ति है। भारत का पुराण प्रतिपादित इतिहास यह मानता है कि हर युग-परिवर्तन की पूर्व पीठिका इसी जनसंख्या की वृद्धि से बनती है। विगत युग का परिवर्तन भी ऐसे ही कारणों पर आधारित था। अकेले यादवों की (विभिन्न जातियों की एक इकाई) जनसंख्या छप्पन करोड़ थी। आश्चर्य तब होता है जब इतने उपाख्यानो में अन्न की समस्या पर एक भी वाक्य लिखा हुआ नहीं मिलता अन्यथा इतने उर्वर मस्तिष्क में ज्वलन्त समस्या और विकट अभाव का थोड़ा-सा भी पूर्वाभास न हो —यह अविश्वस-नीय लगता है। इसका एकमात्र कारण यह नजर आता है कि भारत की भाग्यवादी और भगवद् विश्वासा विचारधारा ने जन्म और पालन को अपने अधिकार की बात न मान कर किसी अलक्षित किन्तु सर्व-समर्थ सत्ता के अधिकार की बात माना। यह विचार-धारा आज भी विश्वास के साथ यही मानेगी कि युद्ध क्षेत्र में भगवान् कृष्ण के विराट-स्वरूप को देखकर भयभीत अर्जुन की तरह मनुष्य ने भविष्यत् को गणित के चौखटे में देखा है और काँप गया है। विवशता यह है कि उसके पास भगवान् जैसी परिकल्पना नहीं है, इसलिए अनाश्वस्त भाव से जो कुछ करना है वह स्वयं ही कर रहा है।

पश्चिम के एक दार्शनिक फ्रायड हैं, जो मानव (विस्तृत अर्थ में सारे प्राणी) के जीवन को काम-वासना से परिचालित मानते हैं। भारत इस तथ्य से परिचित रहा है और इसे फ्रायड से भी अधिक गहरे तक माना है। उसके स्वीकार का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा कि काम को यहाँ आत्मलाभ का साधन और मुक्ति का माध्यम माना गया है। एक लम्बा समय इस विधा को व्यवहार और चिन्तन का विषय मानता रहा है और उस युग के दर्शन की उपलब्धियां भी कुछ कम नही रहीं। जिस देश में काम-वासना को स्वीकार और अस्वीकार करने वाली एक पूरी परम्परा रही है। उस देश ने इस वृत्ति के दोनों पक्षों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया है—इस बात में कोई सन्देह नहीं होता।

काम के समानान्तर एक दूसरा मनोभाव और है जो जीवन को परिचालित करता है—वह है भय। यद्यपि भय के सम्बन्ध में उपनिषदो का एक वाक्य ही प्रतीक के रूप में ज्ञात है —मा भैः (डरो मत)। पर लगता है, समूचे इतिहास पर यह एक ही वाक्य छाया हुआ है। विश्व के इतिहास में दर्शन की अमूल्य पुस्तक, गीता—-भय के ही कारण रची गई, क्योंकि महाभारत युद्ध का वीर भयग्रस्त है, वह भी परिवार-नियोजन के लिए आतुर वैज्ञानिक की तरह बावलेपन की हद तक उतावला है और कृष्ण उसके भय का विस्तार से निस्तार करते हैं। तांत्रिक दर्शन की पाठ्य-पुस्तक—दुर्गा सप्तशती भी भय की ही देन है, अर्जुन भय के भविष्यत् से पीड़ित है तो सप्तशती का समाधि-

सुरथ भूत के भय से त्रस्त है। भारतीय दर्शन ने भय की जीवन्तता और परिचालक शक्ति को जाना-परखा है पर उसे जीवन का सर्वस्व नहीं माना इसलिए वह कर्मवाद पर टिका रहा, विगत से जुड़कर भी वर्तमान को पूजता रहा, भावी को सम्मान देकर भी विद्यमान से प्रेम करता रहा।

आज के समाज की यह जल्दबाजी भी भयातुरता की सूचक है। महानगरों का विस्तार और अस्त्रों का प्रतिक्षण वढ़ता अम्बार भय की ही प्रतीति है। आदमी स्वरक्षित रहने की अपेक्षा सुरक्षित होने की चेष्टा कर रहा है और यह रक्षा भी भय का ही एक स्वरूप है। जहाँ तक क्रिया शक्ति को उद्दीप्त करने की क्षमता का प्रश्न है। यह माना जा सकता है कि भय भी संसार में एक प्रकार का सन्तुलन बनाये रखता है और वह व्यक्ति को क्रिया शून्य नहीं होने देता, पर इसके अतिरेक की अवस्था व्यक्ति को प्रतिक्रियाशून्य, अतएव जड़ बना देती है तो उसकी तीव्रप्रतीति से व्यक्ति दिङ्मूढ़ बन जाता है। आज के प्रयास भयातिरेक की स्थिति नहीं है बल्कि भय को एक तेज एहसास के रूप में भोगने के सूचक हैं। और तो और जो धर्म व्यक्ति को मुक्त होने की प्रेरणा देता था तथा विधि समझाता था, वह भी आज भय के कारण प्राणशून्य अतएव विरूपित हो चुका है। महानगरों के मन्दिरों में आनेवाला धनपति अपने कुकृत्यों से नहीं उनके फल से भयाकुल है तो विदेशों से आ रहे हिप्पी अपने देश के यान्त्रिक विकास और सम्पत्ति की बहुलता से भयभीत हैं।

एक राष्ट्र का शीर्षस्थ वैज्ञानिक आक्रामक बनने के लिए अहर्निशि परीक्षणो में रत है और देशों के विकास तथा प्रगति का माप-दण्ड आक्रामक शक्ति बन चुकी है, तो स्वाभाविक है ऐसे परिप्रेक्ष्य में आविष्कारों का क्षेत्र सामरिक और संहारक शक्ति तक सीमित हो जाता है। व्यवहार में भी हम ऐसा ही देख रहे हैं कि उन्नतिशील राष्ट्रों के आविष्कारों का अधिकांश केवल भय को भुलाने के बहाने ढूंढ़ने की कोशिश है।

भय का अपना स्वरूप होता है और तदनुसार उसकी आवश्यकतायें होती हैं। आज हम समग्र रूप से उपनिषदो के "मा भैः" को मान लें तो निश्चय से हमारी आवश्यकताओ में बहुत बड़ी कटौती हो सकती है। व्यक्ति अशान्त क्यों हैं? क्योंकि उसकी आवश्यकतायें पूरी नहीं हो पातीं और ये आवश्यकतायें क्यो बढ़ रही हैं क्योंकि व्यक्ति भयभीत है।

भय का दायरा अथवा आधार मानवीय एवं प्राकृतिक दोनों तरह के हो सकते हैं। जहाँ तक प्राकृतिक आधार या कारण का प्रश्न है, वहाँ तक व्यक्ति एक सीमा तक अपना बचाव कर सकता है। वह समग्र रूप से प्रकृति की भयानकता पर नियन्त्रण करने की सोचे तो यह उसकी अल्पज्ञता है किन्तु यहाँ वह काल्पनिक भय, काल्पनिक आवश्यकतायें उत्पन्न कर रहा है और हर पूर्ण आवश्यकता दूसरी अपूर्ण आवश्यकता को जन्म देती जा रही है।

भय मनुष्य को क्रूर बनाता है। भयभीत मनुष्य अप्राकृत हो जाया करता है। यह अप्राकृत अथवा विकृत अवस्था ही आसुरी भाव कहलाती है। सृष्टि में कभी भी ऐसी स्थिति नहीं आ सकती जब केवल प्रकृति या देवत्व ही रहे अथवा अप्राकृत या

दानत्व ही रहे। वास्तविक रहस्य तो यह है कि दोनों का संघर्ष ही प्रकृति है और असन्तुलन ही सृष्टि। असन्तुलन व्यतिक्रम या अवरोध का पर्याय नहीं है बल्कि एक संघर्ष शृंखला का पर्याय है। जिस समय समाज में पवित्रता और नैतिकता का अनुपात बढ़ता है तो अप्राकृत किंवा आसुरी भाव में उद्वेलन होता है और जब विकृति किंवा आसुरी भाव की वृद्धि होती है तो उसमें प्रकृति अथवा देवत्व का बीज प्रस्फुटित होता है। भारत ने इस संघर्ष को वैचारिक स्तर पर अधिक अनुभव किया है और इसका वर्णन करने के लिए कई तरह की कथायें और उपाख्यान गढ़े हैं। आज का वैज्ञानिक भी काल्पनिक भय से अधिक पीड़ित है और वह क्रूर होकर धरती ही नहीं सारे वातावरण से जूझ रहा है। एक प्रकार से वह अपने अहंकार से इतना पराजित हो चुका है कि धरती को और वातावरण को वह संवेदनशील होकर देखना ही नहीं चाहता। भूगर्भ में या महासागर में अणुबम का विस्फोट करके वह प्रसन्न होता है और इस हर्षोल्लास में वह धरती की कराह और चीत्कार नहीं सुन पाता। शत्रु को दण्ड देने की अपेक्षा वह धरती माँ को दण्डित कर रहा है, उसे वन्ध्या हो जाने का शाप दे रहा है। द्वेष और उच्चता के दंभ में आकर वह किसी स्थान विशेष के जलवायु को ही दूषित किए दे रहा है।

द्रुत गति से किये जा रहे दोहन को देखकर ऐसा लगने लगा है कि मानव के भीतर अलक्षित रूप से कार्य कर रही प्रकृति अब अघा चुकी है और वह किसी भी क्षण इस सारी विकृति को निगल सकती है। भारत की संवेदनशील दृष्टि ने प्रत्येक कण को सचेतन मानकर पूजा है किन्तु व्यतिक्रम इस धरती पर भी आया है, दानवी विकृति का अनुपात यहाँ भी बढ़ा है पर वह बाह्यरूप में, स्थूल सृष्टि में नहीं; विचार और कल्पना में ही। वैचारिक स्थिति जब क्रिया के रूप में मूर्त होने लगी और भयातुर वर्ग जब अतिक्रान्ता बनने लगा तो प्रकृति ने अंगड़ाई ली और उसके अहंकार के आधार एवं प्रेरणा स्रोत को ही निगल बैठी।

वर्तमान युग का विकास भारत के इतिहास की और भारतीय विज्ञान की परम्परा से भिन्न है क्योंकि भारतीय जन प्रकृति को, धरती को और जलवायु को अपना पालक, संरक्षक और मित्र मानते रहे हैं उन्होंने इसके साथ अतिचार (रेप) नहीं किया। आज स्थिति भिन्न है क्योंकि तरीके भिन्न हैं, दृष्टि बदली हुई है इसलिए धरती पर इतने गरिष्ठ पदार्थ जुटाये और बनाये जा रहे हैं कि धरती की पाचन शक्ति ही जवाब दे जाय या वह उन्हें वमन कर दे। हमारे इतिहास में धरती के लिए और नारी के लिए महायुद्ध हुए हैं, पर धरती माँ और रमणीय नारी के साथ नहीं।

वैज्ञानिक सिद्धियों झुठलाया नहीं जा सकता और उनके महत्व तथा मूल्य को भी कम करके नहीं आँका जा सकता। इस समय यह कहना भी मूर्खता ही होगी कि आओ, हम सब अतीत में लौट जाएं किन्तु इसके साथ-साथ हम यह तो सोचें ही कि पुराने में क्या ऐसा कोई सार शेष है जो आज भी हमारे लिए उपयोगी है। विशेषकर उस स्थिति में जब कि वर्तमान को हमारा भविष्यत् का भय विकृत किये दे रहा हो।

मैं भारत की वकालत नहीं कर रहा और न उसकी श्रेष्ठता थोपने की चेष्टा

ही कर रहा हूँ क्योंकि भारत की धरती में ऐसा (अव) गुण है ही नहीं। वह समर्पित है, लदी हुई नहीं है। वह त्राण करने वाली है, शासित करने वाली नहीं। यहाँ भारतीयता से मेरा आशय उस समग्र चिन्तन और आस्था से है जिसने देशीय सीमा से ऊपर उठ कर मानव मात्र के लिए कल्याणकारी व्यवस्थायें और जीवन दर्शन प्रस्तुत किए। भारत का सर्ववाद ही इसकी विश्वजनीनता का प्रमाण है और विश्वजनीन वस्तु कभी भी मृत नहीं होती है। सामाजिक आवश्यकताओं को भारत ने भी समझा था और व्यक्तिगत प्रकृति को यहाँ भी सम्मान दिया गया था किन्तु व्यक्ति और समाज को व्यवस्था से ऊपर नहीं माना गया था। यहाँ का ज्ञान और विज्ञान समाज के सुख के लिए और व्यक्ति के कल्याण के लिए अवश्य था किन्तु उसकी आधार भित्ति आवश्यकता नहीं थी, इसलिए उसका उद्गम और विकास भी भौतिक स्तंभों पर नहीं हुआ। भौतिक किंवा स्थूल आधार कितने भी सुन्दर और सुदृढ़ क्यों न हों, वे एक शृंखला की कड़ी होते हैं और शृंखला असमाप्य वृत्त होता है। उसमें व्यक्ति मुक्ति के बहाने बंधता जाता है। आवश्यकतायें भी सुख साधना के नाम पर सहेजी और पूरी की जाती हैं किन्तु उनका क्रम दुःखसाधन और पराधीनता का प्रतीक बन जाता है। स्वतन्त्रता और सामाजिक सुरक्षा के निमित्त स्वतन्त्र भारत में जितने कानून बनाये गए हैं या बनाये जा रहे हैं उनसे नागरिक बंधता जा रहा है। ऐसा ही मोहक व्यतिक्रम विज्ञान के क्षेत्र में भी है और आज तक की करुण कथा ऐसा ही दुःखान्त सुखद भ्रम है।

अतीत में लौटा नहीं जा सकता पर वर्तमान का विश्लेषण करके उसे निर्दोष तो बनाया ही जा सकता है और इसके लिए उदार दृष्टि से भारतीय विद्या और उसके अतीत को परखा जा सकता है। सम्पूर्ण रूप से न सही आंशिक रूप में भी, यदि भारत की चेतनवादिता और अध्यात्मवाद की शक्ति को टटोला जाय तो सामान्य स्तर पर होने वाली अनेक विसंगतियों से बचा जा सकता है। इसका अध्यात्म विश्वासी ज्ञान आवश्यकताओं के अनर्गल विस्तार और भय के संक्रामक रोग को किसी सीमा तक नियन्त्रित कर सकता है।

वस्तुतः यह ज्ञान एक दिशा दृष्टि है जो व्यक्ति को बाहर से जोड़कर भी भीतर से बाँधती है और भीतर को पहचानने वाला व्यक्ति बाहर के विस्तार से विमुख हो जाता है। उसके लिए सुख का अर्थ बदल जाता है, आवश्यकता का आधार परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टि की आवश्यकता पश्चिम को ही नहीं स्वयं भारत को भी है और इन दोनों से अधिक उस देश या देशों को है जो शक्तिसंचय करते जा रहे हैं, अपनी आवश्यकताओं, अभावों और निषेधों को ही अन्धस्पर्धा से देखते चल रहे हैं।

तंत्र और विज्ञान

आज भौतिक विज्ञानी अपने विकसित यन्त्रों और तकनीकी ज्ञान के आधार पर भारतीय ऋषियों और ज्ञान को एक भ्रान्त कल्पना कह रहे हैं। उनका कहना किसी

सीमा तक सच माना जा सकता है किन्तु प्राचीन युग को, उसके वातावरण को, शैली को, सुलभ साधनों को और लक्ष्यों को पूरी तरह पहचाने बिना बिल्कुल आज के वातावरण में बैठकर उसको भ्रान्त या गलत कह देना किस दृष्टि से न्याय-संगत हो सकता है, यह विचारणीय है। जाने अतीत को गलत बताने से आदमी क्यों इतना प्रसन्न होता है ? क्या इसके बिना नये के आकर्षण में कोई खोट रह जाता है ?

उदारवादी विचारधारा से हम निष्पक्ष होकर समूचे परिप्रेक्ष्य पर दृष्टिपात करें तो यह मानना पड़ेगा कि पुराने लोग भी अपनी जगह सही थे। हम उनसे अधिक सही हैं क्योंकि पुराने लोगों ने हमें सही करने के लिए एक पहेली दी। क्या यही कम है कि उस युग ने हमें एक कल्पना दी, सपने दिये, महत्त्वाकांक्षा दी और अन्वेषण के विषय दिये।

कुछ लोग इतने कट्टर हो सकते हैं कि इस आज के विकास का श्रेय केवल मानव जाति के विशिष्ट व्यक्तियों के सिवा किसी को नहीं देना चाहें और विगत तीन सौ या एक सौ सालों में किये गये यान्त्रिक विकास पर गौरव का अनुभव करें किन्तु सारे विकास के लिए यदि हम यह कहकर प्रश्नचिह्न लगावें कि भौतिक उन्नति इन्हीं वर्षों में इतनी तेजी से क्यों हुई ? क्या इससे पहले समुन्नत कल्पनावाला और कठोर परिश्रमी व्यक्ति इस धरती पर नहीं रहता था ? विकासवाद का सिद्धान्त इसी दिशा में अग्रसर क्यों हुआ ? पुराने लोगों द्वारा स्थापित रहस्यपूर्ण आत्मदर्शन से विमुख होकर बाह्य-दर्शन में क्यों रमा ? संभव है इन प्रश्नों के उत्तर में अनेकों दलीलें देकर यह समझा दिया जाय कि यह जो कुछ हुआ है वह विकासवाद की प्राकृतिक क्रिया है किन्तु इस विकासवाद की मूल प्रेरणा और गति देने वाला तत्त्व कौन है ? तो शायद हम यह कह सकेंगे कि 'प्रकृति'। प्रकृति शब्द इतना विस्तृत है कि इसमें दृश्य-अदृश्य, ज्ञात-अज्ञात सभी कुछ समा जाता है किन्तु प्रकृति के अस्तित्व के प्रति आस्थावान् हम उतने नहीं हैं जितने होने चाहिएँ। प्रकृति में दर्प और समर्पण दोनों ही हैं पर व्यक्ति प्रकृति जब विश्व प्रकृति को चुनौती देने लगती है या उसे पराभूत करना चाहती है तो वह करवट बदलती है और सबको अपने जैसा कर डालती है याने जो कुछ भी अनेक रूपों में विभाजित था वह एक रूप में हो गया।

यह प्रकृति का रहस्य है। विनम्र और समर्पण भाव से जब व्यक्ति प्रकृति, समष्टि प्रकृति से एकाकार होने की साधना करती है तो लय होता है। लय के ही अनेक स्तर होते हैं, अनेक प्रकार होते हैं जिन्हें हम मुक्ति की विविध स्थितियों और मुद्राओं के रूप में जानते हैं। यह प्रकृति का दार्शनिक पक्ष है—इस पर चर्चा हम बाद में करेंगे। सम्प्रति हम भौतिक विकास को वैज्ञानिक और भारतीय दृष्टि से देखें तो (सर्मपित भाव से) यह मूल्यांकन या निष्कर्ष निकालेंगे कि यही विधा हो सकती थी। मानव प्रकृति सूक्ष्म-वादी दृष्टिकोण से हटकर स्थूलवादी ही हो सकती थी। भीतर के आलोक को पाने में कठिनाई महसूस करने वाला वर्ग बाहर के सहज-सरल को बड़ी आतुरता से ग्रहण करता है।

भारत के विगत में वेद, उपनिषद्, आरण्यक, वेदान्त आदि विषयों का सूक्ष्म किन्तु विशद विवेचन इस बात का साक्ष्य है कि हमारी पीढ़ियाँ सहस्राब्दियों तक आत्म-

मन्थन करके चेतन तत्त्व को पाने-पहचानने में लीन रही। भौतिक प्रकृति एवं दृष्टि में भी उन्होंने आविष्कार किये किन्तु वे आविष्कार भी सामान्य नहीं हो सके इसलिए आज वे अविश्वसनीय हैं अथवा उनकी तकनीक के मूल में भी आत्मवाद रहा इसलिए वे व्यक्तिशः प्राप्त करने की वस्तु बने रहे।

आत्मज्ञानी पीढ़ी के लिए आज का युग अविश्वसनीय रहा हो या न रहा हो—यह दूसरी बात है पर शक्ति को इतने स्थूल स्तर पर सिद्ध करने की बात वे उपेक्षायोग्य समझते थे।

हमारे पूर्वज भौतिक विज्ञान से परिचित थे या नहीं—इस विषय पर कोई निर्णायक मत प्रकट करने से पहले हम इतना जरूर मान व समझ लें कि उस युग के मनीषी किस तरह सोचते थे? उन्होंने विभिन्न वस्तुओं और स्थितियों को किस तरह देखा था, उनका मन्तव्य क्या था और उनके लक्ष्य कितने विस्तृत या सीमित थे—ये आधार भी किसी निष्कर्ष की वास्तविकता के लिए आवश्यक हैं।

यह स्वीकार करने में हमें कोई संकोच नहीं है कि शक्ति को प्राप्त करने या उपयोग में लाने के लिए आज जो कुछ भी किया जा रहा है, वह अतीत में नहीं था पर इसका आशय यह कथमपि नहीं होता कि वे शक्ति का उपयोग करना नहीं जानते थे या उन्हें आवश्यक मात्रा में शक्ति सुलभ नहीं थी। हो सकता है—शक्ति के सम्बन्ध में वे व्यक्ति की शक्ति पर अधिक आश्वस्त एवं विश्वास करने वाले रहे हों और भौतिक शक्ति को बड़े कंजूस की तरह सुरक्षित रखते आये हों—अगर वे भी हमारी तरह अतिव्ययी होते, ऊर्जा की खपत से अपने बड़प्पन को मापने लगते तो आज हमारे लिए इतनी निधि सुरक्षित नहीं रहती। अस्तु।

वास्तव में ऋषियों की भौतिक आकांक्षा कुछ थी भी—इस बात पर आज सन्देह होता है। उन्होंने अपने भ्रान्त या अलौकिक ज्ञान के आधार पर जो कुछ भी कहा वह बहुत महत्त्वपूर्ण और यथार्थ रहा है—आज तक भी। वे लोग सौर ऊर्जा को और सूर्य के अस्तित्व को कितना महत्त्व देते थे—इस बात का प्रमाण हमें उन ऋचाओं और स्तुतियों से मिलता है जो सूर्य के सम्बन्ध में लिखी या गाई गई हैं। वाङ्मय का सबसे महिमाशाली और उदात्त सम्बोधन सूर्य को दिया गया है—'कवि'। कवि शब्द में कितनी अलौकिकता और शक्ति है इसका आभास हमें सूर्य की ऊर्जा के प्रसार और उपयोग के क्षेत्र का ज्ञान करने पर ही मिल सकता है और उस समय हम यह मान लेने को विवश हो जाते हैं कि ऋषि ने जो देखा वह ईमानदारी से कह दिया। पृथ्वी के जीवन को परिचालित, प्रेरित एवं पोषित करने वाला सूर्य अगर चेतनवादी भाषा में भगवान् माना जाता है तो आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं।

कुछ लोग यह कहते हैं कि सूर्य के रथ में सात घोड़े जुते रहने की बात प्रकाश किरणों में विद्यमान सात रंगों का गूढ़ संकेत नहीं करती। इस तरह का निषेध वे ही लोग करते हैं जो भारतीय शैली और दर्शन से परिचित नहीं हैं अन्यथा राजनीति की शिक्षा देने के लिए जंगली जानवरों की कहानियाँ सुनाकर जड़मति को भी पण्डित बना देना किसी देश की विकसित अभिव्यक्ति और सजीव शैली का प्रतीक ही माना जाना

चाहिए। हम सन्देहशील निषेधवादी वर्ग से पूछते हैं कि आखिर ऐसे विषम संख्या वाले और वे भी सात ही वाहन केवल सूर्य के रथ में क्यों जोड़े गये ? जबकि अनेकों देवता उस समय स्तुति एवं आराधना के विषय वन चुके थे ?

भारतीय शैली की विशेषता यह रही है कि वह एकान्तिक नहीं रही। दर्शन जैसे गूढ़ और ज्योतिष जैसे शुष्क विषय भी यहाँ रूपकों की मनोरम शैली में कथा-उपाख्यान के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। अपना सन्देश देना और वह अधिकाधिक प्रचलित हो इसलिए सरस कल्पना और आकर्षक शैली में कहना—यहाँ की परम्परा रही है। जो व्यक्ति जिस स्तर का है वह उतना ही उसका तत्त्वार्थ समझ सकता है। किसी भी विषय को इतना जटिल वना देना कि जनसामान्य उसे जानने की लालसा ही न रखे—यह वात भारतीय रचनाकार को अभीष्ट नहीं थी। और तो और चन्द्रमा का गुरु पत्नी के साथ गमन करना, सूर्य का संध्या के साथ विवाह और तत्स्थानिक छाया के साथ समागम करने से शनि की उत्पत्ति तथा राहु-केतु की कथा जैसे रूपकों पर से सुन्दर कहानियों का कुहरा छाँट दिया जाय तो ये भौतिक और ज्योतिषीय दृष्टि से हमारे प्राचीन कालिक अन्वेषण एवं प्रगति का अभिलेख सिद्ध होंगे।

आज ऊर्जा का उपयोग अधिक हो रहा है इसलिए ऊर्जा स्रोतों की और प्राप्त ऊर्जा का उपयोग करने के लिए तदनुरूप यन्त्रों की खोज की जा रही है, सशरीर अन्य लोकों की यात्रा करने की वलवती इच्छा इतनी क्रूर और वीभत्स हो चुकी है कि हम मानव को वर्तमान में सुखी करने की अपेक्षा भविष्य की संभावनाओं में खो गये हैं। अपने ही विगत को पिछड़ा हुआ मानकर इन्द्रधनुषी भावी की कल्पना में लीन हैं। लोकान्तर में जाने की उत्सुकता और अज्ञात का रहस्य उघाड़कर देखने की जिज्ञासा मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है इसका दमन नहीं किया जा सकता और करना भी नहीं चाहिए पर इससे क्या मिलेगा। वाह्य की या शक्ति के स्थूल रूप की उपासना करके हम क्या कर लेंगे—इस सम्वन्ध में कोई भी अनुमान या संकेत नहीं किया जा सकता।

आज तक के मूलभूत सिद्धान्तों—जो प्रामाणिक हैं तथा जिनमें मौलिक संशोधन की कल्पना निकट भविष्य में नहीं की जा सकती—के अनुसार पृथ्वी पर शक्ति साधना का माध्यम परमाणु से अधिक वलशाली दूसरा नहीं है। इसका संलयन और विखण्डन (फ्यूजन और फिशन) दोनों ही अमित शक्ति प्रकट करते हैं तो गति की अधिकतम सीमा प्रकाश किरणों की गति का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यह मानव के लिए अभूतपूर्व वास्तविकता है और गति की यह चरम सीमा प्राप्त कर ली जाय तो अकल्पनीय सफलता। एक क्षण को हम सोच लें कि हमारे पास प्रकाश गति से चलने वाले उपकरण हैं तो भी हम उनसे क्या अद्भुत कार्य कर लेंगे ? दूसरी आकाश गंगाओं की तो वात ही दूर है हमारी आकाश गंगा के इस छोर से उस छोर तक की यात्रा करने में ही लाखों प्रकाश वर्ष चाहिएँ। इतने वर्षों तक जीवन को श्वासों की डोर से वाँधे रखना क्या विज्ञान के लिए संभव है ? आज तो वैज्ञानिक ऐसी वात सोचने की स्थिति में भी नहीं है और यह असंभव ही है फिर इतनी तीव्र गति से क्या मिलेगा ?

अनन्त असीम ब्रह्माण्ड में प्रकाशगति भी कोई अर्थ नहीं रखती फिर इस समग्र

विस्तार को न हम आँखों से देख पायेंगे न इसमें कार्यरत ऊर्जा का उपभोग ही कर पायेंगे। ऊर्जा संकट पृथ्वी पर भी पृथ्वी निवासियों के लिए ही हो सकता है, ब्रह्माण्ड में ऊर्जा की कमी का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: इस अकल्पित विस्तार को देख पाने के लिए हमें हमारी दृष्टि का विस्तार करना पड़ेगा, ज्ञान की परिसीमा की वृद्धि करनी पड़ेगी और ब्रह्माण्ड की भयंकर ऊर्जा की खपत करने के लिए कोई योजना तैयार करनी पड़ेगी। तब कहीं जाकर हमारे ये प्रयास सार्थक होंगे।

ये स्थितियाँ भौतिक विज्ञान की दृष्टि में अनिवार्य परिणतियाँ हैं जिनका कोई समाधान नहीं। विज्ञान की निष्ठा में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता किन्तु उसके अन्ध प्रयत्नों में छुपे अनास्था और अहंकार को आसानी से पहचाना जा सकता है और ऐसे प्रयत्नों से प्रकृति को पाया भी नहीं जाता, पराजित और नियन्त्रित करना दूर की वात है।

इन्हीं परिस्थितियों को समर्पण भाव के आस्थावादी आयाम से देखें तो हमें निराश नहीं होना पड़ता क्योंकि उसमें गति की, वर्तमान में परिकल्पित सीमा से भी तीव्र जाने वाला सत्ता है और समग्र ब्रह्माण्ड को देखने योग्य दृष्टि शक्ति का आधार भी है।

गति की अकल्पित सीमा का भी अतिक्रमण करने वाला हमारा मन है जो आइन्स्टीन के इस सिद्धान्त के अनुसार—प्रकाश गति से तीव्र गति हमें भूत काल में ले जायगी—हमारा मन भूत और भविष्य में अबाध गति से चलता रहता है। यह भिन्न वात है कि उसे ऐसी शक्ति से समन्वित करने या उसमें ही इस तरह की शक्ति को प्रदीप्त करने के लिए हम कैसा और कितना प्रयत्न कर पाते हैं। मन जव तक उपेक्षित है तब तक प्रकाश गति हमारे लिए अन्तिम है तथा स्थूल साधनों की दासता से हम जिस समय तक जकड़े रहेंगे उस समय तक गति का यह माप अलंघ्य रहेगा पर चेतनवादी विधा में यह विशेप वात नहीं रहती।

इस विस्तार को देखने के लिए भी हमारे पास आयाम हैं किन्तु दुविधा यह कि वे मशीन की आँखें या हमारे कोटर में स्थित कनीनिका नहीं वल्कि दोनों के विभेद को पाटने की संवेदना शक्ति। भेद को नष्ट करने के दोनों ही प्रकारों को हम जानते हैं याने मिलाये विना, एकरूपता के अभाव में भेद नष्ट नहीं होता और यह दो स्थितियों में ही संभव होता है—या तो हम 'उसमें' रम जायें या 'उसे' हमारे में रम जाने दें अर्थात् हमारी अनुभूति इतनी व्यापक हो जाय कि दोनों में विद्यमान समता को पहचान ले। विश्वरूपा प्रकृति को हम हमारे में पहचान सकें या प्रकृति के विराट् रूप में अपने को जान लें। यह वात न असंगत है, न अव्यावहारिक। स्थूल रूप में भौतिक विज्ञान भी यह जान गया है कि सूर्य या इतर पिण्डों में कोई भी ऐसा तत्त्व नहीं है जो धरती पर नहीं हो याने सूर्य पर वे सारे तत्त्व अणु-परमाणु रूप में विद्यमान हैं जो यहाँ तीसरी अवस्था में प्राप्त हैं।

भारत के ऋषियों ने '**यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**' (जो इस देह में है वही ब्रह्माण्ड में है) कहकर अणु प्रकृति और गुणात्मक प्रकृति का निगूढ़ संकेत कर दिया था यह दृष्टि ही प्रकृति के असीम विस्तार को परमाणु रूप करके व्यक्ति के देह में दर्शाती है।

रहा प्रश्न व्यक्ति के जीवन व आयु का, सो उसे इच्छावर्ती करने का मार्ग भी यहाँ खोजा जा चुका है जिसे योग (प्राणवायु के माध्यम से चित्तवृत्ति का निरोध) के नाम से अभ्यास का विषय बनाया जाता रहा है। योग से जीवन की अवधि को बढ़ाया जाना आनुषंगिक फल है अन्यथा यह दृष्टि और चेतना का विस्तार करना ही है जिससे समग्र बाह्य व्यक्ति के अन्दर ही उद्भासित हो जाय। भारतीय दृष्टि से आकाश में छितराये हुए ये पिंड निर्जीव भी हैं और अनुपयोगी भी। इनमें परमशान्ति और अलौकिकता का आभास कराने वाले सात लोक हैं जिन्हें सप्त व्याहृति के रूप में स्मरण किया जाता है तथा जिनका प्रतीकात्मक व्यवहार स्तूपों में किया जाता है।

मन की आँख से दिग् दिगन्त को देखा और समझा जा सकता है। कल्पना मन की रेंज है और ज्ञान उसकी दृष्टि। मन की शक्ति पर ही इन्द्रियों की रेंज निर्भर करती है—हालांकि हमारी इन्द्रियों की संरचना भी इनकी सामर्थ्य सीमा में एक आधार है पर इनका विकास होने पर इनमें वाह्य रूप से कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल मानसिक संवेदनशीलता में गुणात्मक वृद्धि होती है। भारतीय वाङ्मय में ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिनमें यह संकेत किया गया है कि मन की शक्ति का विकास मूल विन्दु है।

हम अनुभव से जान चुके हैं कि स्थूल प्रकृति में किया गया विकास जटिलता उत्पन्न करता है। भले ही, उससे शक्ति को ज्ञान के सारे आयामों से युक्त करके नितान्त प्रत्यक्ष और अत्यन्त प्रखर रूप में प्रकट कर लिया जाए। हमारा सामयिक विकास इस समय जटिलता से त्रस्त है। हमने नहीं चाहा था कि हमारा वातावरण इतने तीव्र और गहन रूप में दूषित हो जाय, हम शक्ति का दोहन निरापद रूप से करना चाहते थे किन्तु हमारी विधि का परिणाम हम पहले नहीं जान सके थे फलस्वरूप यन्त्रों को परिष्कृत करना पड़ रहा है, करना पड़ेगा। अणु से ऊर्जा प्राप्त करने या अणु के विविध उपयोग ढूंढ़ लेने के वाद उस प्रक्रिया में भी परिणामगत विकार हमारे सामने आ सकते हैं और उनका निराकरण करना हमारे लिए अनिवार्य हो सकता है क्योंकि जितनी तीव्र शक्ति के साधन होंगे उनके दुष्परिणाम भी उतने ही प्रभावशाली रहेंगे।

यन्त्रों या तकनीक के विकास में आजकल आगे बढ़ने के लिए जितना किया जा रहा है उतना ही आविष्कृत यन्त्रों को निर्दोष बनाने की दिशा में भी। अतीत में हम शक्ति के स्वरूप से परिचित अवश्य रहे थे किन्तु सूक्ष्मवाद हमें अधिक प्रिय था इसलिए स्थूल के प्रति हम अधिक आकृष्ट नहीं रहे परिणाम स्वरूप न हम यांत्रिक उपकरण जुटा सके, न किसी ऐसी विधि पर आ सके जिससे सुख-सुविधा के साधनों का साधारणीकरण हो जाय। हम शक्ति को अपने देह में ही खोजते—प्राप्त करते रहे, मन को ही सर्वाधिक शक्ति का माध्यम मानते रहे—इसलिए आज पिछड़े हुए मान लिए गए।

जहाँ तक वेदों का प्रश्न है वे स्थूल का केवल संकेत करते हैं अन्यथा, शक्ति की परम स्थिति का चित्रण करते हैं। वेदों की ऋचाओं का प्रतीक वोध स्थूल जगत् की सीमा में भी आता तो है किन्तु उसका तत्त्वार्थ रहस्य लोक की वस्तु है और हम इस स्थिति को ऐसे समझ सकते हैं जैसे सोने के दृश्य रूप और आकार को देखना एवं उसके विशिष्ट परमाणुओं की अद्भुत शक्ति को समझना, ठीक इसी तरह वेद भी अर्थ का

प्रतीकात्मक बोध कराते अवश्य हैं पर 'वेद' ज्ञेय नहीं ज्ञान है। एक स्थिति वह आती है जिसमें 'वेद' हमारे ज्ञान एवं चेतना में स्वत: प्रकट होता है इसीलिए हम लोग बड़े विश्वास के साथ कहा करते हैं कि वेद का तात्त्विक अर्थ समाधि में ही प्रस्फुटित होता है। वेद को अनादि एवं ईश्वरीय मानने के पीछे भी यहा आधार रहा है।

हिन्दुओं के अति प्रचलित चित्र में क्षीर सागर में सहस्रफणा शेषनाग की शैय्या पर विष्णु लेटे हुए और उनकी नाभि से निर्गत कमल पुष्प पर चतुर्मुख ब्रह्मा स्थित हैं, ब्रह्मा के हाथ में वेद हैं। यह चित्र भारतीय शैली का प्रतीक अवश्य है और सूक्ष्म स्थिति का प्रतीकबोध भी कराता है किन्तु इसका वास्तविक अर्थ अनुभूति की उच्चतम स्थिति में ही समझ में आता है। ऐसे प्रतीकात्मक चित्र की सामान्य बोधगम्य व्याख्या हम इस तरह कर सकते हैं कि वेद का आविर्भाव करने के लिए हमारे स्नायुमण्डल की चेतना शक्ति को अन्तर्मुखी एवं नियंत्रित करके (स्मरण रहे स्नायुमण्डल को सर्प के प्रतीक बोध से समझाने के पीछे यही आशय रहा है कि ये रास्ता भटक जाने या बहिर्मुख रहने पर विष का प्रभाव छोड़ती हैं और नियन्त्रित होने पर मणि की स्निग्धता प्रदान करती हैं शक्ति सम्पन्न तो हैं ही) एकस्थ करना पड़ता है। इस प्रतीक चित्र का प्रत्येक विन्दु सार्थक है, इनमें एक भी स्थिति न रहे तो ज्ञान की उच्च भूमि प्राप्त नहीं हो।

ब्रह्माण्ड का नाभिक खोजने की चिन्ता भौतिक विज्ञान को हो सकती है, चेतन ज्ञान उसे खोज चुका है। उसे इसकी न चिन्ता है, न आवश्यकता। हम इस समय तक माया के स्थूलतम स्तरों—तत्त्व स्तर एवं शक्ति स्तर—पर ही विचरण कर रहे हैं इससे आगे प्रकृति का गुणात्मक स्तर आता है जहाँ शक्ति ही गुणात्मक रूप में परिवर्तित हो जाती है किन्तु यह संसार, गुणात्मक स्तर, शक्ति को शक्ति रूप में नहीं देखता अत्यन्त सूक्ष्म और भावनात्मक रूप में देखता है। इसे पाने के लिए हमें सूक्ष्म लोक का विश्वास करना ही पड़ेगा और उस विश्वास को चरितार्थ करने के लिए जीवन के क्रिया कलापों को, हमारे शरीर में प्रकाशित चेतनतत्त्व को परखना-पहचानना पड़ेगा। भौतिक विज्ञान जीवन और मृत्यु के सामने असहाय-निरुपाय बनकर जिस तरह निरुत्तर बना रहता है उस तरह की मुद्रा यहाँ काम नहीं दे सकेगी, जीवन और मृत्यु के प्रश्न से जूझना पड़ेगा ही।

असल में शक्ति एवं तत्त्व स्तर पर माया चेतन के परोक्ष सम्पर्क की सूचना देती है जबकि गुणात्मक रूप में परोक्ष सम्बन्ध अधिकाधिक कम होकर प्रत्यक्ष की ओर उन्मुख हुआ रहता है। भौतिक आग्रह ऊर्जा एवं शक्ति का दोहन ही कर सकता है उसे, उसके विस्तार को समग्र रूप में न देख पा सकता है न उपयोग कर सकता है। केवल मोहमुग्ध की तरह वृत्तबद्ध भटक सकता है।

प्रकृति का रहस्य जानने पर ही विस्तार को जाना जा सकता है और यह ज्ञान कम से कम गुणात्मक स्तर से प्रारम्भ होता है। शक्ति स्तर के विविध स्वरूप वहाँ पर-माणु रूप में विद्यमान रहते हैं।

आत्म जिज्ञासा

आत्मा—याने स्वयं—को जानने की इच्छा भारत में सबसे अधिक रही है। हरेक पीढ़ी ने अपनी ओर से इस रहस्य का समाधान किया है और अगली पीढ़ी ने उसमें संशोधन किया है। संशोधनवाद या नेति आत्मज्ञान की यात्रा के शिविर हैं। जिज्ञासा आज भी है, प्रश्नों के पहियों पर ज्ञान की यह यात्रा अब भी चालू है और चालू रहेगी। समस्या या विषमता यह भी रही है कि अपने को पहचान पाने की विधि और सिद्धि हर व्यक्ति को पूरी करनी पड़ती है व्यावसायिक स्तर पर इसका उत्पादन नहीं हो सकता, यह नितान्त वैयक्तिक सिद्धि होकर भी परम्परागत नहीं हो सकती दूसरी बात यह भी है कि यह ज्ञान का ऐसा स्तर है जहाँ एक विराट् और अव्याहत शून्य है और विडम्बना यह कि यही पूर्णता है।

वेद जहाँ आदेशात्मक पद्धति में लिखे गए हैं, उनके वर्णनात्मक स्थल भी जहाँ व्यक्ति प्रकृति को लोक प्रकृति और विश्व प्रकृति से परस्पर अभिमुख करते हैं, उनका सन्देश अपनी सार्वभौमिकता और आदेश देने की शक्ति का तिरस्कार या गोपन नहीं कर पाता। उपनिषदों में यह विधा बदल जाती है। व्यक्ति के सारभूत तत्त्व को (आत्मा को) जानने की आकांक्षा उपनिषदों का प्रेरणास्रोत अवश्य है किन्तु वहाँ प्रश्न व्यक्ति को नामांकित करते हैं और तर्क परिप्रेक्ष्य का सीमांकन करते हैं वहाँ जिज्ञासा सपाट मैदान में से गुजरती है हरेक प्रश्न उसको सही दिशा और उचित गति देता है।

भारतीय दर्शन में उपनिषदों को बड़ा सम्मान दिया गया है। प्रखर बुद्धि के प्रश्न स्रोत उसमें जाकर समाहित हो जाते हैं। व्यक्ति उनके परिकर में जाकर यह अनुभव करने लगता है कि आत्मा एक अज्ञेय(ज्ञानातीत)तत्व है और उसे इन चिह्नों से पहचाना जा सकता है जानना तो ज्ञान की निःशेष स्थिति में ही होगा। हर प्रश्न अज्ञेय तत्त्व को अनावृत्त करता है और हर उद्घाटित पक्ष किसी संवृत स्थिति को इंगित कर देता है।

पौराणिक काल भी इन प्रश्नों का उत्तर ही खोजता है पर वह जिज्ञासा से अधिक समाधान पर केन्द्रित है। लगता है विगत के सारे प्रश्न पुराणों की आख्यान परम्परा को जन्म देते हैं। वेदों के आदेश को स्वीकार करके उपनिषदों की प्रश्नाकुल अरण्यानी को पार करती हुई जिज्ञासा पुराणों में शाद्वल का या किसी मनोहर सरोवर का रूप ग्रहण कर लेती है। पुराण काल के विचारक यहाँ प्रश्नों को नहीं भूलते, न अपने गन्तव्य की ही उपेक्षा करते हैं पर वे अब शब्दों की शक्ति को मानवीय और जीवनीय क्रम एवं रूप देते हैं। भले ही पुराणकाल में चिन्तन का क्षेत्र और निष्कर्ष सीमित या विस्तृत रहा हो पर इतना निश्चय से रहा है कि उपनिषदों में शब्द विरल रहे हैं और उनका परिप्रेक्ष्य विशद-विस्तृत रहा है जबकि पुराणों में वाचाल शब्दों की अधिकता रही है इससे एक सुविधा अवश्य मिली कि प्रश्नों और जिज्ञासा को समझने-सुलझने के लिए अधिक न

सही, सुगम क्षेत्र अवश्य मिला।

वेदों का कवि शब्द पुराण काल में अपनी समग्र शालीनता और महिमा के साथ प्रकट हुआ। आज जिन उपाख्यानों और आख्यानों को कल्पना का चमत्कार माना जाता है वे यथार्थवादी आयाम से निकाले गए निष्कर्ष हैं। इनका मर्म वस्तुतः रहस्य के अन्ध-लोकों के उद्‌घाटन करने में प्रकट होता है। ज्ञान को श्रद्धा से एक रूप कर देने पर ही इन आख्यानों के वोधव्य को पाया और समझा जा सकता है। इन कथाओं के बुद्धिगम्य प्रतीकों का भौतिक पर्यावरण से मिलता-जुलता अर्थ ज्ञात करना ठीक ऐसे ही है जैसे किसी व्यक्ति के वस्त्र, कुल आकार आदि का ज्ञान करना जवकि ये आयाम उसके आंत-रिक व्यक्तित्व का न परिचय दे पाते हैं, न उससे (बाह्य व्यक्तित्व से) आन्तरिक व्यक्तित्व का कोई अनिवार्य सम्वन्ध ही प्रकट कर पाते हैं।

गम्भीर किन्तु शुष्क चिन्तन से श्रान्त लोगों ने अपने परिणामों का विवेचन करके सरस एवं आख्यान परक शैली में पुराणों का ग्रंथन किया जिसमें जिज्ञासा और कुतूहल दोनों समन्वितरूप में रहे। विख्यात समुद्र-मन्थन जैसे आख्यानों और गङ्गावतरण जैसे प्रसंगों की ही वात नहीं, कृष्ण और राम के अवतार-चरित्रों का वर्णन पढ़कर हमें ऐसा लगता है कि इन शब्दों का कोई दूसरा अर्थ और है, इन कथाओं के पीछे कोई एक कथा और है, और अधिक विचार करने पर तो यह स्पष्ट आभास होता है कि यह हमारी स्वयं की जीवनी है। यह सारा इतिहास हमारे में घटित हो रहा है। ऐसे विन्दु पर आकर हम आश्चर्य विमूढ़ हो जाते हैं लगता है इस क्रिया की शृंखला का वर्णन करना ही आख्यान है। उस समय व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत नायक कही लुप्त हो जाते हैं क्योंकि सारा सन्दर्भ हमारी अनुभूति की सीमा में आ जाता है, हम इस निश्चय पर आ जाते हैं कि इस तरह की कथा के विना अन्तः प्रकृति के विलास को कहा नहीं जा सकता था।

नदी की धारा का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ तक वह जलकणों का समूह है किन्तु जिस क्षण हम उसे समूचे तरलत्व या जलतत्व का प्रतीक मान लेते हैं वहाँ उसकी तरंगों में नृत्य की मुद्राओं का आभास होने लगता है और हम उसके जलदान से कृतज्ञ हो जाते हैं या उसकी बाढ़ से त्रस्त-पीड़ित, दूसरे शब्दों में वह नदी हमारे लिए सजीव हो उठती है, हम उसका मानवीकरण किए विना नहीं रह सकते क्योंकि विज्ञान के यथार्थ में आक्सीजन और हाइड्रोजन के निर्जीव कणों को न नाचना आता है, न उनके प्रति आभार प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता ही रहती है। भारत में हरेक नदी का मानवीकरण किया हुआ है, वह मनुष्य, जैसी सजीव पहले है, जलमय वाद में। कारण यही है कि हमने उसे ज्ञान चक्षु से पहले अनुभव किया और उसके फलित को समझा, चर्मचक्षुओं से तो वैसे ही देखा, जाना और कहा जैसा आज कहते हैं या उसका विश्लेषणात्मक रूप आज का विज्ञान हमें वतलाता है—एक ही वस्तु के अनेक रूप, एक दूसरे से जुड़े हुए किन्तु आश्चर्यजनक रूप से भिन्न।

हम अपने आपको जानने के लिए वेदों की आज्ञा को व्यवहार का विषय वनायें, उपनिषदों के गहन चिन्तन में निमज्जन करें या पुराणों की सरस आख्यान सरोवर में गोता मारें, अन्ततः हमें ज्ञान की उपासना करनी ही पड़ेगी और ज्ञान ही हमारी संवेदना

को अन्तर्मुखी बनाता है, हमारी दृष्टि को भेदक बनाता है। जैसे सारे विषय शब्द में समा जाते हैं वैसे ही सारे मार्ग ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं किन्तु ज्ञान अनेक का नहीं—एक का, एक में सबका या सबमें एक का, स्व में समस्त का अथवा समस्त में स्व का दर्शन करना ही ज्ञान है।

ज्ञान की इस शैली को किसी से भी प्राप्त किया जा सकता है लेकिन समर्पित होना इसकी शर्त्त है। हिन्दू चिन्तनधारा के अनुसार यह सारा संसार, व्यक्ति का क्रिया कलाप और इसका आद्यन्त पाँच कोशों में सीमित है। ये पाँच कोश हैं—अन्न, प्राण, मन, ज्ञान, चैतन्य। ये क्रमिक हैं किन्तु एक दूसरे से गहनतर रूप से निबद्ध भी। यद्यपि पूर्वतर की परतर में सूक्ष्म अवस्था आती जाती है तथापि इनके सम्पर्क से एक रासायनिक क्रिया होती है और उसका अपना व्यक्तित्व एवं क्षेत्र होता है।

अन्नमय क्षेत्र सबसे निम्नतम है। हम या दूसरे प्राणी जो आहार पर जीवित रहते हैं वे दर्शन की परिभाषा में स्थूलतम हैं। यहाँ अन्न शब्द पारिभाषिक स्थिति का सूचक है जिसका अर्थ होता है स्थूल अथवा ठोस वस्तु का भक्षण। हमारे बाद वनस्पति वर्ग या असुरवर्ग जैसे प्राणी आते हैं जो खाते नहीं पीते हैं किन्तु तरल वस्तु नहीं, गैसीय रूप में स्थित वायु। यह प्राणमय संसार है। हम (मानवों) में सारे कोष सन्तुलित रूप में हैं इसीलिए हम एक में अनेक या अनेक में एक का दर्शन कर सकते हैं, इसीलिए विशिष्ट हैं अन्यथा आहार की दृष्टि से हम हानतर हैं, हमें प्राणवायु के साथ अन्न भी चाहिए और अन्न चाहिए इसलिए उसका मल भी हमारे शरीर का आवश्यक तत्त्व है।

मनोमय कोश में देवलोक आते हैं। वे केवल मन की कल्पना में ही विचरण करते हैं। इस दृष्टि से असुर भी देवताओं के निकट ही आते हैं किन्तु उनकी कल्पना तमोगुणी अथवा अधोमुखी रहती है इसलिए वे पराजय योनि युद्ध करते आए हैं। ज्ञानमय कोश और ज्ञान के क्षेत्र में यह संसार अवस्थित है किन्तु यह ज्ञान सत् और असत् रूप में व्यक्त है। प्रतीक बोध या जागतिक वस्तुओं के बाह्य आयामों को ही अन्तिम मानना और उनके तानों-बानों में उलझे रहना ज्ञान का वास्तविक स्वरूप, अतएव सत् नहीं है। वस्तुओं से रागात्मक या विरागात्मक सम्बन्ध बनाये रखना ज्ञान की परिणति है। मनोमय कोश भी ज्ञान के बिना व्यर्थ है तो प्राणमय भी। आशय यह कि ये कोश उत्तरोत्तर बली एवं व्यापक होते जाते हैं। देवलोक भी ज्ञानकोश में अवस्थित हैं।

इससे आगे चैतन्यमय और आनन्दमय कोश हैं जो प्रकृति से परे हैं। चैतन्य की अपनी कोई परिभाषा नहीं क्योंकि वह स्वतः प्रमाण है और आनन्द उस चैतन्य का अनुभव। आनन्द का परमस्वरूप वही शून्य है क्योंकि उसका कोई विकल्प नहीं, उसका कोई स्वरूप प्रतीक नहीं। ज्ञानकोश, प्राणमय कोश जैसे स्तर प्रकृति के स्वचालित संस्थान हैं इसलिए ये अपने क्षेत्र में ही प्रमुख रूप में रहने वाले प्राणियों को अपनी प्रकृति से एकरूप कर लेते हैं। जैसे वनस्पति वर्ग प्राणमय कोश में रहता है, वायु ही उनका प्रमुख आधार है इसलिए वे वायु की प्रकृति में ही निवास करते हैं। उनके सामने केवल अतीत है या अतीत का परिणाम भूत वर्तमान। वे अपने भविष्यत् के प्रति उत्तरदायी नहीं हो हो सकते, न भविष्यत् का निर्माण उनके हाथ में है। इसीलिए वे जड़ प्रकृति को विवश-

भाव से भोगते हैं, उनकी हर क्षमता की सीमा है। इसके साथ एक सुखद स्थिति यह भी इस स्तर में रहती है कि वे झूठ, क्रूरता, धोखा, हिंसा, चोरी जैसी विकृतियों से दूर रहते हैं।

देव लोक या असुर लोक मनोलोक के निवासी हैं इसलिए उनकी क्षमता अधिक है पर उसकी भी सीमा है और वे भी अपने अतीत को जीने वाले ही रहते है। मनुष्य एक सन्तुलित स्तर है इसलिए वह अतीत और भविष्य के बीच में रहता है। अतीत को भोगता है और भविष्यत् की रचना करता है। यही वह स्तर है जहाँ से यात्रा समाप्त होती है और जहाँ से यात्रा प्रारम्भ होती है। क्या यह सुखद सुविधा नहीं है कि ऐसे स्तर का विनियोग हम करें।

अन्तर्यात्रा

भारतीय आत्मज्ञान अन्तर्यात्रा के जिन स्थानों और पड़ावों का परिचय देता है वे विज्ञान के किसी भी आयाम और आधार से ज्ञात नहीं किये जा सकते हैं और न वे किसी भी कसौटी पर कसे जा सकते हैं क्योंकि विज्ञान का आधार लक्ष्य और स्वरूप भौतिक है और ज्ञान का प्राप्य, प्रकार एवं लक्षण आत्मिक है। भौतिक विज्ञानी या विज्ञान के आग्रहों के अनुसार साक्षी जुटाने में और प्रमाण खोजने में व्यस्त बुद्धिवादी अपने-अपने विश्वासों, साक्ष्यों और तथ्यों को प्राप्त कर आश्वस्त हैं, विश्वस्त भी पर अभी उनका मतभेद समाप्त नहीं हुआ, भविष्य में समाप्त हो जाय—इसकी भी कोई गारण्टी नहीं।

विश्वास को पूजने वाला वर्ग तार्किक होता है या नहीं होता—इस विषय पर हम विवेचन नहीं कर रहे पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि विश्वास के नन्दन वन में तर्क के कांटेदार करील नहीं होते। तर्क से तथ्य को पाया जाता है, विश्वास से सत्य को। विश्वास अन्धा होता है क्योंकि उसे विश्वसनीय वस्तु ही दिखती है दूसरी नहीं दिखती इसलिए यह मानना कि विश्वास व्यक्ति अपने पर ही करता है, कोई अयुक्त या भ्रान्त बात नहीं है। विश्वास इतना विशाल होता है कि उसमें व्यक्ति के 'स्व' में समग्र भासित होने लगता है। विश्वास के विराट् रूप को विश्वासी होकर ही जाना जा सकता है।

भारत के अवतारवाद ने इतिहास के सारे सन्देहों पर पूर्ण विराम लगा दिया है। वहाँ सन्देह नहीं है, विश्वास है इसलिए वह धरती का उत्खनन नहीं करता बल्कि माता कहकर उसी से रहस्यभेदन करना चाहता है। यह निश्चित बात है कि समय एक अखण्ड और अविभाज्य सत्ता है। ज्ञात विगत और अज्ञात अनागत इसी समय की झीनी चादर के नीचे छुपा हुआ है। जो आँखें समय की सपनीली चादर को भेद कर देख सकती हैं उनके लिए समय को विगत और अनागत के रूप में खण्डित नहीं किया जा सकता। आँखों में यह भेदक शक्ति विश्वास से प्राप्त होती है, विश्वास ही आँखों को आँजता है।

अमरीका में वृन्दावन बसाया जा रहा है। यह तकनीकी विकास में अग्रणी और

प्रचण्ड विध्वंसक शक्ति से सम्पन्न देश के लिए अपमानजनक भले ही न हो पर उसके सारे विकास को प्रश्नचिह्न अवश्य लगाता है। सम्पन्नतम देश में गेरुआ वस्त्र पहन कर राम-कृष्ण का कीर्तन करने वाले लोग असंगत और विचित्र लगते हैं पर उनका शरीर उसी धरती का है, उनकी सामाजिक संरचना और व्यवस्था में वे लोग भी आते हैं, उससे बंधे हुए हैं इसलिए सहनीय हैं अन्यथा उस देश के लोग उनको देखकर नजर अन्दाज नहीं करते।

हिप्पियों का विरोध प्रदर्शन और निषेधवादी दर्शन सम्पत्ति से अघाने का प्रतीक कहा जाता है पर सम्पत्ति से जुड़ी सुरक्षा और संहारक शक्ति का युक्तिसंगत आधार सब-लता कुल मिलाकर अविश्वास का प्रसार है। विविध प्रकार के अस्त्रों और सुरक्षा उप-करणों के अनुसन्धान और परीक्षण में व्यस्त देश आज मानसिक रूप से दयनीय हो चुका है अविश्वास उसे भय तक ले आया है और उसका समूचा तकनीकी ज्ञान विश्वास की, विश्वस्त की, अतिविश्वस्त की खोज में मशगूल-सा लगता है।

पूंजी से दुःख नहीं मिलता, न पूंजीवाद से समाज अशान्त ही होता है, क्योंकि पूंजीवाद से ही अशान्ति और दुःख का विस्तार होता तो साम्यवादी देश खुशहाल होते—यह दूसरी बात है कि समाजवादी देशों के नागरिकों का चिन्तन और जीवन दर्शन एक निश्चित दिशा में मोड़ दिया जाता है तथा वे अपने दुःख को व्यक्त करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होते। वास्तव में पूंजीवाद पूंजी का नाम नहीं प्रदर्शन का नाम है, केन्द्रीकरण का पर्याय है, और यह स्थिति व्यक्ति को अशान्त करती ही है। प्रदर्शन अविश्वास—आकांक्षा का संघर्ष चला देता है, छीना-झपटी का दौर शुरू हो जाता है। जिसके पास पूंजी है वह अविश्वास से इस रूप में पीड़ित रहता है कि उसके अर्जित को कोई छीन न ले और इस पीड़ा को झुठलाने के लिए वह ऐश करता है, दुराचार का आवरण ओढ़ लेना चाहता है, अपने भय से मुक्ति पाने के लिए वह सुदृढ़ महल, तिजोरियाँ और कोषा-गार बनाता है।

एक पक्ष का अविश्वास जब अपने पूरे भौंड़ेपन पर उतर आता है तो दूसरा पक्ष उत्तेजित हो जाता है। वह कई तरह के तर्क और युक्तियाँ ढूंढ़ता है और यह समझता है कि धनपति कहीं इस धन को निगल न जाय। एक वर्ग का अविश्वास दूसरे में संक्रामक व्याधि की तरह फैलता है अन्यथा बैंकों के पूंजी संग्रह पर किसी को आपत्ति, आक्रोश और उत्तेजना नहीं होती क्योंकि उन पर विश्वास रहता है। वहाँ कोई पूंजी को खाता नहीं; वहाँ कोई छीनता नहीं। धन भी अगर सारे समाज का हो तो उससे अविश्वास, भय और अरुचि नहीं हो सकती। धन माँ लक्ष्मी का साकार किन्तु कल्पित रूप है, उसकी शक्ति से न कोई अपरिचित है न उससे किसी को कष्ट ही हो सकता है।

विश्व के आविष्कारों में आधे से अधिक अविश्वास की देन हैं। अस्त्रों, औषधों, दवाओं या सौन्दर्य प्रसाधनों के क्षेत्र में जितने आविष्कार किये जा रहे हैं वे सब विश्वास की खोज हैं। अशान्त हिप्पी, हरिकीर्तन करने वाले गौरांग, परिवार नियोजन के लिए चिन्तित समाज और मुक्त यौन सम्बन्धों के लिए लालायित वर्ग भी विश्वासभूमि की

खोज कर रहा है। जब कभी यह लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा। अधिकांश समस्यायें सुलझ जायेंगी, चिन्तन की दिशा बदल जाएगी, सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आ जाएगा।

भारत ने इतिहास का पोस्टमार्टम करने में अपने आपको केन्द्रित नहीं किया, सत्य को बाहर से पकड़ लाने के लिए कभी आतुरता नहीं दिखलाई, विश्वास को उधार लाने के लिए कभी कोई नाटक नहीं रचा। ये उसके भीतर हैं, वह स्वयं किसी अखण्ड और अव्याहत सत्ता से जुड़ा हुआ है इसलिए वह बाहर नहीं भटकता, भीतर पैठता है।

प्रसन्नता है कि अमेरिका वृन्दावन बना रहा है पर उसका विश्वास पल्लवित हो—तभी उसका चिन्तन बदलेगा अन्यथा यह निर्माण अविश्वास से त्रस्त होकर पराङ्मुखता या संकुचित होने का एक उपाय मात्र बन कर रह जायगा जिससे अच्छा तो यही होता कि वह भयभीत होकर अशान्त भाव से कर्मरत रहता।

क्योंकि ऐसा हुए बिना उसके ये सारे क्रियाकलाप व्यर्थ हो जायेंगे। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बाहर की यात्रा से पीछा छुड़ाकर दर्शनीय मन्दिर का निर्माण करना भी बहियात्रा है और निश्चय से यह लक्ष्य परिवर्तन के नाम पर प्रकार-परिवर्तन है। आवश्यकता इस बात की है कि परिवर्तन सारे में हो, स्थितियों को बिल्कुल उलट दिया जाय। भारत, यद्यपि इस समय सन्धिकाल के संघर्ष से गुजर रहा है और यह भी निश्चित है कि वह यहीं तक जाया करता है फिर भी भारत में मन्दिरों का खोखलापन उजागर होने लग गया है। मन्दिर एक अभ्यास बन चुके हैं, देवता निष्प्राण हो गया है और कुल मिलाकर मन्दिरों का वातावरण अपंगों, अपाहिजों और पेशेवर पण्डों से घिरा प्रदर्शन हो गया है।

कोई आश्चर्य नहीं, मन्दिरों की संस्कृति अपना मूल लक्ष्य भूल कर एक परम्परा मात्र रह जाय और मनुष्य फिर अविश्वस्त होकर खोज में निकलने के लिए विवश हो जाय पर वह स्थिति अभी दूर है और संदिग्ध भी। मन्दिरों का निर्माण अशुभ नहीं है और मूर्ति को मानवी करके उसके वैभव का प्रदर्शन भी बुरा नहीं है क्योंकि वह सब की है किन्तु उस देव मन्दिर का, मूर्ति का और पूजा विधि का सन्देश एवं संकेत जब तक नहीं समझा जायगा तब तक शान्ति नहीं मिल सकती और अशान्त वर्ग विश्वस्त नहीं होता।

वास्तव में एक ऐसी स्थिति है जहाँ समय स्थिर हो जाया करता है और उस स्थिति में वृन्दावन भी वहाँ मिलता है। वह वृन्दावन, नित्य वृन्दावन है। प्रत्येक व्यक्ति वृन्दावनमय है पर हरेक व्यक्ति वहां पहुँच नहीं पाता और जब तक नहीं पहुंचता तब तक अशान्ति, अविश्वास, अन्वेषण चलता रहता है। हम मानते हैं, व्यक्ति विश्व का प्रतीक है। जितना विस्तार बाहर है वह अविकल रूप में व्यक्ति के भीतर है। व्याकुलता इसलिए है कि उसे पाने का तरीका नहीं जानते इसलिए हम, हमारी पीढ़ी काल से टूट जाती है। एक ही समय उसके लिए भूतकाल और भविष्यकाल बन जाता है और वह भूतकाल के प्रति आश्वस्त होने के लिए उसे घटनाक्रमों के माध्यम से काल के गह्वर में और उपकरणों के माध्यम से पृथ्वी के गर्भ में खोजता है। वह अपनी प्रगति

के प्रति विश्वस्त नहीं है इसलिए पूर्णरूप से विश्वस्त होने के लिए अतीत को खड़ा करके अपने आपको तोलना चाहता है।

इतिहास व्यर्थ है—यह हमारी मान्यता नहीं पर उसे लेकर तर्क का युद्ध और प्रमाणों का द्वन्द्व करके हम क्या पा लेंगे ? वास्तविक इतिहास देखना है तो वृन्दावन चलें, नित्य वृन्दावन को ढूंढें जहाँ स्वयं कालपुरुष स्तब्ध भाव से रसलीन स्थिति में खड़ा है।

अवतार होता है, शक्ति एक विशिष्ट रूपाकार में प्रकट होती है। अवतार परिस्थितियों की परिणति है, यह जितना स्वाभाविक है उतना ही अनिवार्य भी इसलिए इस अवतारवाद की प्रक्रिया स्वाभाविक है। संस्कृत वाङ्मय के अनेक ग्रन्थ और उपाख्यान इसका वास्तविक आधार प्रस्तुत करते हैं। युग और व्यवस्था का उत्पीड़न जव शीत युद्ध से ऊव चुका था तो महाभारत रचा गया और महाभारत के प्रवर्तक अवतार ले चुके थे। ऐसे ही जब सात्विक वृत्तियाँ मन्द पड़ने लगीं, सात्विकता के प्रतीक देवता अपनी शक्ति को कुण्ठित अनुभव करने लगे तो उनकी कुण्ठित और मन्द शक्ति ही पूंजीभूत हुई जिसके सत्व को असत् सहन नहीं कर सका, उसके एक ही आघात से धूलिसात् हो गया। प्रत्यक्ष में सामाजिक जीवन में भी जब ऐसी कुण्ठा धुंधुआने लगती है तो लौ प्रकट होने के लिए आतुर हो जाया करती है और उसी समय एक घटना ऐसी होती है जिससे सारा धुंआँ लपट बन जाती है। निरुपाय, निष्प्राण और दलित वर्ग एक सीमा तक पहुँचकर आक्रामक बन जाता है। यही क्रान्ति के अवतरण की प्रक्रिया है, यही परिस्थितियों का परिणति है और यही प्रकृति का स्वभाव है। इस सिद्धान्त पर या इस नियम की चक्रवद्ध लीक पर समय गुजरता रहता है।

स्थानीय स्तर पर ऐसा थोड़े या अधिक अन्तराल के बाद घटता रहता है किन्तु विश्वस्तर पर ऐसा देर से घटता है और युग परिवर्तन की अवधि देर से ही आया करती है। परिवर्तन का यह सिद्धान्त समष्टि प्रकृति में भी व्यवहृत होता रहता है और व्यक्ति प्रकृति में भी। समष्टि प्रकृति के परिवर्तनकाल को देखने के लिए लम्बी उम्र चाहिए पर समष्टि के इतिहास को परिवर्तित होते हुए व्यक्ति प्रकृति में देखना है तो भीतर प्रविष्ट होना चाहिए। व्यक्ति अपने आभ्यन्तर में इस प्रकार के इतिहास को जव गुजरते हुए देखता है तो विस्मित हो जाता है। उसे यह विश्वास नहीं होता कि ये इतने अवतार इस धरती पर हुए भी हैं क्या ? या हो भी सकते हैं ? उसे ये सव उपाख्यान और सारा विगत एक शब्द समूह लगने लगता है क्योंकि इतिहास उसके समक्ष वर्तमान हो जाता है, समय उसके आगे गतिशून्य बन जाता है।

फिर भी अवतार होता है, हुआ है लेकिन उसका भौतिक विश्लेषण समाजशास्त्रीय मूल्यांकन रहता है। आध्यात्मिक आयाम से देखने पर ही उसका वास्तविक स्वरूप और रहस्य समझ में आता है। भारतीय अवतार दर्शन की यह विशेषता रही है कि वह अकेले भगवान को नहीं बुलाता या वैकुण्ठ नायक अकेले नहीं आते बल्कि उनका समूचा वातावरण, उनका वृन्दावन अविकल रूप से प्रकट होता है। आश्चर्य है कि अवतार में केवल वैकुण्ठाधिपति ही प्रकट होते हैं दूसरे देव ब्रह्मा या शंकर प्रकट

नहीं होते। वैकुण्ठवासी के प्रकट होने का शाब्दिक महत्व भी है और पारिस्थितिक मूल्य भी। क्योंकि वे उसी समय अवतार लेने को विवश होते हैं, जब व्यक्ति कुण्ठित हो जाता है पर कुण्ठित होकर निष्क्रिय नहीं हुआ वलिक विश्वास और श्रद्धा से पूरित अवश्य रहा। ऐसी विपम परिस्थिति में कुण्ठामुक्त होने के लिए विकुण्ठ की ही आवश्यकता हो सकती है।

स्थूल में जो कुछ भी होता है वह सूक्ष्म का प्रतिरूप होता है या सूक्ष्म ही एक बिन्दु पर आकर स्थूल हो जाया करता है। वृन्दावन का या अयोध्या का नित्य स्वरूप और है, वह भी व्यक्ति के भीतर ही। इसे नित्य वृन्दावन कहते हैं और इसमें वह अनन्त शक्ति का पुंज स्थित रहता है। कौन है वह शक्ति पुंज ? विश्वास कीजिए—आप और मैं, वे और ये और नित्य वृन्दावन इसी देह का अदृश्य सूक्ष्म रूप है। दृष्टि को अन्तर्मुख करते ही, चेतना की दिशा वदलते ही, ज्ञान की वहिर्गति को परावर्तित करते ही, वृन्दावन प्रकट होने लगता है, व्यक्ति का विराट् आभासित होने लगता है। यह सारा संघर्ष महज इसलिए है कि शक्ति की एक धारा व्यक्ति का आकर्षण करती और दूसरी विकर्षण करती है। वहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी गति का अवरोध करती रहती है।

आइये उस नित्य वृन्दावन की एक झलक देखें, उस महारास की एक मुद्रा का दर्शन करें। हमारे शरीर के प्रत्येक पदार्थ की निर्मिति को विनाश से, प्राप्ति को वितरण से, संग्रह को विसर्ग से जोड़ दिया गया है। हम प्राप्त करने के लिए वेचैन हैं और परित्याग करके सन्तुष्ट। नहीं मिला तो मर जायेंगे और नहीं निकाला तो जी नहीं पायेंगे। यह क्रिया जीववैज्ञानिक तथ्य है, मांसपेशियाँ दो तरह का कार्य अहर्निशि करती रहती हैं। यह कार्यविधि वहिर्मुखी है, वहिर्मुखता के वीच निपेध उभरता है। हमारे पर भगवान् की कृपा होती है तो यही निषेध वृन्दावन का मार्ग वन जाता है। कैसे ? इसके उत्तर में हम देखते हैं कि मांसपेशियों को मन के सहारे छोड़ दिया जाय तो वह दसों इन्द्रियों को विल्कुल वहिर्मुखी कर देगा, उनका शोपण करने लगेगा, उन्हें अधोगामी वना देगा। विवेक मन्द हो जायगा।

स्थिति कुछ ऐसी हो जाएगी जैसी युग परिवर्तन के समय हो जाया करती है। हमारे जीवन का सत्व, प्राण शक्ति का प्रवाह असुर केन्द्रित हो जाता है और असुर उसका दुरुपयोग करता है। इस असुर को कंस रावण, हिरण्यकश्यप कोई भी संज्ञा दे दी जाय। दीर्घकाल तक असुर सत्व का शोषण करके असत् की प्रतिष्ठा करता रहता है तब सत् का आविर्भाव होता है।

आविर्भाव किंवा प्रकटीकरण का रहस्य कृष्णचरित में उद्घाटित होता है। कृष्णावतार का वर्णन करने वाले मनीषी हमारे पर इतने दयालु और विह्वल हो उठे थे कि उन्होंने सव कुछ शब्दों के पारदर्शी पर्दे में लपेट कर रख दिया।

घटना इस तरह होती है कि व्यक्ति की इन्द्रियाँ जिन्हें संस्कृत में 'गो' भी कहा जाता है और वे रक्षित होने के कारण याने गोपस्वरूप मन से सम्वद्ध रहने के कारण गोपी के रूप में जब हमारे शरीर के सत्व को, जीवन के तैजस को दुर्मद मन को सौंपने

का अभ्यास पाल लेती हैं और मन के इस शोषण से, अतृप्ति से सत्व के उत्पादक एवं परोक्ष रूप में सत्व को पोषण प्राप्त करने वाले अंग असहाय निरुपाय हो जाते हैं तो निषेध के रूप में कृष्ण का जन्म होता है। कृष्ण का कालापन उनकी निषेधात्मकता का प्रतीक भी हो सकता है। वे कृष्ण गोपियों से आग्रह-दुराग्रह करते हैं कि यह घी और दूध कंस के लिए नहीं, मेरे लिए है। गोपियाँ उनके सात्विक सौन्दर्य पर न्यौछावर हैं और जो नहीं जानती उनको कृष्ण आकृष्ट कर लेते हैं।

यहीं वह नाजुक क्षण है जिस समय कृष्ण का जन्म होता है और जिस व्यक्ति ने अपने जीवन के विकार में से एक अविकृत सत्य को प्राप्त करने का प्रयास किया है वही यह देख-समझ सकता है कि कंस के दुर्मद शासन में कृष्ण का जन्म अनजाने ही हो जाता है। गोपियाँ अथवा इन्द्रियाँ उस कृष्ण के प्रति समर्पित होने को वाध्य हैं क्योंकि वह सत्य है।

इन्द्रियों के व्यवस्थित एवं सन्मार्गगामी हो जाने के बाद कृष्ण विकसित होते हैं और वे सत्व किंवा शक्ति का स्थानान्तरण करने वाले संस्थानों याने इन्द्रियों तक ही सीमित नहीं रहते वल्कि उन स्थानों और अंगों तक पहुँचते हैं जहाँ सत्व निर्मित होता है, जहाँ तैजस रक्षित होता है और इसके लिए वे वेणु वादन करते हैं। कृष्ण के आमंत्रण को अस्वीकार करने की सामर्थ्य किसी में नहीं इसलिए शरीर की प्रत्येक कोशिका आन्दोलित हो उठती हैं और फिर शुरू हो जाता है महारस जहाँ एक ही कृष्ण अनेक रूपों में अगणित गोपियों के साथ नृत्य में रत हो जाता है।

हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी चेतनता और चेतनता के कारण दोलित करती अगणित कोशिकायें चेतन के साथ नृत्य करने का आभास नहीं कराती क्या ? शब्दों और कालक्रम के भेद को भूल कर यदि हम हमारे देह के इस चेतन जड़ के विलास को देखें तो सारा विगत हमें वर्तमान में घटता हुआ दिखेगा।

तत्व सिद्धान्त

तंत्र आज के युग का प्रमुख आकर्षण है। भारत में वेदों की निषेधवादी और नियन्त्रणवादी पद्धति की कठोरता के समानान्तर स्वीकार और उपभोगवादी पद्धति का विकास हुआ। यह पद्धति भी लक्ष्यगत रूप में वेद विहित स्थिति को ही अपना गन्तव्य मानती रही है किन्तु उस स्थिति को प्राप्त करने के प्रकार उसके अपने रहे हैं। इसके साथ ही हमें यह स्वीकार करने में कोई संशय या संकोच नहीं हाता कि तंत्र मार्ग वस्तुतः वैदिक साधना से भी आगे पहुँचने का राजमार्ग है।

वैष्णव दर्शन के आराध्य देव विष्णु परम पुरुष माने जाते हैं और उनको किसी सीमा तक वाचामगोचर और प्रकृति या माया से अतीत माना जाता है किन्तु उनके परि-वेश और स्वभाव का विवरण इस तथ्य का स्पष्ट संकेत देता है कि विष्णु भी किसी

शक्ति या शक्तिमन्त के इंगित पर क्रियारत हैं। उनके लोक को वैकुण्ठलोक कहा जाता है। वैकुण्ठ का अर्थ तनाव रहितता या कुण्ठा शून्यता होता है। यदि (और वास्तव में) जीवन का परम और चरम लक्ष्य कुण्ठाओं से मुक्ति पाना है तो यह तंत्राचार में प्रथम सोपान में ही होने लगता है।

वैष्णवों ने वैकुण्ठ को परमलोक माना इसमें कोई अस्वाभाविक वात नहीं है क्योंकि निषेध और निग्रह में रहने वाला व्यक्ति प्रकृति के स्वीकार की तीव्रता को झेलता रहता है इसलिए वह अच्छी तरह जानता है कि इस टकराव में कितनी भयंकर कुण्ठा है, कितना तीव्र तनाव है। अपनी साधना में वह प्रकृति के सहज स्वभाव को भुलाने या उदात्त करने की चेष्टा अधिक करता है परिणामस्वरूप वह ग्रंथि अधिक भारी और दर्दीली हो जाती है इसलिए निग्रह मार्गी साधकों को निषेधों की गोद में लुढ़कना पड़ा तो कोई अयुक्ति न होगी।

विष्णु जो सृष्टि के संरक्षण के प्रतीक हैं उनका अस्त्र सुदर्शन है। सुदर्शन के हजार आरों की संरचना और उसका निरन्तर घूमते रहना (अणु की) सतत गतिशील प्रकृति का प्रतीक माना जा सकता है यद्यपि इस मान्यता का कोई ठोस और भौतिक विज्ञान से अविकल समानता रखने वाला प्रमाण नहीं दिया जा सकता फिर भी इस तरह की परिकल्पना और संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता।

भारतीय ज्ञान और आधुनिक विज्ञान में मूलभूत अन्तर यही है कि यह तत्त्व को अथवा परमाणु को अन्तिम स्थिति मानता है जबकि वह तत्त्व के अन्त में तत् को और परमाणु के आगे (परमाणु में विद्यमान शक्ति को) परमशक्ति को मानता है और वह जो कुछ भी है कहने या जानने का नहीं है और जड़ भी नहीं है। वह जो कुछ भी है इतना विशाल और व्यापक है कि उसे बुद्धि की परिमेय शक्ति, शब्दों का प्रतीक वोध और मन की कल्पना क्षमता अपनी पकड़ में नहीं ला सकते इसलिए हम उसे किसी निश्चित प्रतीक या व्यक्तिवाचक संज्ञा से व्यक्त न करके सर्वनाम शब्द से व्यक्त करते हैं और इस सत्ता का कोई भी नाम या संज्ञा नहीं हो सकती।

पदार्थज्ञान का तत्त्व ज्ञान विश्लेषण के रास्ते चलता है और भारत का तत्त्वज्ञान संश्लेषण के माध्यम से। विश्लेषण ने अनेक को अनेक के रूप में पाया है और संश्लेषण ने अनेक में छुपे एक को पहचाना है। उसने अनेक को संख्यांकित किया है और वह संख्या अभी भी परिवर्तनशील (और जुड़ने की संभावना वाली) है। आध्यात्मिक दृष्टि उन संख्याओं की सीमा निश्चित कर चुकी है और उनके क्रम को भी इसलिए वह अपने आप में गणितीय सत्य की तरह अचल प्रतिष्ठ है विश्व की विविध रूपता का आनन्द संश्लेषण में है विश्लेषण में नहीं इसलिए आत्मवादी दर्शन इस विविधता और अनेक रूपता को किसी स्वतन्त्र स्थिति तक पहुँचने का माध्यम स्वीकार करता है।

युगल भाव या संयोग से तंत्र की आधारभित्ति का निर्माण होता है और उसमें विद्यमान क्रिया से संसार तथा संसार से परे पहुँचने के साधन का। तंत्र की आँख सत्ता पर लगी रहती है पर ध्यान सत्ता से अतीत पर केन्द्रित रहता है। स्थूल स्तर पर दृश्य पदार्थ को तंत्र एक बड़ी लम्बी परम्परा का अन्तिम स्तर मानता है और इससे आगे

विकास या स्थूलीकरण की कोई गुंजाइश नहीं वचती इसलिए वह अपनी साधना स्थूल से प्रारम्भ करता है और सूक्ष्म तक जाता है। सूक्ष्म भी इतना कि उसमें कुछ वक्तव्य और ज्ञातव्य रहता ही नहीं।

विज्ञान के तत्त्व में अनेक खण्ड हैं और उन खण्डों में भी अनेक खण्ड। प्रत्येक खण्ड के अपने गुण धर्म हैं। भारतीय तत्त्व दर्शन में भी एक तत्त्व में अन्य तत्त्वों की गुणात्मक सत्ता अभिन्न रूप से है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये भारतीय तत्त्व हैं। इनका गुणात्मक या तन्मात्रा गत रूप गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं जो हमारे शरीर में विद्यमान इनकी ग्राही इन्द्रियों द्वारा ज्ञान के या प्रतीति के विषय वनाए जाते हैं।

ये तत्त्व परस्पर कोई साम्य नहीं रखते (आकाश के शून्य से वायु के कणात्मक गैसीय रूप का कोई साम्य नहीं तो तेजस की उष्णता से गैसीय वायु का कोई तारतम्य नहीं ऐसे ही जल की सान्द्र तरलता का वायु और प्रकाश की विरल गैसीयता से कोई साम्य नहीं तो पृथ्वी की सघन ठोस स्थिति का अन्य तत्त्वों से कोई सम्वन्ध नहीं) तदपि इनमें परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध हैं। एक तत्त्व में दूसरे तत्त्वों की उपस्थिति अनिवार्य रूप से रहती है और किसी भी तत्त्व का आत्यन्तिक अभाव उस वस्तु को नष्ट होकर शेष तत्त्वों से एकरूप हो जाने के लिए प्रस्तुत कर देता है।

इन तत्त्वों का एक सर्किल है, एक वृत्त है जिसमें इनकी क्रीड़ा निरन्तर चलती रहती है। अनुलोम विधि से ये सृजन करते हैं और प्रतिलोम विधि से संहार। व्यवहार में भी हम देखते हैं कि एक सर्वव्याप्त शून्य में हवा निवधि प्रवेश कर सकती है ओर हवा की गैसमयता में से प्रकाश की किरण अव्याहत रूप से गमन कर लेती है तो जल का द्रवत्व शून्य, गैस और रश्मियों के वीच से अपना मार्ग वना लेता है और पृथ्वी का ठोस स्वरूप इन चारों तत्त्वों में निर्विघ्न गति कर सकता है। इनके ये गुण उस सिद्धांत का स्थूल और अनुभव योग्य स्वरूप प्रस्तुत करते हैं जो यह मानता है कि अनुलोम विधि से इनका जन्म होता है।

भारत ने शब्द को वहुत महत्त्व दिया है और इसे अक्षर तथा अमर वताया है। शब्द आकाश का प्रताक है और आकाश में सारे तत्त्वों का स्थूल रूप प्रच्छन्न रूप में विद्यमान रहता है शब्द में ही ऐसी क्या विशेषता है कि वह हमारे सारे दृश्य को अभिव्यक्ति दे देता है और रूपायित कर डालता है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यह कहेंगे कि यह विशेषता शब्द में ही आ सकती है। वायु का स्पर्श, तैजस का रूप, जल का रस और पृथ्वी की गन्ध में यह विशेषता आ ही नहीं सकती थी क्योंकि वे परतर है।

माना शब्द में प्रत्यक्षत: गंध नहीं होती न कोई रस या रूप ही होता है किन्तु इनकी प्रतीति को वोधगम्य वनाना शब्द के ही सामर्थ्य की वात है समग्र इतिहास को जीवित रखना, अनुभूति को परम्परागत वनाना शब्द का ही गुण—गौरव है। तत्त्वों के इन्द्रियगम्य रूप से आगे जो गुणात्मक प्रकृति है उसमें भी शब्द की सत्ता है। अगर हम हमारे कानों को शरीर की शब्द निरोधी (साउण्ड प्रूफ) व्यवस्था को छेद कर सुनने की शक्ति प्रदान कर सके तो जो कुछ सुनाई देगा वह हमारे लिए परम आश्चर्य का विषय

होगा। मीलों लम्बी रक्त वाहिनियों में द्रुतगति से भाग रहे नन्हें नन्हें रक्त कण (जो तरल पदार्थ में तैर रहे हैं, नर्तन कर रहे हैं) हृदय प्रदेश में एकत्रित हो रहा—रक्त का सागर, फेफड़ों में ध्वनित हो रही—हवा, ये शब्द के सागर में रह रहे हैं—शब्दमय होकर। प्रतिपल आ रही और जा रही श्वास, प्रश्वास की हवा व्यक्ति को विश्व से जोड़ने का महामन्त्र जप रही है। वह "मैं—वह" ('हं सः') का मंत्र बोल रही है।

भारतीयों का यह तत्त्व सिद्धांत इतना व्यापक और विशुद्ध है कि इसमें कोई मौलिक परिवर्तन करने की अब तक कोई आवश्यकता ही नहीं आ सकी अन्यथा निषेधवाद की प्रखर तर्कशक्ति इसमें परिवर्तन का आग्रह अवश्य करती। प्रत्येक सिद्धि को विराम की जड़ता से बचाकर गति की स्फूर्ति प्रदान करना—नेति, नास्ति मानने वालों की—विशिष्ट प्रकृति रही है किन्तु इस परिणाम को उन्होंने भी सर्वशुद्ध मान लिया है और नेति से प्रश्नांकित नहीं किया है।

तंत्र मार्ग का वामाचार, जिसमें मांस, मदिरा, मछली, मुद्रा और मैथुन अनिवार्य रूप में आते हैं, तत्त्वों को स्थूल रूप में पकड़ने की एक विधि है किन्तु यह जानते हुए कि इस स्थूल का मूल सूक्ष्म है और सूक्ष्म का अतिसूक्ष्म। तत्त्वों, तन्मात्राओं, शक्ति और गुणात्मकता के स्तरों को क्रमशः पार करते हुए उस स्थिति तक पहुँचना है जहाँ अव्याहत शून्य है, जहाँ व्यक्ति स्वयं प्रतिष्ठ है।

प्रकृति साधना

कई बार प्रश्न उठता है—अमुक शब्द के उच्चारण करते रहने से या जप करने से भौतिक वैभव या दरिद्रता, स्वस्थता या रोग सम्प्राप्ति कैसे हो जाते हैं? प्रश्न में औचित्य इसलिए भी लगता है कि मन्त्र का उच्चारण वाणी से या मन से किया जाता है वह भौतिक ऐश्वर्य का आकर्षण किस तरह कर सकता है।

इसकी प्रक्रिया को समझने के लिए हमें मन के रहस्य लोक में प्रवेश करना पड़ेगा। विवेचन करने से पहले हम उन आधारों और माध्यमों को देख लें जिन्हें सम्पत्ति और ऐश्वर्य का प्रतीक मानते हैं। ऐश्वर्य के प्रतीक वस्तुओं या व्यक्तियों के भौतिक शरीर की भीतरी रचना का विश्लेपण करने पर हम मानते और जानते हैं कि ये सारी अभिव्यक्तियाँ केवल जड़ शक्ति का विस्तार हैं, तत्त्वों की माया है। तत्त्वों के स्तर पर इनमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है इसलिए इनका संग्रह और अभाव दोनों ही इस सम्बन्ध से परिचालित होते हैं।

तत्त्वों के सम्बन्ध को जानने के बाद हम उस आधार पर आते हैं जो इनका संग्रह या अभाव करने के लिए प्रयोग किया जाता है—वह है मंत्र, मंत्र एक विशिष्ट किंवा वर्गीकृत ध्वनि है। इसमें बीज मन्त्र जितना संक्षिप्त होता है उतना ही उसका अर्थ केन्द्रित रहता है। बीज मंत्र भी एक अक्षर नहीं होता उसमें एकाधिक स्वर और व्यंजनों का संयोग रहता है। ये प्रत्येक इकाइयाँ अपने-अपने विशिष्ट प्रयोजन की

साधक होती हैं। प्रत्येक अक्षर किसी स्थिति विशेष का मूल, किसी का बीज और किसी का प्रेरक होता है तो किसी वर्ण विशेष के साथ संयुक्त होकर कार्य विशेष का साधक बन जाता है।

यह रहस्य प्रत्येक स्वर और व्यंजन रूप वर्ण की संरचना, प्रकृति, गुण और प्रभाव का सूक्ष्म अध्ययन और परीक्षण करने पर ज्ञात होता है। इसके बाद किसी वर्ण विशेष को दूसरे अक्षर के साथ जोड़ देने से उसमें रासायनिक परिवर्तन और रूपान्तरण के जो गुण आते हैं वे भी इसी विशद अध्ययन से ज्ञात होते हैं। हमारे आसपास के वातावरण अथवा भूगोल पर हम एक बार भारतीय ज्ञानवादी दृष्टि डालें और विचार करें कि थार का रेगिस्तान इतना अकेला क्यों है? वह अन्य स्थितियों से कटा हुआ क्यों है? मनुष्यों का निवास तो दूर पशु-पक्षियों और वृक्षों तक से विकर्षण होने वाली स्थिति क्यों है अथवा ध्रुव प्रदेशों की निर्जनता में केवल शून्य ही क्यों व्यापा रहता है? यद्यपि इसके समाधान में प्रकृति का उल्लेख किया जा सकता है या यह कहा जा सकता है कि वहाँ की भौगोलिक स्थितियाँ ऐसी नहीं हैं जिनके कारण आबादी हो सके। प्रकृति का जहाँ तक प्रश्न है वह भौतिक विज्ञान के लिए अमोघ शरण्य है क्योंकि जिसका समाधान विज्ञान नहीं कर पाता उसे वह (nature) कह कर मौन हो जाता है किन्तु भारत की प्रश्न परम्परा तो प्रकृति के रहस्यवाद से ही शुरू होती है और वह उसके सूक्ष्मतम पहलू तक जा पहुंचती है।

मान लिया, प्रकृति के स्वभाववश ये प्रदेश निर्जन हैं, विकर्षक हैं पर प्रकृति में यह गुण क्यों आया? क्या इस गुण को कृत्रिम रूप से भी उत्पन्न किया जा सकता है? इसके उत्तर में भौतिक विज्ञान भी हाँ भरेगा और भारतीय ज्ञान भी क्योंकि भौतिक विज्ञान वहाँ तापमान से बचने और अन्य जीवनोपयोगी आवश्यकताओं को जुटाकर एक घेरे में कैद कर देता है। लोक प्रकृति को प्रभावित करने की क्षमता उसके पास अभी नहीं आई कालान्तर में आ भी जाय तो उसका हानिरहित सर्वशुद्ध रूप प्राप्त करने में बहुत समय लग जायगा। आज तक का हमारा ऐसा ही अनुभव रहा है।

भारतीय ज्ञान प्रकृति के रहस्यों को जानता है इसलिए वह उसे व्यक्ति और लोक स्तर पर प्रभावित कर सकता है। भले ही आज हम इस बात पर विश्वास न करें कि भगवान् राम ने समुद्र को शोषने के लिए जो बाण चढ़ाया था उसने थार के रेगिस्तान को जन्म दिया किन्तु ऐसा असंभव नहीं है। आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों और संभावनाओं को देखते हुए इस पर भी विश्वास किया जा सकता है। कई तरह के बमों का विस्फोट करके धरती को इतना दूषित कर दिया जाता है कि वह वंध्या हो जाती है यही बात अगर भगवान् राम के बाण ने उस लोक या प्रदेश विशेष को बिल्कुल निर्जल करके संभव कर डाली हो तो इसे केवल कल्पना किस आधार पर कहा जा सकता है? बल्कि वह तो बेहतरीन विधि थी जिसमें धरती पर विकिरण जैसी चीज नहीं होती थी और उसे निष्क्रिय किया जा सकता था।

व्यक्ति प्रकृति पर भी यह स्थिति प्राप्त की जा सकती है। केवल वायु की गति, प्रभाव और कार्य का ज्ञान करके हम बाहर के शीत, आतप जैसे प्रभावों से सुरक्षित

रह सकते हैं। ये स्थितियाँ थीं और स्थितियों के परिणाम थे जिन्हें हम तकनीकी भाषा में विकर्षण कह सकते हैं अर्थात् किसी लोक या प्रदेश विशेष में अथवा व्यक्ति में विशिष्ट स्थितियों को उत्पन्न करना न असंभव है न अप्राकृत ही। इन परिणामों तक पहुंचने का माध्यम सूक्ष्म ही हो सकता है और सूक्ष्म का प्रारम्भ तैजस तत्त्व से होता है। पृथ्वी और जल स्थूलतम हैं इसलिए ये सूक्ष्म अवस्थाओं को प्रभावित नहीं कर पाते, प्रभावक और नियामक शक्ति वायु तत्त्व से प्रारम्भ होती है जो आकाश तत्त्व में जाकर पूर्ण विकसित हो जाती है।

आकाश में शब्द का निवास है। शब्द अव्याहत गति है और शेष चारों तत्त्व उसके वाहक भी हैं तथा सुचालक भी। क्योंकि आकाश सब में विद्यमान है या ये सारे तत्त्व आकाश में विद्यमान हैं इसलिए शब्द में सब तरह की सामर्थ्य है। प्रकृति के विविध स्वरूपों, गुणों, प्रभावों को अगर हम शब्दों के प्रतीक रूप में छितरायें तो उनमें व्यक्ति, लोक तथा विश्व प्रकृति के सारे स्तर प्रकट हो जाते हैं। निर्जल प्रदेश को सरस करके या उष्ण शुष्क प्रदेश को शीतल करके जिस तरह से उनके गुण-धर्मों को बाह्य रूप से परिवर्तित कर दिया जाता है उसी स्थिति को शब्द के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता है।

पृथ्वी के इस विस्तार में जैसे अनेकों स्तर और रूप हैं, उनमें संयोजन और वियोजन की जो क्रिया चलती है उन सबका अविकल रूप व्यक्ति में भी है और उनको व्यक्त करने की शक्ति शब्द में भी है। यद्यपि स्वरहीन अक्षर का उच्चारण सामान्य स्थिति में नहीं हो सकता तदपि प्रत्येक वर्ण का अपना व्यक्तित्व और प्रभाव होता है। वीज मन्त्रों के रूप में जिन ध्वनियों का वर्गीकरण और निर्माण किया गया वे लोक प्रकृति में प्रवेश करने की विधियाँ और राजमार्ग हैं। कोई व्यक्ति लक्ष्मी का प्रयोग करता है या ख्याति प्राप्त करने के लिए किसी मन्त्र का अनुष्ठान करता है तो वह अपने में विद्यमान किन्तु सुप्त शक्ति को जगाता है और वह शक्ति जगने पर अन्य तत्त्वों का आकर्षण करेगी ही। यही संग्रह आकर्षण है और यह आकर्षण व्यक्ति को सम्पत्तिशाली बनाने का प्रकार है। भेद व्यक्ति प्रकृति में प्रखर रूप से अनुभव होता है लोक प्रकृति में कम (बहुत कम) हो जाता है, विश्व प्रकृति में तो और भी कम। वैसे भी अगर केवल परीक्षण के तौर पर हम किन्हीं निश्चित शब्दों का जप या उच्चारण निरन्तर करते रहें तो हमारी अन्तः प्रकृति हमारे बाह्य वातावरण को तदनरूप बना डालेगी। कोई भी व्यक्ति अपवित्र शब्दों का निरन्तर जप करता रहे तो वह विकर्षक बन जायेगा और शुभ शब्दों का प्रयोग करने पर सम्मानित होगा—यह किसी भी स्थान में किसी भी भाषा में करके देखा जा सकता है।

शब्दों के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि अधिक सचेत और संवेदनशील है वह प्रत्येक कार्यों और स्थितियों का वर्गीकरण किए हुए है इसलिए उसका प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक अक्षर सार्थक ही नहीं लक्ष्य विशेष का सूचक और साधक भी है। हम जिस समय किसी विशिष्ट ध्वनि या वर्ण का जप करना शुरू करते हैं तो हम सारे तन्त्र को एक विशेष दिशा और स्थिति की ओर प्रवृत्त करते हैं। वह शब्द हमारी उन शक्तियों को जागरित

करता है किन्तु इस क्रिया में बहुत समय लग जाता है कारण—इस शक्ति पर कई तरह के अवरोध और मल लगे रहते हैं। हमारा मन संकीर्ण और विभाजित स्थिति में रहता है किन्तु यह भी मन की ही शक्ति है कि वह इन अवरोधों को दूर करे। शब्द, शक्ति को जागृत करके तन्मय हो जाता है किन्तु उस शक्ति का वहन मन करता है। मन का निर्मल होना, भारहीन होना आवश्यक है, तभी वह जागृत शक्ति व्यक्त होगी, प्रकट हो सकेगी।

मुक्ति का तार्किक पक्ष

विकासवाद नया अन्वेषण या नई चीज न होकर प्रकृति के स्वभाव और धर्म को समझने का नाम है। भारत या दूसरे देश जिन्होंने प्रकृति को पढ़ने समझने की चेष्टा की, वे सब विकासवाद तक ही पहुंचे हैं भले ही उन्होंने अपने निष्कर्षों को कोई शीर्षक न दिया हो। भारत ने विकासवाद को समझा भी है और माना भी है किन्तु उसकी दृष्टि सदा से सूक्ष्मवादी रही है इसलिए उसका विकासवाद जैविक प्रगति और संरचना को अन्तिम तथ्य नहीं मानता बल्कि उसकी जिज्ञासा इन विकसित शारीरिक स्तरों के भी कारण को ढूंढ़ती है और यह तार्किक एवं व्यावहारिक दृष्टि से संगत समाधान तक पहुंचती है जिसे कर्मवाद का सिद्धान्त कहा जाता है। भारत में विकासवाद देह के स्तरों से अधिक कर्म के स्तरों पर माना जाता रहा है और सर्वमान्य रूप से यह समझा जाता रहा है कि कर्मों के स्तर के अनुसार ही विविध प्रकार के देह अस्तित्व में आये हैं और कर्म प्रकृति का स्वरूप है, धर्म है।

इस संसार के विस्तार को इस दृष्टि से देखने पर यह आभास होता है कि जो कुछ है वह कर्म है, गति है, सक्रियता है जो समूचे चेतन-अचेतन, स्थावर-जंगम पदार्थ समूह को स्थिर नहीं रहने देता। मनुष्य बाहरी तौर पर निष्क्रिय-सा दिखने पर भी सूक्ष्म रूप से मानसिक संसार में क्रिया रत है तो अचेतन धातु या पत्थर जैसे पदार्थों में विद्यमान परमाणु सक्रिय हैं उनकी गति वास्तव में स्थूल पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त तीव्र है। भौतिक विज्ञान के विकसित स्तर में भी इस सूक्ष्म गति को स्थूल रूप देकर दूर संचार, नियंत्रण एवं प्रक्षेपण जैसे रूपों में प्रकट किया गया है।

कर्मवाद का यह विस्तार और परिज्ञान व्यक्ति को कर्मवादी तो बनाता है पर नास्तिक नहीं बनाता क्योंकि यह शक्ति परम पवित्र है, अकल्पित क्षमतावाली है और मनुष्य के लिए ज्ञेय व आराध्य है।

जिस वातावरण में हम रहते हैं उसके मर्म को समझने की योग्यता आने पर हमारी मान्यतायें भले ही न बदलें पर उनके स्वरूप और आयाम बदल जाते हैं। ये पेड़ हमें दो तरह का रहस्य समझाते हैं एक यह कि वे कर्मवाद के चक्र में फंसकर अत्यन्त सीमित होकर रह गये हैं। अपने आक्रामक के प्रति वे हिंसक होना तो दूर आत्मरक्षा करने लायक भी नहीं हैं, वे जो कुछ पैदा करते हैं उसका स्वाद और उपभोग करने की

भी सुविधा प्रकृति ने उनको नहीं दी है इसलिए वे केवल संवेदनशील हैं, विकसित नहीं हैं। ऐसी ही स्थिति एककोशीय जीवों की है। इससे आगे पशु आते हैं जिनका स्वर, क्षमता, चिन्तन की सीमा ओर संवेदनशीलता वृक्षों की अपेक्षा विकसित अवश्य है पर वह भी सीमित ही है। इससे आगे मानवीय सृष्टि आती है जो संधिस्थल के रूप में मानी जाती है। इस देह के सन्तुलित वातावरण और व्यवस्थित संरचना के आधार पर यह माना जा सकता है कि इसमें निम्नतर और उच्चतर दोनों ही प्रकार की स्थितियाँ सूक्ष्म रूप में मौजूद हैं, वह स्वतन्त्र भी है और परतन्त्र भी। अपने में छुपी उच्चतर स्थितियों को भी वह निखार सकता है तो निम्नस्तर की परिस्थितियों को भी जी सकता है। यह सारा अविकसित और विकसित का रहस्य कर्मवाद का संकेत करता है।

कई बार प्रश्न उठता है कि प्रकृति को एक सन्तुलन ही जब बनाये रखना है (वर्षा में जलमय हो जाना, गर्मी में सूख जाना, कार्बन-डाई-आक्साइड को प्राणवायु में परिवर्तित करने की स्वाभाविक क्रिया जैसी बातें) तो फिर यह विस्तार क्यों किया गया ? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर भी गति और क्रियाशीलता से मिल जाता है अर्थात् जब प्रकृति गति किंवा शक्ति स्वरूप है तो उसमें विस्तार और परिवर्तन नैसर्गिक रूप में आयेंगे ही और ऐसा होने पर हम और हमारा संसार उस प्रकृति के खेल के आवश्यक उपकरण बन जायेंगे। "जो कुछ है—प्रकृति है" विश्व के सारे ज्ञानी-विज्ञानी इसी तक पहुंच पाये हैं फिर चाहे वह सांख्य दर्शन का महत् तत्व है या एकोऽहम् बहुस्याम का वाक्य है या विज्ञान का महापिंड सिद्धान्त है।

विकास भी प्रकृति का ही धर्म और स्वरूप है जैसे शक्ति मूलरूप में शक्ति है। उसकी अभिव्यक्ति, आकर्षण-विकर्षण (अट्रैक्शन—रिपल्सन), सर्जन-संहार (क्रीयेशन डैस्ट्रक्शन) जैसे किसी भी रूप में हो वैसे ही प्रकृति मूलरूप में प्रकृति है वह नीचे को ऊपर खींचती है और ऊपर वाले को नीचे धकेलती है, फिर भी प्रकृति ही है।

पुनर्जन्म और देवलोक पर विश्वास रखने वाले देशों का दर्शनशास्त्र यह इंगित करता है कि देव योनियाँ, भोग योनियाँ भले ही हों। पर हैं, मनुष्य से उच्चतर ही। कारण भी है—मानव देह या अन्य प्राणी वर्ग को प्राणवायु की आवश्यकता रहती है और प्राणवायु का सन्तुलन बनाये रखने के लिए ठोस आधारों की आवश्यकता रहती है इसलिए इतने जटिल और विस्तृत देह की आवश्यकता पड़ती है और उसे सक्रिय बनाये रखने के लिए आहार और विसर्ग की व्यवस्था करनी पड़ती है यदि इन पाँच तत्त्वों में से किसी भी तत्त्व को कम करके (स्वाभाविक है, यह कमी परतर तत्त्वों से ही शुरू होगी) क्रियारत हुआ जाय तो इससे कम आकार वाले देह से ही काम चल जाएगा और उसमें शक्ति अधिक रहेगी। भौतिक विज्ञान की माइक्रो पद्धति इस विचार को भौतिक स्तर पर स्थापित करती है। देवता लोक भी अधिक शक्ति सम्पन्न होते हैं क्योंकि उनकी देह में पृथ्वी और जल जैसे भारी तत्त्व सूक्ष्म रूप से रहते हैं इसलिए इन देहों को मनुष्यों की तरह न ठोस और तरल पदार्थों का आहार चाहिंए न पेड़ों की तरह विशाल शरीर चाहिए। परिवर्तन की प्रक्रिया यों तो गति के साथ जुड़ी रहने के कारण सारे संसार में हो रही है किन्तु उसका प्रत्यक्ष और परिणामगत रूप पार्थिव स्तर पर अधिक स्पष्ट रूप से देखा

जाता है। आकाश या वायु जैसे गैसीय और अमूर्त स्तरों पर परिवर्तन की गति तीव्र अवश्य है पर उसे चाक्षुष रूप तेजस्तत्व की शर्तें पार कर लेने के वाद ही मिल पाता है।

विज्ञान की रसायन शाखा, भौतिक शाखा या भूगर्भ विभाग हमें नजरवन्दी की अवस्था में ला देते हैं और हम असहाय भाव से इस संसार का वही रूप उसी तरह देखते हैं जिस तरह से यह विज्ञान दिखलाना चाहता है। मनुष्य की फेस वेल्यू और इंसिटक्ट वेल्यू में (पदार्थगत और चेतनागत मूल्य) कोई तारतम्य वैठता ही नहीं। अगर रसायन शास्त्र के अणुवीक्षण से मानव देह को देखें या मूल्यांकन करें तो इसका न कोई विशेष मूल्य है, न महत्त्व। किन्तु इसमें जो कुछ हो रहा है उसे तात्त्विक रूप में देखें तो विस्मय विमूढ़ हो जायेंगे। प्रतिपल पाँच करोड़ कोशिकाओं का जन्म और विनाश, लाखों करोड़ों वाट विजली का उत्पादन और विसर्जन जैसी अनेक अद्‌भुत क्रियाएँ इस शरीर में प्रति क्षण होती रहती हैं। इनका अनुमान लगाकर इनका अनुसंधान करने से हम कुल मिलाकर स्थूल स्तरों में ही भटकते रहेंगे। वह विन्दु हमारे लिए अज्ञात ही रह जाएगा जो इतने बड़े विस्तार को नियन्त्रित करता है और गतिशील रखता है।

भौतिक विज्ञान इन पिण्डों के गुरुत्वाकर्षण, भार, वातावरण, ऊर्जा आदि के नाप लेता है क्योंकि इससे अधिक न वह ले सकता है, न लेना चाहता है। इसके समानान्तर भारतीय दृष्टि इनको सचेतन मानकर इनके प्रभावों का विश्लेषण करती है क्योंकि ये प्रभाव (जो ज्योतिष एवं मंत्र शास्त्र के विषय हैं) व्यक्ति के चेतन को यद्यपि प्रभावित नहीं करते फिर भी वे उसकी कार्यकारिणी शक्ति की दिशा का संकेत अवश्य करते हैं।

कई वार यह आश्चर्य हमें किंकर्त्तव्य विमूढ़ता की स्थिति में ला देता है। हम प्रश्नों में उसी तरह फँस जाते हैं जैसे एक मकड़ी अपने वुने जाल में। संसार को समझने के लिए उसके वाहरी विस्तार और स्थूल परतों को हम श्रद्धा और ज्ञान के सहारे समझने की कोशिश करते हैं लेकिन प्रश्न हमारा पीछा नहीं छोड़ते और हम एक मार्ग, एक माध्यम पाने के लिए छटपटाते हैं जिसके सहारे इन प्रश्नों के कुहरे के पार झाँक सकें?

आध्यात्म के जितने मार्ग वतलाये गये हैं वे सव इसी रहस्य का उद्‌घाटन करने वाले हैं और विश्व के अधिकांश धर्मों का मर्म और उनको जीवन में अपनाने की विधि एक-सी ही है, भिन्न हो भी नहीं सकती। यह एक भिन्न वात है कि कुछ लोग उसको कर्म और आचरण से शुरू करते हैं और कुछ लोग उसे विल्कुल अनुभूति के स्तर से। भक्तियोग अपना सब कुछ अपने आराध्य के अर्पित करने की वात करता है, बिना शर्त सम्पूर्ण समर्पण का उपदेश देता है उसमें आचरण, आहार और कर्म की वात गौण हो जाती है क्योंकि इस विधि में व्यक्ति उसके लिये समर्पित होता है जिसमें सब कुछ है और जिसमें निन्दनीय नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। स्वाभाविक है, ऐसी मन:स्थिति प्राप्त करने पर व्यक्ति आचार-विचार पर ध्यान दिये विना भी निर्मलता को प्राप्त कर लेगा। वास्तव में आहार, विचार और क्रिया एक प्रकार की आधार भूमि और संचारक शक्ति की पीठिका हैं जो प्रारंभिक वातावरण हैं, जिनका प्रारंभिक और स्थानिक महत्त्व है।

किन्तु जब व्यक्ति इस स्तर से ऊपर उठ जाता है तो इनका महत्त्व भी क्षीण हो जाता है।

भक्तियोग जैसी विधियाँ व्यक्ति को अनुभूति शून्य नहीं बनातीं। अनुभूति शून्यता यहाँ एक ऐसा मध्यविन्दु माना गया है जो जैविक चेतना और परचेतना की मध्यभूमि है, अर्थात् व्यावहारिक जीवन में जब हम किसी भी अनुभूति के अतिरेक में पहुँच जाया करते हैं और अपने आपको चेतना शून्य-सा अनुभव करते हैं, वह जड़ता क्षणिक होती है और उसके टूटने पर हम फिर दृश्य वातावरण में और मानसिक संसार में लौट आते हैं। यह अनुभूति हमें सुख के अतिरेक से परिचित कराती है। आनन्द, यहाँ आभास रूप में रहता है जबकि परमानन्द के वास्तविक स्वरूप को पहचानने-प्राप्त करने के बाद अनुभूति से कोई सम्पर्क नहीं रहता। इसी स्थिति को मुक्ति कहा जाता है और आज तक का सारा दार्शनिक चिन्तन मुक्ति के ही इर्द-गिर्द घूमता रहा है।

दर्शन के शब्दजाल से भी हमें थोड़ा सन्तोष मिलता है पर वह सन्तोष भी सुखानुभूति से अधिक नहीं होता कारण कि अनेकानेक प्रश्नों का समाधान ढूंढ़ने और अनुभूति किंवा ज्ञान के गहन स्तरों को जानने-समझने में हमारी बुद्धि को जो अलक्षित व्यायाम करना पड़ता है अथवा जिन बौद्धिक तनावों को भोगना पड़ता है उनसे मुक्त होने की स्थिति अधिक से अधिक 'सुखद' ही हो सकती है। अन्त:करण के नाम से जानी जाने वाली वस्तु मन, बुद्धि और चित्त का समन्वित रूप है। इसमें तर्क, प्रतीति और चेतनता, किंवा, विवेक जैसी त्रिवेणी रहती है। चेतन की स्पष्ट और ज्ञेय सत्ता, इसी बिन्दु पर प्रकट होती है और यह 'करण' होने के कारण प्रकृति की क्रिया शक्ति से अभिप्रेरित होता है। तीनों अंगों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं और तीनों का बोध समवेत रूप में होता है।

वस्तुत: ज्ञान, चेतना या अनुभव के स्तर पर चिन्तन को केन्द्रित कर देना मुक्ति नहीं है, क्योंकि उसे अन्त:करण पर केन्द्रित करने से व्यक्ति बाहर से कटकर भीतर जीने लगता है। चिन्तन का क्षेत्र ही बदलता है, चिन्तनहीनता की स्थिति नहीं आ पाती। जबकि मुक्ति जैसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए बंधन के हल्के और गहरे सभी तरह के कारणों से ऊपर उठना आवश्यक होता है और यह सब प्रायोगिक मार्ग है। चिन्तन को प्रयोगधर्मा और व्यावहारिक बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक रहता है कि अनुभूति को जो कुछ उदात्तरूप में प्राप्त होता है उसमें रमा न जाय, उससे ऊपर उठा जाय क्योंकि अन्तत: मुक्ति के क्षेत्र में अनुभूति भी निरर्थक हो जाती है।

यह स्थिति काल्पनिक नहीं है बल्कि वास्तविक और अन्तिम है जिसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रकृति, स्वाभाविक रूप से कृतसंकल्प है और जहाँ विश्व प्रकृति को अन्ततोगत्वा लीन हो जाना है। यहीं से यह विस्तार प्रारम्भ हुआ था और यहीं उसका समापन होगा।

इस स्थिति को प्राप्त करने के नाम पर जो कुछ भी बताया गया है वह वास्तव में, इस स्थिति को प्राप्त करने में जो अवरोध हैं उनको दूर करने का, प्रकार हैं अन्यथा वह स्थिति अपने मूल रूप में शाश्वत और अविकृत है। हम अपने बाह्यकरण (शरीर और इन्द्रियों) तथा अन्त:करण पर छाये अवरोधों के कुहासे पर विचार ही नहीं करते

क्योंकि उस मुक्त स्थिति की कोई परिकल्पना हमें व्यावहारिक एवं संगत रूप में दी ही नहीं जाती। हम इतने भयंकर बंधनों से बंधे रहते हैं जिन्हें बंधन के रूप में देख-मान ही नहीं सकते। भौतिक विज्ञान अगर प्रमाण देकर हमें यह नहीं समझाता कि हमारे ऊपर वायुमण्डल का भार तीन हाथियों जितना है या धरती का आकर्षण हमें धरती की सतह से चिपकाए हुए है—तो हम इन भौतिक बन्धनों को ही नहीं पहचान पाते।

कर्मवादी और ईश्वर विश्वासी विचारधारा यद्यपि वातावरण के स्थूल आधारों पर अधिक विश्लेषणात्मक दृष्टिपात नहीं करती किन्तु इन बन्धनों को वह बिल्कुल सूक्ष्म और चेतन आयाम से देखती है और वह शक्ति को अवराधक स्तर पर भी शक्ति ही मानती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो तनाव उत्पन्न करती हैं वही उससे मुक्त भी करती हैं। जो इन्द्रियाँ या मन आकांक्षा से प्रेरित होकर एक प्रकार की कुण्ठा से ग्रस्त होते हैं उसका निराकरण करके मुक्त भी वे ही होते हैं। ये बिलकुल सतही व्यवहार हैं और हमें सामान्य अवस्था में ये इतने स्वाभाविक लगते हैं कि इनके बिना हमारा जीवन खाली-खाली-सा लगने लगता है। इस बात की तुलना हम नारी से करते हैं जो गर्भधारण करती है और प्रसव करती है, फिर गर्भवती होती है और फिर जन्म देती है। सृष्टि का यह क्रम इतना परिचित और व्यापक है कि यदि कोई स्त्री सन्तान उत्पन्न नहीं करती तो उसे अपना जीवन रिक्त और व्यर्थ लगता है। (यह भिन्न बात है कि आज की पीढ़ी सन्तान उत्पन्न करने को खतरनाक समझकर दूर भागती है फिर भी वह अपने मातृत्व को या कुण्ठा और तनावों को भूल नहीं पाती, उनको दिशान्तरित कर देती है। यहाँ भी कुण्ठायें और तनाव उसका पीछा नहीं छोड़ते, अन्तर यह रहता है कि अब उनका रूप और स्वरूप बदल गया होता है) हम भी ऐसे तनावों को उत्पन्न करने, सहने और सुलझाने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि ये हवा और पानी की तरह हमारे जीवन की अनिवार्य आवश्यकता बन गए हैं।

तनावमुक्ति के लिए संसार से घृणा करने या दूर भागने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक हम चाहते हैं। इसका स्वरूप अच्छा या बुरा केवल हमारी विचारशक्ति और दृष्टिकोण के आधार पर बनता है। संसार को छोड़कर किसी जंगल के कोने या पर्वत की गुफा में जा बैठना अत्यन्त दुष्कर ही नहीं श्रेष्ठ कार्य भी है किन्तु यहीं इस दुनिया के कोलाहल में पर्वतीय कन्दरा जैसा एकान्त और गंगा के मूल स्वरूप जैसी निर्मलता प्राप्त करना भी असंभव नहीं है। दुनिया छोड़कर भटकने पर भी यदि यह एकान्त और निर्मलता नहीं मिलती तो सारा ज्ञान, सारा प्रयत्न, सारा जीवन व्यर्थ हो जाता है इसलिए किसी एकान्त में या एकान्त के लिए समाज से दूर चले जाने का खतरा उठाना जोखिम का काम है।

तन्त्र मार्ग इस स्थिति को यहीं, इसी परिवेश में, इन्हीं उपभोगों के बीच प्राप्त करने का मार्ग बताता है पर इसके लिए वह सबसे पहले व्यक्ति के चिन्तन को सूक्ष्मवादी और तटस्थ बनाने की बात कहता है। तन्त्र मार्ग में रूसों से अधिक प्रकृतिवाद है और सारी पश्चिमी सभ्यता का उपभोगवाद है। भारतीय जीवन पद्धति में निषेधों के जरिए खड़ी की गई दमनवृत्ति की बाड़ उसमें नहीं है बल्कि अपने आपको सम्पूर्ण रूप से प्रकृति

को अर्पित कर देने की उन्मुक्तता उसमें है। यह जितना वाहर से आनन्ददायक दिखता है उतना ही दुष्कर भी है क्योंकि प्रकृतिवादी बनकर उपभोग करने से पहले हमारे मन और चिन्तन को इन उपादानों का वास्तविक स्वरूप समझना पड़ता है।

तन्त्र मार्ग भी समारम्भ जुटाता है, तान्त्रिक विधि के अनुष्ठानों में भौतिक साधन इकट्ठे किए जाते हैं किन्तु इनका प्रयोग व्यक्ति को एकान्तिक स्थिति में ले जाकर निर्मल करने के लिए किया जाता है।

आशय यह है कि शक्ति के अवरोधक साधनों को जुटाकर उनका उपयोग करते हुए हम साधन के रूप में पहचानते हैं। निस्सन्देह रूप से, अवरोधकता वदलने पर हम अपनी ओर अभिमुख होते हैं और यह सव निर्मल होने की प्रक्रिया है।

अवरोधों को या शक्ति के अवरोधक रूपों को हम 'मल' के रूप में मानते हैं और प्रारम्भिक स्तर पर जो कुछ भी किया जाता है वह स्थूल मलों को दूर करने की प्रक्रिया है। मलों का विस्तार वहुत व्यापक है और हम हमारे आत्मस्वरूप को जानने से पहले तक इन मलों को ही साफ करते रहते हैं।

व्यवहार में भी जव हम बीमार पड़ते हैं तो गन्दगी या गन्दगीजनित अव्यवस्था को ही भोगते हैं जिसको दूर करने के लिए प्राकृतिक चिकित्सा करने वाले उपवास आदि से उन मलों को दूर कर देते हैं। प्रकृति अपने आप में निर्मल है और निर्मल ही रहना चाहती है पर मलयुक्तता भी प्रकृति ही होती है जो विकृत रूप है। प्रकृति अपने स्वाभाविक स्वरूप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करती है लेकिन हम उसके स्वभाव को मूल रूप में पहचान नहीं पाते।

मुक्ति का दार्शनिक पक्ष

वैदिक ऋचायें कहती हैं—"···**धी महि धियो योनः प्रचोदयात्**"—"**तेजोऽसि तेजोमयि धेहि, बल मसि बलं मयि धेहि।**" इसके पश्चात् उपनिषद् काल में तत् और अहम्, माया और मायातीत पर विमर्श होने लगता है, इसके भी बाद शिव और शिवा की स्थापना होती है।

मूलतः ये सारी उपलब्धियाँ व्यक्ति और व्यक्ति से इतर, दृश्य और अदृश्य, ज्ञेय और अगोचर के ज्ञान के साथ ही अस्तित्व में आती हैं। व्यक्ति अपने परिवेश को और समस्त को जव क्रियारत देखने लगा तो आश्चर्यमुग्ध होकर उसने एक अदृश्य अथवा अरूप की स्थापना कर डाली। निश्चय से यह स्थिति जव आई होगी तो व्यक्ति को एक भीषण मानसिक द्वन्द्व से मुक्ति मिली होगी क्योंकि संसार में अव्याहत रूप से व्याप्त द्वित्व का एक पक्ष उसके लिए अज्ञात था और इस परिकल्पना के साथ वह निगूढ़पक्ष गम्य हो गया था।

जिज्ञासु जहाँ वैदिक ऋचाओं में किसी अन्य सत्ता से तेज और वल की याचना करता है वहाँ उपनिषद् काल में वह उसी शक्ति को अपने में अनुभव करके तत से

अहम् के बीच अवस्थित एकत्व का ज्ञान करता है। इसी का रूपान्तर तन्त्र युग में शिव—शिवा के द्वित्व और एकत्व में प्रकट होता है।

व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता से परिचित होते ही जितना अपने अस्तित्व के प्रति मोहशील हो जाता है उतना ही वह अपनी सीमाओं को जानकार भी हो लेता है। ये सीमायें उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करती हैं क्योंकि वह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होना चाहता है। उसकी यह लालसा ही मुक्ति की कल्पना देती है और लालसा प्रेरित होकर वह मुक्ति की सिद्धि करना चाहता है।

मुक्ति वन्धन का दिशाबोध है। जब अपने से और अपनी इच्छाओं से असीम मोह रखने वाला व्यक्ति लोक प्रकृति की शक्ति और व्यवस्था को देखता है तो उसे अपनी हीनता का बोध होता है, वह यह मानने को बाध्य हो जाता है कि उससे बड़ी एक व्यवस्था है जो उसे नियन्त्रित करती है, उस व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसी घटनायें और क्रियायें भी होती रहती हैं जो उसे नहीं रुचती। परिणाम यह होता है कि वह व्यवस्था के शासन से अरुचि रखने लगता है और सुप्त या जागृत, उग्र या मन्द संघर्ष करने लगता है।

संघर्ष इतना सरल नहीं होता, न संघर्ष का क्षेत्र इतना सीमित होता है कि वह थोड़ा बहुत साहस व प्रयत्न करके जीत जाए। जितना अधिक बलप्रयोग वह करता है प्रकृति का अनुशासन उतना ही दुर्धर्ष होता जाता है, वह जितना यह समझता है कि व्यवस्था की दुरूहता को समझने लगा है उतनी ही जटिलता बढ़ती जाती है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि मुक्ति असम्भव है। वह स्थिति सम्भव है क्योंकि वह है और वह "है" इसलिए कि बन्धन है, व्यवस्था का अनुशासन है। तेजस् या बल की याचना करने वाले ये वाक्य परमार्थतः बन्द गजद्वार को पराक्रम से खोलने का संकल्प हैं।

संघर्ष, क्रिया की अभिव्यक्ति है और क्रिया, प्रकृति का स्वरूप है। प्रत्येक अणु संघर्परत है किन्तु वह अवशभाव से क्रियाशील है। संघर्ष प्रकृति से विमुख होकर किया जाय या अभिमुख होकर किया जाय, उसका लक्ष्य प्रकृति से आगे या प्रकृति के ही परतर स्तर पर जाना हुआ करता है। जो लोग किसी प्रयोजन विशेष से कोई अनुष्ठान करते हैं वे भी प्रकृति के उच्चस्तर को साधने—पाने को कोशिश करते हैं क्योंकि वही स्तर अपेक्षित परिवर्तन कर सकता है। जो लोग बिना किसी सांसारिक कामना के साधना करते हैं वे तो पूर्णतः उच्चस्तर को प्राप्त करने की ही चेष्टा करते हैं।

व्यक्ति अपने स्वरूप ज्ञान के समय जिस स्तर को प्राप्त करता है वह व्यक्ति स्तर है जो नितान्त नियमबद्ध और कठोर अनुशासित है किन्तु इसके साथ ही उसे यह भी ज्ञान हो जाता है कि उसमें विद्यमान शक्ति जिस सत्ता से अनुशासित है उसी को उदात्त करके अधिक शक्ति-सम्पन्न किया जा सकता है। अगले स्तर पर वह लोक प्रकृति को देखता है जो उसके इतस्ततः बिखरी हुई है और वह स्वयं उसका एक अंग है। लोक प्रकृति से आगे विश्व प्रकृति और परा प्रकृति के क्षेत्र हैं जिनका परिचय लोक प्रकृति के क्षेत्र को पार करने पर ही प्राप्त किया जा सकता है।

हम देखते हैं कि संघर्ष प्रकृति का धर्म है किन्तु इस संघर्ष का न वास्तविक रूप हम देख पाते हैं, न इसका लक्ष्य ही समझ पाते हैं इसलिए हमारा जीवन और जीवन के सारे उपकरण बहिर्मुख रह जाते हैं और जीवन हमें जीने लगता है। इसका दूसरा रूप हम ब्रह्मवादी और मायाविरोधी दर्शन में देखते हैं जहां व्यक्ति प्रकृति की उपेक्षा और अवमानना करके संघर्ष जीतना चाहता है। चिन्तन के गहन स्तर पर ऐसे संघर्ष से कुछ मिल जाता हो—यह दूसरी बात है अन्यथा प्रकृति का लोक पक्ष व्यक्ति के दैहिक स्तर पर उभरने लगता है, लोक प्रकृति की प्रेरणा, इच्छा और अनुशासन, व्यक्ति प्रकृति को मथने लगते हैं परिणामस्वरूप चिन्तन को यथार्थ की भूमि पर आना पड़ता है और संघर्ष को फिर वहीं से प्रारम्भ करना पड़ता है। पुराणों के आख्यान ऐसी प्रक्रियाओं का संकेत करते हैं।

तन्त्र मार्ग संघर्ष करता है, करना है इसलिए नहीं, बल्कि संघर्ष जीवन का लक्ष्य और प्रकृति का सन्देश है—इसलिए। यह संघर्ष विमुखता का संघर्ष नहीं है, परस्पर पीठ रगड़ने की क्रिया नहीं है बल्कि अभिमुख संघर्ष है। इस संघर्ष में चुनौती नहीं है, घृणा नहीं है, मन्थन नहीं है, क्योंकि न यह निषेधवादी, न विरोधजीवी या पराङ्मुख ही है। समर्पित भाव का, स्नेह और मोह का, मिथुन का परस्पराभिमुख संघर्ष है जिसका हर प्रकार, जिसकी प्रत्येक मुद्रा प्रकृति से एक रूप हो जाने की, एक स्तर से दूसरे स्तर पर स्वाभाविक रूप से चले जाने की विधि है।

प्रकृति अपनी गति से चल रही है और हम अज्ञात भाव से उसके शासन को मानते—पालन करते चले जाते हैं तो जिस समय मुक्ति होगी उसी समय हम मुक्त हो सकेंगे (संभव है यह समय प्रकृति का विश्रान्ति काल हो क्योंकि उसी समय सारा संसार क्रिया शून्य हुआ करता है किन्तु यह मुक्ति नहीं विराम है और प्रकृति स्वतः इसी स्थिति को प्रदान करती है) इसके विपरीत हम उन इंगितों और सन्देशों को समझ पायें जो प्रकृति के द्वारा प्रच्छन्न और प्रकट भाव से किये जा रहे हैं तो शायद हम अपनी गति को तीव्र कर सकते हैं।

तान्त्रिकों का वामाचार मिथुन भाव को उस सीमा तक मानता है जहाँ द्वित्व, द्वित्व रहकर भी एक हो जाता है। यहाँ वैष्णवी दर्शन का एकत्व नहीं है प्रत्युत द्वित्व का एक दूसरे में अन्तर्भाव हो जाने वाला रूप है। प्रकृति की प्रतीक—नारी—को इसमें हेय नहीं माना जाता, पूज्य माना जाता है और पुरुष उससे पीठ मोड़कर नहीं भागता, आमने-सामने होता है। नारी के माध्यम से लोक प्रकृति का परिचय प्राप्त करता है। उसकी समस्त चेतना, उसकी समग्र संवेदना लिंग में केन्द्रित होकर लोक के प्रतीक योनि विवर में लीन हो जाती है। सामान्य स्थिति में तीव्र रूप में क्रियाशील लोक प्रकृति अभिमुख संघर्ष में अपनी क्रिया मन्द कर देती है। मिथुन कर्म में रत नारी जिस तरह शिथिल क्रिय होकर पुरुष को यथाशक्ति क्रियाशील किये रहती है।

वामाचार भी वेदों के उत्स में फूटता है 'तेजोऽसि तेजो मयि धेहि' वाली कामना जब व्यक्ति को प्रेरित करती है तो एक आकांक्षा, एक जिज्ञासा उसके मेरुदण्ड से होती हुई उपस्थदण्ड में प्रवेश करती है और वह व्यग्र भाव से आन्दोलित होने लगता है ऐसे

समय जब नारी का सम्पर्क मिलता है तो वह याचनाशील होकर उसको समर्पित हो जाता है। उपनिषद् काल का 'सोऽहम् ब्रह्मास्मि' वाला महावाक्य उस समय अहम् का तत् से साक्षात्कार कराता है और फिर प्रारंभ होता है मैं और वह में विद्यमान एकत्व को पाने-पहचानने का सुकुमार प्रयास, नर्म संघर्ष।

व्यावहारिक जीवन में जिस विसर्ग सुख को प्राप्त करने के लिए हम मैथुन करते हैं उसका वास्तविक रूप और उसके बहाने दिया जाने वाला प्रकृति का सन्देश यही है पर हमारी चेतना देह से, क्रिया के बहिरंग फल व प्रेरणा से आगे बढ़े तब न ? जिस तरह हमारे श्वास के आगम-निर्गम में हं सः, सोऽहम् का महावाक्य स्वाभाविक रूप में ध्वनित होता रहता है और हम उसे सुन नहीं पाते उसी तरह देहधर्म किंवा शारीरिक आकांक्षा के रूप में व्यक्त मैथुनी संसार के रहस्य को भी समझ नहीं पाते। अभिमुख या पराङ्मुख संघर्ष तो दूर नैसर्गिक संघर्ष के रहस्य को भी नहीं जानना चाहते। जिस क्षण हमारी दृष्टि यह देखने लग जायगी, प्रकृति का प्रत्येक व्यापार रहस्यपूर्ण दिखेगा और हर रहस्य खुलता हुआ-सा। यही लोक प्रकृति का साक्षात्कार सिद्ध होगा।

तंत्र और सैक्स

सांसारिक व्यवहार में मैथुन एक आवेग है जो सम्पूर्ण देहधारियों में एक उत्प्लावक बल की तरह प्रकट होता है और व्यक्ति का देह प्रकृति प्रेरित होकर एक सीमा तक क्रियाशील होकर शिथिल हो जाता है। भौतिक दृष्टि से इस आवेग की विराट्ता को देखने वाले फ्रायड् ने इसे समस्त कार्यकलापों की मूल प्रेरणा माना है पर तंत्र इसको भौतिक माध्यम तक ही मानता है, साध्य नहीं। फ्रायड् सैक्स के मूल बिन्दु और विस्तार का निरीक्षण करता है और इसकी प्राकृतिक शक्ति के समक्ष हतप्रभ-पराभूत-सा हो जाता है, वह इसके उदात्तीकरण की कल्पना कर सकता है निश्चित विधि नहीं बता सकता और यहाँ तक हरेक भौतिकवादी पहुँच जाता है।

दोलक (Pandulom) की तरह चरम तक पहुँचने के बाद आवर्तन शुरू हो जाता है। जो व्यक्ति हिमालय पर चढ़ते हैं वे सदा-सदा हिमालय के शिखर नहीं बने रह सकते, एक नियत समय के बाद उनको उतरना पड़ता ही है, उस स्थापित एकत्व को द्वित्व में बदलना पड़ता ही है। सैक्स की शक्ति व्यक्ति की समग्र चेतना और क्रिया को एकस्थ करके, अपने आपको व्यक्त करके लुप्त हो जाती है और यह ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति मिश्र के पिरेमिड पर चढ़ा दिया जाय और उतरना उसके लिए आवश्यक हो जाय। यह मैथुन का सांसारिक रूप है. यह प्रकृति का धर्म है, यह सृष्टि के नाभिक की अनिवार्य क्रिया है। इसमें व्यक्ति माध्यम बनकर प्रकृति के सहज धर्म में जुड़ जाता है और प्रकृति अपनी उत्तेजना देकर शान्त हो जाती है परिणामस्वरूप यह मैथुन दुःखान्त बन जाता है।

किन्तु इस मैथुन को सुखान्त बनाने की भी विधि है। हम प्रकृति के धर्म निर्वाह

का माध्यम बनें इसके वजाय हम इस माध्यम के जरिये प्रकृति के उच्चतर स्तर को प्राप्त करने की कोशिश करें तो यही संभोग हमारा उपभोक्ता न रहकर हमारे लिए जीवनीय वन जाएगा। हम इसका विनियोग करने की दिशा में उपयोग करें तो यह दुःखान्त न होकर आनन्द-मार्ग का सर्जक वन जायगा। स्थिति वस्तुतः इस तरह की होनी चाहिए कि जैसे एक शिल्पी किसी मन्दिर के शिखर पर कलश स्थापित करने के लिए जाता है या कोई व्यक्ति गिरिशिखर पर ध्वजा गाड़ने के लिए चोटी पर चढ़ता है। निश्चय से ऐसी स्थिति में शिखर और व्यक्ति का द्वित्व अक्षुण्ण वना रहता है किन्तु उसे एकत्व का आभास शुरू से आखिर तक बना रहता है, शिखर पर चढ़ते समय वह जिस तरह सन्तु-लित पदक्षेप से चला था उसी तरह उतरते समय भी अविकृत रह सकता है।

संभोग का माध्यम 'हमारा शिश्न' हमारे देह, प्राण और चेतना को दुःखान्त वनने के लिए सुख के चरम उत्कर्ष तक ले जाय इसकी अपेक्षा हम उस पर अन्तरिक्षयान की तरह बैठकर चन्द्रलोक की यात्रा करें तो कितना उपयोगी और सार्थक रहे—यह व्यापार। किन्तु ऐसा होता नहीं है हम अपने आपको उसके समर्पित कर देते हैं। हम स्वयं की मानसिकता का उपभोग अधिक करते हैं, सामने वाले की—नारी की—कम।

संभोग की स्थिति निरन्तर-गति नहीं होती, बिजली के प्रवाह की तरह प्रति-रोधयुक्त गति होती है वह (रति क्रिया) त्रिभुज के रूप में ही सक्रिय होती है, वर्तुल या विन्दु रूप में नहीं। यद्यपि यह प्रतिरोधक रेखा उपेक्षणीय (Negligible) है तो भी यह तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि ऐसी गति आनन्द की नहीं होती आनन्द की शाश्वत स्थिरता शून्य जैसा सूक्ष्मतम किंवा महत्तम वर्तुल है इसलिए संभोग से आनन्द की प्राप्ति तभी संभव है जब हम उसे वर्तुल स्वरूप दे सकें।

तंत्र में पृथ्वी का प्रतीक चतुष्कोण माना जाता है अर्थात् धारणीय शक्ति का प्रतीक चतुरस्र (Square) ही हो सकता है। हम लोगों—विकसित देह, कल्पना और ज्ञानशक्ति वाले मनुष्यों व अन्य प्राणियों में—जहाँ धारणीय शक्ति का प्रश्न आता है वहाँ चतुर्भुज स्वरूप प्रकृति की तरफ से नियत है। नारी, जो सृष्टि करती है, का अथवा नर का मध्य भाग कन्धे से लेकर कटि प्रदेश पर्यन्त चतुष्कोणी आकृति का होता है। यह ज्योतिष में द्वितीय द्रेष्काण कहलाता है। लोग यह कल्पना मनोरंजन के लिए कर सकते हैं कि हमारी जननेन्द्रिय किसी अन्य स्थान में होती तो क्या और कैसा होता तथा कैसा लगता ? इस कल्पना को हम बिल्कुल वायवीय और मूर्खता कह सकते हैं पर यह असंभव नहीं है किन्तु इसके साथ यह भी आवश्यक हो जाता है कि जिस भी किसी जगह इन अंगों को लगाया जाता तो उसके चतुष्कोण होने की शर्त भी पूरी होती ही और ऐसा चतुष्कोण अन्यत्र नहीं है। इसलिए इन अंगों का अन्य स्थानों पर प्रत्यारोपण या उद्भव संभव नहीं हो सकता। हमारी देह तीन भागों में विभक्त है। पहला मूर्धा, दूसरा कवंध, तीसरा अधोदेश नीचे का प्रदेश या ऊपर का प्रदेश चतुष्कोणिक नहीं बनता। व्यक्ति जब चलता है तो त्रिकोणमितीय पद्धति से कार्य करता है और उसका मस्तक कन्धों के कोण को आधार एवं शिखा को मध्यबिन्दु मानने पर त्रिकोण की रचना करता है। हमारा कवंध चतुष्कोण है इसलिए बाह्य रूप से क्रियाशील नहीं हो सकता। आन्तरिक रूप से क्रिया-

शून्य होने की बात संभव नहीं होती क्योंकि चतुर्भुज भी अन्ततः दो बहिर्मुखी त्रिभुजों को आधार रेखा से जोड़ी गई रचना ही है।

इन दिनों सैक्स को एक अलग शीर्षक दिया जा रहा है। इस शीर्षक-सैक्स —को अभिव्यक्ति और सम्पुष्टि देने के लिए हर क्षेत्र में प्रयास चालू है। और तो और इसकी शिक्षा देने के लिए भी सोचा जा रहा है। यह प्रवाद मूलतः पश्चिम देशों से चला है और इसके पीछे जो तर्कों का आग्रह है, उसके यथार्थ ने भारत जैसे देश को भी स्वर में स्वर मिलाने की विवशता दे दी है। आश्चर्य उस समय होता है जब एक ओर विशिष्टीकरण का आग्रह किया जा रहा है, दूसरी ओर व्यक्ति के पदगत महत्व से भय-भीत हो लिया जाता है। एक व्यक्ति जो व्यापारी है वह शिक्षा के सम्बन्ध में राय देने से शिक्षा-शास्त्री मान लिया जाता है और दूसरा व्यक्ति फिल्म अभिनेता होकर अर्थ-शास्त्र की बात करता है तो उसे अर्थशास्त्री समझा लिया जाता है।

रतिशिक्षा (Sex education) की बात भी ऐसी ही विडम्बना है। भारत जैसे देश में सैक्स को शिक्षा का विषय नहीं बनाया गया बल्कि सैक्स का शिक्षा में समन्वय इस रूप में किया गया कि उसे अलग से चिन्तनीय न मानकर उसके पूर्वापर को, उसकी संगतियों और असंगतियों को प्रयुक्त किंवा विपर्यान्तर्हित रूप में समझ लिया जाय।

सैक्स व्यक्तिकृत नहीं, प्रकृतिगत व्यापार है जो व्यक्ति में अभिव्यक्त होता है। इसके दोनों ही पक्ष हैं, मानव अगर चाहे तो इससे बच भी सकता है, इसका उदात्तीकरण भी कर सकता है और चाहे तो इसमें आकण्ठ मग्न भी रह सकता है—उसके लिए ऋतु और अवस्था का बन्धन नहीं है। हाँ, न्यूनतम और अधिकतम की सीमा रेखाएं अवश्य हैं जो उसके रति प्रयोग को सार्थकता प्रदान करने वाले आयाम हैं अन्यथा, क्रिया के रूप में कोई व्यवधान नहीं है।

तन्त्र अपने आप में एक जीवन विधा है और वह विचारों की ऐसी उच्च भूमिका है जिसमें ज्ञातव्य कुछ बचता ही नहीं। संसार का समस्त ज्ञातव्य विषय वहाँ ज्ञात हो जाता है और इस अर्थ में ज्ञान शून्यता की स्थिति आ जाती है किन्तु इसमें चेतना शून्यता नहीं रहती इसलिए यह मृत या निर्जीवता की स्थिति नहीं होती। तन्त्र ने व्यक्ति की आस्था और लक्ष्यों को ठोस एवं यथार्थवादी आधार देने की चेष्टा की। अन्यथा हमारे भौतिक देह और सांसारिक आग्रहों से प्रेरित जीवन में तथा अभौतिक लक्ष्यों में अलंघ्य अन्तर व्याप्त हो गया था। नारी और यौन सम्बन्धों को हम एक मरीचिका, माया और अवरोध के रूप में मानकर गुणातीत अवस्था को प्राप्त करना चाहते थे किन्तु मानव देह में क्रियारत और अभिव्यक्त अतएव प्रेरक शक्ति का रूप नारी तथा उसके साथ हमारे सम्बन्ध (सैक्स) हमारे लिए वर्जित थे। तन्त्र से इन दोनों में सेतुबंध का काम किया।

उसका यह मानना था कि लक्ष्य जो हैं उनको जब तक जीवन में व्यवहार का विषय नहीं बनाया जाता, चिन्तन को जब तक ठोस धरातल नहीं मिलता तब तक आशंका भी रहती है, प्रयासों की सार्थकता भी शंकाकुल बनी रहती है। सैक्स को, धर्म को,

अर्थ को काम प्रेरित और देह समन्वित रूप में स्वीकार करना तन्त्र की व्यावहारिक साहसिकता थी और इसने पूर्व के दार्शनिकों की वैचारिक उच्चता एवं साहसिकता को पराजित कर दिया था। भौतिकता का तिरस्कार करने वाले धरती की गोद में आ गिरे, नारी को और भोग को हेय समझने वाले अन्ततः भोग में रम गये।

इस अर्थ में तन्त्र शायद विश्व में सबसे पहली—सैक्स का शिक्षा में समावेश करने वाली—विधा थी। यह स्मरण रखने की बात है कि भारत में शिक्षा का सम्बन्ध, तन्त्र के विकास से पहले तक, मोक्ष से रहा था और तन्त्र ने शिक्षा का उद्देश्य नहीं बदला, बदला प्रकार और दृष्टिकोण। गंभीरता से सोचने पर यह बात व्यावहारिक और तर्क संगत लगती है कि जो वस्तु बाँधती है वही खोलती है। उसे भूलने से या उसकी उपेक्षा करने से मुक्ति नहीं मिल सकती। इसलिए तन्त्र का यह सोचना अधिक युक्ति संगत और यथार्थ था कि "प्रकृति से या माया से भगो मत, नारी और देह सम्पर्क की उपेक्षा मत करो, चिन्तन का प्रकार बदलो। भोगवाद को लक्ष्य बनाकर रमो मत, रमण के आवर्त में वृत्तबद्ध मत घूमो वरन् इनको साधन समझकर आगे बढ़ो, मन की अतल गहराइयों को ढक रहे कीचड़ में लिथ कर ही निर्मलता को प्राप्त कर सकते हो। सरोवर के पंक में डूब रही कमल-मूल, उसके पत्रों को नयन-मनोहर रूप देती है और उसके लिए जीवन संचय कर रही है इसलिए नारी का, दैहिक सम्पर्कों का और भौतिक आस्वादों का केवल आधारगत और साधनपरक ही मूल्य रहना चाहिए।"

तन्त्र ने सैक्स की शिक्षा नहीं दी प्रत्युत शिक्षा में सैक्स का समावेश कर डाला और इस तरह शिक्षा भी लक्ष्य को समर्पित हो गई। तन्त्र ने निषेध पर प्रहार किया, यौन वर्जनाओं को उसने भूमिसात् किया और धर्म को एक मुक्त दिशा और विकुण्ठ क्षेत्र दिया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम-से-कम मानव ने अपने बौद्धिक विकास के साथ ही सैक्स को एकान्तिक एवं वैयक्तिक रूप दे दिया था। उसे सार्वजनिक प्रतियोगिता का विषय कभी बनाया गया हो—इसका प्रमाण नहीं मिलता। यह एक तरह से उचित भी था क्योंकि श्लील और शालीन ये दो शब्द जितने व्यापक हैं उतने ही मर्यादित भी और मर्यादा सामाजिक जीवन का अनिवार्य आधार है। किसी नारी चित्र या मूर्ति के किसी भी अंग की रचना करने में रेखाओं की जो यति होती है वह अपने आपमें पर्याप्त शालीन रहती है। उसके एकान्तिक एवं गोपन अंगों का विस्फारण (खोलना) अशालीन भी रहता है और असामाजिक अतएव अमर्यादित भी।

सैक्स प्रकृति का व्यवहार है, संग्रह और विसर्ग के चिरन्तन-क्रम में व्यक्ति उलझा हुआ है। वह न केवल संग्रह ही करता रह सकता है, न विसर्ग ही। संग्रह होता है इसलिए विसर्ग आवश्यक हो जाता है। दमन मार्ग एकांगी भाव से संग्रह पर जोर देता है इसलिए व्यतिरेक की स्थिति आती है किन्तु शमन मार्ग उनका सन्तुलन बनाता है इसलिए गिरता नहीं, भले ही चढ़ न पाये। दमन मार्ग में एक ही प्रकृति दो रूपों में विभक्त हो जाती है। एक रोकना चाहती है, दूसरी तोड़ना। कालान्तर में एक अन्तः संघर्ष उठता है और व्यक्ति का चिन्तन इस द्वैध स्थिति में ही पैण्डुलम बन जाता है।

केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रित स्थिति, उत्पन्न हो जाती है। ऐसा नहीं है कि दमन मार्ग में विशिष्ट व्यक्तियों का नामांकन नहीं किया गया हो, किया गया है और सफल विजेता के रूप में किया गया है किन्तु उनकी अपेक्षा उनकी संख्या अधिक है जो इस द्वैत में फँसकर नीचे आ गिरे।

सामान्य स्थिति में हम लोग सैक्स को एक प्राकृतिक आवेश के रूप में भोगते हैं जिसका फलित होता है कि यह आवेश हमें झकझोर देता है, हम इसके हाथ पड़कर अवशभाव से भोगे जाते हैं। प्रायः सभी लोग एक अवस्था में सैक्स समर्पित जीवन जीते हैं उनका चिन्तन और कर्म केवल सैक्स केन्द्रित हो जाता है। सैक्स के भीतर छुपी संवेदना को, हमारी शिराओं में से उठते संगीत को और रक्त प्रवाह में आ रहे ज्वार को हम बिल्कुल बहिर्मुख होकर भोगते हैं जिसे दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि यह आवेश हमें भोग जाता है।

आवेश के समर्पित होने का ही यह फल होता है कि कालान्तर में हम उससे अघा जाते हैं और इस जड़ता को तोड़ने के लिए हम क्रिया नहीं माध्यम बदलते हैं। माध्यम बदलने का यह क्रम हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है। अन्यथा क्या कारण है कि एक-सी क्रिया के लिए हमें आधार बदलने पड़ें।

गीता में वैषयिक सम्बन्धों को (सैक्स को) दुःखान्तक कहा गया है। हमारे जीवन में भी हम देखते हैं कि एक स्थिति वह आती है जब सैक्स की दुःखान्तिकता हमारे सामने उजागर होती है। कारण कोई भी हो—यह अनिवार्य परिणति है। बाजीकरण और शक्तिप्रद औषधियों की मांग यह सिद्ध करती है कि सम्भोग की दुःखान्तिका अब जीवन में प्रवेश करने लगी है?

इन सारी विसंगतियों से मुक्ति दिलाने वाला और काम को ही मुक्ति का राजमार्ग बनाने वाला तन्त्र, संभोग की आवेशमयता को संवेदनशील बनाता है। उसे पूजा का माध्यम बनाकर विराट् से साक्षात्कार करता है। तन्त्र का यह आग्रह है कि प्रकृति से विमुख होना या प्रकृति के प्रति हठवादी दृष्टिकोण रखना भयानक काम है। आवेश हमें भोगें इससे अच्छा यह है कि हम आवेशों को भोगें। आवेश हमें भोगने लगेंगे तो हमारी स्थिति यह रहेगी कि एक तिनका बगूले में ऊपर उठा था, पता नहीं बगूला उसे कब और कहां छोड़ेगा? देहयात्रा का गन्तव्य जब हो जाता है तो सारे समारम्भ के बाद एक व्यर्थता का शून्य उभरता है और यही वैषयिक सुखों की दुःखान्तिकता है।

सम्भोग को गन्तव्य और लक्ष्य बनाना निरा अज्ञान है प्रत्युत उसे एक मार्ग, एक साधन समझना ही ज्ञान है। स्त्री और पुरुष के विभाजक चिन्ह को हम लिंग कहते हैं किन्तु स्त्री में इस गोप्य चिन्ह को योनि कहा जाता है। सामान्य सम्भोग में जैसा महर्षि वात्सायन कहते हैं—घर्षण से खुजली मिटती है—यह क्रिया यान्त्रिकता या प्रकृति प्रेरित अवस्था का रूप रहती है जैसे किसी मच्छर के काटने पर हमारे हाथ खुजला कर एक क्रिया सम्पन्न कर देते हैं किन्तु इसी क्रिया को काम विज्ञान के यथार्थ से हटाकर देखें और इसका विश्लेषण करें तो एक दूसरा रहस्य खुलता है।

पहली बात यह है कि यह खुजलाहट पर प्रेरित न होकर, स्वत: प्रेरित होती है। दूसरी बात, यह है कि इसमें एक स्थान विशेष पर अनुभव की जाती है और हमारा सारा शरीर एक प्रकार की अतृप्ति एवं आकांक्षा से भर जाता है। यह आकांक्षा हमारे देह, प्राण और मन की आकांक्षा है इसलिए इसका क्षेत्र भी बड़ा है और इसका अर्थ भी विस्तृत है।

यह प्रकृति की आकांक्षा और पूर्ति का शाश्वत नियम है। आश्चर्य यह है कि इसमें नारी का सहयोग करने वाला तत्व उससे भिन्न ही नहीं, क्रिया और आकार में भी विरुद्ध स्वभाव वाला है। प्रकृति के इस विलास को संवेदन की सुकुमारता और ज्ञान की सूक्ष्मता से देखे तो रहस्य के अनेक पटल खुलते जायेंगे। संसार की यह रहस्यपूर्णता ही इसका बहिरंग है और इनका निरावृत हो जाना अन्तरंगता। रहस्यमयता संसार की आवरक शक्ति है, अज्ञान है इसलिए तन्त्र काम को, सैक्स को, रहस्य के कुहरे से हटाकर स्वच्छ प्रकाशमय स्थिति में ले आने का निर्देश देता है। यों, आवेशमय होकर हम सम्भोग को जिस रूप में जीते हैं उसमें रहस्य रहस्य ही बना रहता है।

एक क्षण को हम सम्भोग जैसी क्रिया को लज्जा एवं श्लीलता की चौखट से हटाकर उसे पारमार्थिक रूप में देखें, उसमें अन्तर्निगूढ़ प्रकृति के लक्ष्य व बोधव्य को समझें तो यह हमारे चिन्तन के नये आयाम उद्घाटित करेगा। प्रकृति पुकारती है और उसी का परपक्ष पुरुष के रूप में उसका उत्तर देता है। सम्भोग में व्यक्ति नारी में लीन होना चाहता है और नारी उसे अपने में छुपा लेना चाहती है किन्तु यह परिणाम निकल नहीं पाता, तुमुल संघर्ष नर और नारी के प्रतीक अंगों में होता है और वह हमें वात्स्यायन के बहिर्वादी स्तर पर पटक देता है।

तन्त्र कहता है—**योनि भेदतो समाधि रमणम्** अर्थात् संभोग की स्थिति से उछल कर उस बिन्दु पर पहुँच जाना जहां सुख से अतिरिक्त आनन्द जैसी अनुभूति की सत्ता है, वही रमण है। यह प्रक्रिया सम्भोग से परतर स्थिति को प्राप्त करने का संकेत देती है इसीलिए यहाँ सम्भोग या रमण (रति) को लक्ष्य की दृष्टि से आगे खिसका दिया है और सम्भोग वहाँ भेदन का प्रतीक बन जाता है। योनि का अर्थ होता है परिणति, आकार और आधार। नारी के प्रतीक चिन्ह के रूप में योनि आधार भी है और आकार भी। सारे रहस्य इस शब्द के धुंधलके में, इस क्रिया की बहिर्मुखता में, नारी की आवरक शक्ति में छुपे हुए हैं और उनका भेदन हमें उसी बिन्दु से, उसी माध्यम से करना है।

पंच मकार

कितना सुखद युग था जब यूरोपीय, समुद्र किनारे रहनेवाले वरुण देवता को समुद्र में से उठता देखकर नतमस्तक हो जाते थे और भारतीय सूर्य, चन्द्रमा, धरती को देवता मानकर इन्हें पूजते थे। इन सबको प्रकृति का प्रतीक मानकर इनके क्रोध से

बचने के लिए प्रार्थना किया करते थे। विश्वास के सिवा कुछ था ही नहीं किन्तु जाने कब सन्देह का अंकुर फूट आया, तर्क की धूप निकल आई और भोले मानव ने प्रकृति के इन क्रिया कलापों पर पुनर्विचार किया। सूर्य का उगना और चाँद का चमकना या गर्मी की लू और सर्दी की ठिठुरन में उसने एक क्रम एवं व्यवस्था देखकर यह मान लिया कि ये सब क्रिया-कलाप किसी और के द्वारा शासित और नियंत्रित हैं उसी दिन से व्यक्त भगवान् अव्यक्त हो गया। सूर्य, चन्द्रमा, नदी और ऋतु के रूप में जो स्वतन्त्रता का बोध हुआ था वही अब पराधीनता का सूचक हो गया।

मस्ती से रहने वाले मनुष्य की कल्पना और अधिक सक्रिय हुई तो उसने अव्यक्त की उपासना का, उसे पाने की चिन्ता का झमेला खड़ा कर लिया। मकड़ी की तरह अपनी ही कल्पना और तर्क के सुनहरे जाल में फँस गया। सूर्य चन्द्र की अथक यात्रा से उसने बंधन का एहसास पाया और बंधन के साथ ही वह दुहरे मानसिक कष्ट से घिर गया। मुक्त होने की लालसा और बंधन की चुभन। जब ये विशाल पिण्ड और प्रकृति ही पराधीन हैं तो वह स्वयं भी मुक्त नहीं है। इस कल्पना के साथ उसने यहाँ तक मान लिया कि संसार में जो कुछ भी होता है वह भगवान् के संकेत पर ही होता है चाहे वह तूफान है या फूलों का खिलना। व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता और सामर्थ्य इस परिकल्पना के आगे क्षीण हो गये, नया कुछ करने का अवसर ही नहीं रहा।

बहुत समय तक ब्रह्मवाद का यह युग चलता रहा। जंगलों में आत्मचिन्तन करने वाले ऋषियों का दार्शनिक चिन्तन चलता रहा, प्रत्येक परिणाम को अस्वीकार करके वे नये आयाम को, नई दिशा को तलाशते रहे। भारत के षट् दर्शन और वेदान्त (तथा उपनिषद्) इसी गहन विमर्श के प्रमाण और परिणाम हैं। इस परम्परा ने प्रकृति को माना अवश्य किन्तु उसके प्रति उपेक्षा का दृष्टिकोण ही रखा। मनुष्य में, आवेश और संवेग के रूप में कार्य कर रही प्रकृति को उसने बंधन का कारण समझा। व्यक्ति ने देखा कि उसका शरीर भूख से बंधा हुआ है, भूख से प्यास और श्वास जुड़े हुए हैं या इनसे भूख जुड़ी हुई है। इनसे आगे रिरंसा, घृणा, हिंसा जैसी अनेक प्रिय और अप्रिय अनुभूतियों और आवेशों की शृंखला बनी हुई है जिससे व्यक्ति भगवान् को प्राप्त नहीं कर पाता।

प्रकृति के इस भावनात्मक स्वरूप को बंधन का प्रतीक मानकर इस पर विजय प्राप्त करने का फैशन ब्रह्मवादियों में पीढ़ियों तक चलता रहा और आश्चर्य यह कि उनमें से सभी रमणी की गोद में लुढ़कते गये स्वयं भगवान् कृष्ण यह स्वीकार करते हैं कि यह माया (प्रकृति) मेरी ही है किन्तु बहुत बलवान् है, यह ब्रह्म को भी ढाँपे रहती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूख प्यास जैसी आवश्यकताओं से मुक्ति पाने की विधियाँ योग शास्त्र में और ब्रह्ममार्ग में रही हैं। हम जब अपने श्वास का निरोध कर चेतना को देह के ऊपरी भाग में केन्द्रित करते हैं तो कबंध सजीव रहकर भी सक्रिय नहीं रहता। देह सड़ता इसलिए है कि इसमें प्राण नहीं रहता और ठण्डा इसलिए होता है कि इसमें तेजस्तत्त्व नहीं रहता और ये सब तत्त्व चेतना के साथ जुड़े रहते हैं।

समाधि के नाम से ज्ञात इस विधा में हमारी चेतना और ज्ञान को केन्द्रित किया

जाता हैं अतः शेष तत्त्व व अंग मरते नहीं हैं। प्रासंगिक रूप में हम हमारी देह रचना के प्रश्न चिह्न लगायें और यह पूछें कि ये फेफड़े, यह हृदय, यह पाचन तंत्र ऐसे क्यों हैं, इन सवकी आवश्यकता क्यों हुई—इसके उत्तर में भारतीय दर्शन का कहना हैं कि हमारी देह की संरचना में पाँच तत्त्वों का जो अनुपात हैं और उस अनुपात में उनका उपचय, अपचय और उपभोग जैसे होता हैं उसी के अनुसार इन अंगों का यह रूप और आकार निर्धारित हुआ हैं। हमें जिस तरह की फैक्टरी वनानी होती हैं उसी तरह का उसका ढाँचा वनाया जाता हैं। प्रकृति के रचना गृह में भी कार्य के अनुसार देह दी जाती हैं। वृक्ष वायुप्रधान हैं इसलिए इनके फेफड़े अधिक हैं, मछलियाँ जलप्रधान हैं इसलिए उनकी देह इस तरह की हैं।

हम लोग व्यवहार के आधार पर यह जानते हैं कि हमारा भौतिक देह और दूसरे जीवधारी पाँच तत्त्वों के चमत्कार हैं। इन विभिन्न देहों में तत्त्वों की प्रखरता और मन्दता ही इनके आकार व क्रिया का आधारभूत तथ्य हैं। देह में स्थित इन पाँच तत्त्वों को जोड़ने वाला तत्त्व हैं चैतन्य, जो सक्रिय होकर इन उपकरणों को सक्रिय किये रहता हैं।

कुल मिलाकर हमारा शरीर एक आधार पात्र हैं जिसमें चेतनता निवास करती हैं, यह एक माध्यम हैं जो हमारी कल्पना को क्रियात्मक वनाता हैं और मूर्तरूप देता हैं। समाधिपद में जव चेतना अन्तर्मुखी होती हैं तो घर्षणिक विद्युत् की उतनी आवश्यकता नहीं रहती। यह घर्षणिक विद्युत् कोशिकाओं द्वारा बनाई जाती हैं और निक्षेपित की जाती हैं। जव शरीर में स्थूल रूप में कोई क्रिया ही नहीं होती, श्वास भी वन्द कर दिया जाता हैं स्थिर स्थिति बन जाती हैं और पदार्थ को (भोजन आदि को) शक्ति के रूप में परिवर्तित नहीं होना पड़ता।

स्थूल देह की क्रियाओं को रोककर हम दूसरे शरीर को पहचानते हैं जिसमें मन, बुद्धि और चित्त रहा करता हैं। भौतिक जगत् और वैज्ञानिक कारणवाद इन अंगों पर उस रूप में सहमत नहीं हैं फिर भी हम इनके विशिष्ट और वर्गीकृत कार्य देखते हैं। इस सूक्ष्म शरीर को आहार की आवश्यकता नहीं होती, इसमें संवेग है, आवेश हैं, अनुभूति हैं, ज्ञान हैं। ये तीनों आयाम इस तरह अन्तःस्यूत हैं कि इनको विभाजित नहीं किया जा सकता। यह शक्ति का केन्द्र हैं। समाधि का आधार यही अन्तःकरण वनता हैं, इसी को संयत करके निश्चल किया जाता हैं।

यह था—ब्रह्मवादी विवेचन जिसे वैष्णव या वैदिक दर्शन के नाम से जानते हैं। वैष्णव दर्शन इसलिए कि भगवान् विष्णु वैकुण्ठनाथ हैं और वैकुण्ठ का अर्थ होता है कुण्ठा एवं तनावहीनता की स्थिति। वेद भारत का प्राण हैं, विश्व का प्राचीनतम और पवित्र चिन्तन हैं। जिस तरह कुरान एहलामों से जन्मी उसी तरह वेद (चाहे किसी भी तरह रचे या पाये गये हों) उनका अर्थ केवल समाधि में समझा जा सकता है। वैष्णव दर्शन में नारी मुक्ति का बाधक मानी गई क्योंकि नारी ही इस विस्तार का और विस्तार से मोहबद्ध करने का सजीव आधार हैं।

कालान्तर में इस चिन्तन के समानान्तर दूसरे सिद्धान्त का अभ्युदय हुआ जिसने

प्रकृति की उपेक्षा नहीं की, नारी का तिरस्कार नहीं किया और उस पर विजय पाने का दंभ नहीं रचा। यही तंत्र मार्ग था। तंत्र मार्ग का अनुभवसिद्ध विश्वास था कि जो हमें बाँधता हैं वही हमें मुक्त करता हैं। माना प्रकृति, बंधन हैं किन्तु ब्रह्म उससे मुक्त नहीं करा सकता इसलिए मुक्ति प्रकृति की कृपा से मिल सकती हैं। यह कृपा क्या हैं और इसे कैसे पाया जा सकता हैं—यही तंत्र साधना का रहस्य हैं। मोटे रूप में हम मानते हैं कि प्रकृति के रहस्य को समझ लेना और सम्पूर्ण रूप से अपने आपको प्रकृति के समर्पित कर देना ही उससे एक रूप होना हैं और यही उसकी कृपा प्राप्त करना हैं।

ज्ञान की उच्च भूमिका में भौतिक उपकरण न आवश्यक रहते हैं, न उनकी उपयोगिता ही कुछ रहती हैं किन्तु प्रारंभिक स्तर पर प्रतीक बोध अनिवार्य-सा हो जाता हैं जैसे 'क' सिखाने के लिए कबूतर का प्रतीक। भारत की प्रत्येक उपासना पद्धति में—जिसमें देवता को सशरीर मानकर पूजा जाता हैं—इन प्रतीकों के प्रतिनिधि द्रव्य उपयोग में लाये जाते हैं। देवता के अर्पित करने की विधि ही पूजा हैं। वैष्णव, शाक्त, नाथ आदि सभी संप्रदायों के लोग पंचोपचार से अपना अनुष्ठान प्रारंभ करते हैं। वैष्णव निरामिषभोजी होते हैं इसलिए उनके पंचोपचार में धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, गंध ये आते हैं। इन्हीं का विस्तार षोडशोपचार कहलाता हैं। शाक्त याने तंत्र साधक उनके स्थान पर पंच मकार का प्रयोग करते हैं। मत्स्य, मदिरा, मांस, मुद्रा और मैथुन। दूसरे संप्रदायों में इनके स्थानिक दूसरे पदार्थ काम में लिये जाते हैं किन्तु संख्या यही रहती हैं और पदार्थों का प्रतीकवाद भी यही रहा करता हैं।

वैष्णवी पूजाविधियों में था तांत्रिकेतर पद्धति में ये पदार्थ देवता को अर्पित किये जाते हैं और नैवेद्य के सिवा अन्य पदार्थों का उपयोग साधक नहीं किया करता किन्तु तन्त्र में ये सारे पदार्थ साधक के ही काम में आते हैं। भले ही इनका शोधन करने के लिए इन्हें देवी के अर्पित किया जाता हो किन्तु मुख्य अनुष्ठान (साधक) इन वस्तुओं का उपयोग करते हुए ही करता हैं। अन्तर यह है कि वैष्णवी साधना में भगवान् और साधक दोनों प्रारंभ से अन्त तक भिन्न रहते हैं किन्तु तांत्रिक साधना में साधक स्वयं को भगवान् का रूप मान लेता हैं। वैष्णवी साधना में स्त्री वर्जित हैं और तांत्रिक साधना में स्त्री अनिवार्य अंग। दोनों के साहचर्य से ही साधना संपन्न होती हैं।

तंत्र के ज्ञान मार्ग में ये प्रतीक स्थूल रूप में आवश्यक नहीं होते किन्तु आनन्द-मार्ग का प्रारंभ इनसे ही हुआ करता हैं। यह विधि वामाचार कहलाती हैं। वामाचार का अर्थ होता हैं प्रिय आचरण। प्रिय और अप्रिय-बोध, मनोजगत् के आग्रह है इसलिए इसमें उन सभी वस्तुओं का समावेश होता है जो मन को प्रिय हैं, जो पाँच तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और जिनके सेवन से व्यक्ति के ज्ञान करने के उपकरण क्रमशः सिमटते जाते हैं और अन्तिम स्थिति में हमारी समग्र चेतना एक ही क्रिया में सिमट कर रह जाती है, शरीर की समस्त चेष्टायें एक ही प्रयोजन का साधन करने लगती हैं।

पंचोपचार की यह विधि या वामाचार ठीक उसी तरह है जिस तरह कोई व्यक्ति अपनी पूंजी का व्यापार में विनियोग करता है। सफल व्यापारी इतनी जागरूक दृष्टि से अपने व्यवसाय को फैलाता है और अपनी पूंजी की रक्षा करता हैं कि शीघ्र ही वह

सम्पन्न हो जाता है। मूलतः वामाचार विमुख होकर संघर्ष नहीं करता, संसार के मोहक पदार्थों से विरक्त होकर नहीं चलता, जगत् को झूठा नहीं समझता बल्कि जगत् की चंचलता में ही शाश्वत सत्य को पहचानने की चेष्टा करता हैं, मोह माया के उपकरणों में रम कर ही उनके रहस्य को प्राप्त करता है, अभिमुख संघर्ष करके ही युद्ध को जीतना चाहता है।

आखिर यह पंचोपचार है क्या और इनका प्रयोग क्यों अनिवार्य है ? इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए हमें तंत्र के सृष्टि-क्रम को जानना होगा। आज तक संसार के जितने विकसित सिद्धान्त हैं उन सब में संसार की उत्पत्ति का इतिहास वर्णित है। तंत्र की यह मान्यता, और सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती फिर भी इसका अपना महत्त्व है और आधार है।

तंत्र मानता है कि इस संसार में महाशून्य व्याप्त था। आज का विज्ञान जब प्रतितत्त्व की परिकल्पना कर चुका और एक सीमा तक यह विश्वास कर चुका कि जिस दिन दोनों तत्त्वों का समागम होगा उस क्षण विश्व का यह विस्तार नाम शेष हो जायगा, महा प्रलय का यह सिद्धान्त भारतीय उपाख्यानों में बहुत पहले कह दिया गया है। तंत्र में काली और महाशिव का ताण्डव महाप्रलय के लिये रचा जाता है।

महाशून्य को शिव के रूप में मानते हैं। शिव में भी प्रकृति की उपस्थिति मान ली जाती है अन्यथा प्रकृतिशून्य एकाकी शव निष्क्रिय निरानन्द महाशून्य के रूप में अवस्थित रहते हैं। उनके इस स्वरूप का कोई महत्त्व या उपयोगिता नहीं होती। यह भी प्रकृति ही है कि शव स्वरूप शिव इस स्थिति में अधिक समय तक नहीं रहते। उनमें विक्षोभ होता है, एक प्रकार का स्पन्दन होता है और समूचा शव क्रियामय हो जाता है। इस स्थिति में वे शिव कहलाते हैं। तंत्र की तकनीकी भाषा में उन्हें परम शिव कहते हैं और प्रकृति को परा माया।

जो स्थाणु था वही अब गतिमय हो गया, उसके पैरों में लास्य (थिरकन) और हाथ में निनादित डमरू आ जाता है। परामाया का यह विक्षोभ इच्छामय होता है। परा माया और परम शिव के रूप स्वरूप के संबंध में शास्त्र अधिक नहीं कहते क्योंकि उस कल्पनातीत स्थिति में जो कुछ भी होता है वह ज्ञान और शब्द के स्तर व सामर्थ्य से परे की बात है इसलिए उसे न समझा जा सकता है, न कहा जा सकता। वैष्णव दर्शन इसी तथ्य को कहता है—"मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ।"

इस इच्छामय विक्षोभ से महामाया का विस्तार होता है जो संसार के विस्तार को सक्रिय एवं नियंत्रित करता है। अन्तरिक्ष में छितराये असंख्य पिण्डों में गति के रूप में या शक्ति के रूप में जो तत्त्व है वही महामाया का स्वरूप और क्षेत्र है। इसके बाद उस मूल विक्षोभ में जो स्तर आता है वह माया का है। सत्व, रज और तम जैसे गुणात्मक बोध माया के क्षेत्र और रूप हैं। हमारी वैचारिक और मनोमय सत्ता माया का विवर्त है। मानसिक जगत् में जितने प्रकार के भाव और अनुभूतियाँ होती हैं उन्हें लोभ, प्रेम, हिंसा, दया, आदि रूपों में मन के द्वारा दिये गये काल्पनिक ढाँचे में हम ग्रहण करते हैं—हमारे भाव शब्दों का शरीर ग्रहण करके व्यक्त होते हैं अन्यथा ये सारे भाव

गुणात्मक रूप में ही प्रकट होते हैं। कुण्ठायें तमोगुण को उद्दीप्त करती हैं और उद्दीप्त तमोगुण अवसाद में डुबो देता है।

माया के बाद आता है शक्ति का क्षेत्र। इसमें हमारे देह में सूक्ष्म रूप में अवस्थित और क्रियारत तैजस् शरीर बनता है और हमारे देहगत स्तर में यही शक्ति माया का क्षेत्र और रूप है। इसके बाद अन्तिम और स्थूलतम रूप आता है तत्त्व माया—का जिसमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के रूप में पाँच तत्त्व अभिव्यक्त होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के पाँच आयाम इसमें जुड़ जाते हैं।

समस्त विस्तार जिसमें सारे संसार की और सब तरह की कल्पनाएं समा जाती हैं वे ये ही स्तर हैं। यद्यपि ये स्तर बिल्कुल भिन्न हैं, इनका क्षेत्र, कार्य और पद्धति एक दूसरे से मेल नहीं खाते फिर भी ये एक दूसरे से प्रगाढ़ रूप से जुड़े हुए हैं, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं। इनका विस्तार इतनी तीव्र गति से होता है कि क्रम होते हुए भी क्रम का अनुमान नहीं होता जैसे सौ कमल के पत्ते एक दूसरे पर रखकर उनमें सुई चुभाने पर क्रम रहता है पर लगता है वह सब में एक साथ पिरोई गई है। भेद के रहते हुए भी यह समग्र विस्तार एक रूप है, तत्त्वों में शक्ति है, और सत्व गुणी, रजो गुणी, व तमो गुणी अनुभूतियों में तत्त्व हैं (किन्तु स्थूल रूप में नहीं)।

पंच उपचार से पूजन करने का तात्पर्य यह है कि हम माया के स्थूलतर स्तर से ऊपर उठकर हम सूक्ष्म स्तरों में जाना चाहते हैं। शक्ति का वास्तविक क्षेत्र गुणात्मक स्तर है जिसमें चुम्बकीय विद्युत् उत्पन्न होती है और विसर्जित होती है। विद्युत् शक्ति—भौतिक शरीर में घर्षणिक पद्धति से उत्पन्न होती है और मानसिक या गुणात्मक जगत् में वह चुम्बकीय विधि से उत्पन्न होती है तथा विसर्जित होती है। हमें पेड़ काटने हों, मकान बनाने हों या और कोई ऐसा काम करना हो जिसमें शारीरिक शक्ति की आवश्यकता हो उसमें प्रकट और स्थूल देह की उपयोगिता है किन्तु साधना या आध्यात्मिकता कोई शारीरिक कार्य नहीं है इसलिए इसमें मानसिक शक्ति ही साध्य होती है।

पंच मकार से साधना करना ऐसे है जैसे अपनी यात्रा में पड़ने वाले हरेक शहर के विस्तार, विविधता और सौन्दर्य को देखते-भोगते हुए जाना। तत्त्व शब्द यहाँ एलिमैंट का सूचक नहीं है बल्कि उस परम सत्ता के अंशभाव का बोधक है। ये पाँच तत्त्व उस पराशक्ति से उत्पन्न हैं और उसके अंश हैं। प्रत्येक तत्त्व का अपना संसार है और विस्तार है।

साधारण तौर पर हम गंध को पृथ्वी का धर्म या गुण मानते हैं जिसे व्यक्त रूप में ठोस पदार्थ के आकार में जानते हैं, जल का गुण रस है और दृश्य आकार तरलता, तेजस् का गुण रूप है जिसे ऊष्मा के रूप में जानते हैं, वायु का गुण स्पर्श है जिसे गैस कहते हैं और आकाश का गुण शब्द है जो शून्य के रूप में हमारे चारों ओर व्याप्त है।

इन गुणों की हमारे देह में उपस्थिति भी है, इनकी अभिव्यक्ति भी है और इनका संग्राहण भी। तत्त्वों के स्तर को उत्तेजित करके हम आगे के स्तरों को सक्रिय करना चाहते हैं और हमारी चेतना को बाहरी विस्तार के माध्यम से केन्द्रित करना

चाहते हैं जो सामान्य अवस्था में बिखरी हुई रहती है ।

मांस और मछली, पृथ्वी और जल तत्त्व के प्रतीक हैं । पृथ्वी में तमोगुण है और जल मिश्र गुण है । गुणों के रूप, गुण, प्रभाव और प्रकृति के बारे में अन्यत्र विचार किया जायगा । वामाचार यह कहता है कि मांस और मछली इन तत्त्वों के प्रतिनिधि अंगों को और संवेदना को उत्तेजित करते हैं इसलिए यह सीधी पद्धति है । ये दोनों स्थूल पदार्थ हैं इसलिए स्थूल शरीर के अन्नमय कोश को आप्यायित करते हैं। इनका प्रबल प्रभाव भौतिक देह पर पड़ता है, इनसे हमारा घर्षणिक विद्युत् का तंत्र अधिक सक्रिय होता है । शारीरिक बल की वृद्धि होती है । मांस और मछली अन्न की अपेक्षा अधिक सत्ववान् हैं इसलिए ये प्रारंभिक पदार्थ के रूप में उपयोग में लाये जाते हैं ।

मदिरा तेजस् तत्त्वीय पदार्थ है । इसका सीधा प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है । भौतिक शरीर पर इसका कोई तुरन्त और प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह स्थूल नहीं सूक्ष्म पदार्थ है । हवा में खुला रखने पर उड़ जाती है । जैसे हम व्यवहार में देखते हैं कि गर्मी हवा के कारण क्षीण हो जाती है या उसका ताप विकीर्ण हो जाता है । भारतीय मान्यता के अनुसार आकाश से हवा, हवा से तेजस्, तेजस् से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है । प्रतिलोम क्रम से ये नष्ट होते हैं अर्थात् पृथ्वी को नष्ट करने की शक्ति जल व आगे के तत्त्वों में, जल को नष्ट करने की शक्ति तेजस् व आगे के तत्त्वों में रहती है और वायु को आकाश लील जाया करता है ।

जो पदार्थ जिस गुण का होता है, हमारे देह में भी वह उन्हीं गुणों को प्रदीप्त करता है। मदिरा तेजस्तत्त्व प्रधान होने के कारण हमारी सारी कोशिकाओं को जीवन प्रदान कर देती हैं ।

चौथा उपकरण हैं मुद्रा । मुद्रा का प्रयोग हम दैनिक जीवन में भी करते हैं और दूसरी उपासना विधियों में भी । जिस तरह कार्टूनिस्ट किसी भी व्यक्ति के एक अंग विशेष की मुद्रा मात्र से उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट कर देता हैं उसी तरह हम भी सुबह से शाम तक मुद्राओं में जीया करते हैं। विभिन्न कार्यों के लिए कुछ मुद्राएं या स्थितियाँ नियत हैं उन मुद्राओं के बिना वे कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकते । चलने में हमारे पैरों का फासला त्रिभुजीय आकृति बनाता हैं इस आकृति को बनाये बिना चलने जैसा कार्य संभव ही नहीं होता । सोने में जो मुद्रा बनाते हैं उससे आक्रमण नहीं किया जा सकता । संसार में प्रतिक्षण जो परिवर्तन हो रहा हैं वह विविध मुद्राओं की दौड़ ही है । शब्द को गति करने के लिए जो तरंगित मुद्रा में से गुजरना पड़ता है वह प्रकृति की व्यवस्था है बिजली की गति को और हृदय के स्पन्दन को नापने वाले ग्राफ भी मुद्रांकन ही है । पिकासो की अमूर्त शैली में हम जिन रेखाओं का विन्यास देखते हैं वे भी अवचेतन मन द्वारा कल्पित ग्राफ और मुद्राएँ ही हैं ।

हमें बहुत समय तक एक ही स्थिति में बैठे रहना है या चलते रहना है तो उसके लिए नियत मुद्रा धारण करनी ही पड़ेगी । यह दूसरी बात हैं कि अभ्यास द्वारा हम किसी मुद्रा से कोई काम कर सकते हैं किन्तु यह परिवर्तन भी एक सीमा तक ही संभव है । पानी में तैरने की मुद्रा से धरती पर नहीं दौड़ा जा सकता ।

मुद्रा वायु तत्त्व का प्रतीक है। हमारे देह में और संसार में वायु का क्या कार्य है —यह हम जानते हैं। असल में मुद्राएं तो स्थिर हैं किन्तु उनमें गति आने पर ही संसार के कार्य व्यवहार सम्पन्न होते हैं। हमें लेटने से चलने तक के बीच जिन अनेक मुद्राओं को धारण करना पड़ता है वह क्रम ही हमें अलग-अलग काम करने की स्थिति में लाता है। इन स्थायी स्थितियों में से गुजारना वायु तत्त्व का कार्य है क्योंकि गति उसका चिह्न है। हमारे शरीर का स्नायुजाल वायुतत्त्व का विस्तार है और वायुतत्त्व के कारण ही ये सक्रिय हैं।

तंत्र शास्त्र ने अनुभूति को तकनीकी शब्दावली देकर इतना निगूढ बना दिया है कि वह चिन्तन की गहराइयों में पैठे बिना समझ में नहीं आता। उन बिंबों को समझने के लिए प्रत्येक शब्द का साक्षात्कार करना पड़ता है, इन स्तरों को पार करना अपने आपमें गहन साधना है और इन्हें पार करता हुआ व्यक्ति तकनीकी बन जाता है। ऐसी ही तकनीकी विधा मुद्रा है। मुद्रा स्थिर अवस्था है, उसमें शव की-सी निश्चलता है और तन्त्रमार्ग की साधना शव में क्रियावत्ता उत्पन्न करके शिव स्वरूप प्रकट करने की विधि है। असल में, संसार में भाव जगत् के लीला विलास को, क्रिया के विविध स्वरूप और स्तरों को अभिव्यक्ति देना मुद्रा का विषय है। मुद्रा बाह्य आकृति है जो प्रकृति के अदृश्य गुणात्मक रूप को प्रकट करती है। बाह्य और आभ्यन्तर को एकरूप करके दृश्यरूप देना ही मुद्रा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक मुद्रायें ऐसी हैं जिनका नैसर्गिकप्रभाव व्यक्ति के देह और मन पर पड़ता है। जो व्यक्ति सिद्धासन एक प्रहर के लिए लगा लेता है, उसकी चेतना केवल इस आसन के प्रभाव से केन्द्रित हो जाती हैं और शनैः-शनैः उसे समाधि लगने लगती है। रोग मुक्ति के लिए आसनों का उपयोग और तनाव शैथिल्य के लिये ध्यान का महत्व आज की पीढ़ी के समझ में आने लगा है किन्तु तंत्र की भोग मुद्रा अभी भी अनजानी पड़ी है।

जो लोग शीघ्र पतन के रोगी हैं, जिनमें स्नायु दौर्बल्य के कारण नपुंसकता आने लगी है और जो सुख संघर्ष में पिछड़ने लगे हैं उनके लिए तंत्र की मुद्राएँ अधिक हितकर हैं। तंत्र वस्तुतः संभोग को यज्ञ भावना से करता है किन्तु वह यज्ञ पुत्रैषणा से प्रेरित नहीं है, आनन्द प्राप्ति के लिए रचा जा रहा सुखसंगर है। पुत्र या प्रजा कामना से प्रेरित होकर स्त्री को एक आधारभूमि मानने से व्यक्ति संभोग के मूल स्वरूप और आनन्दातिरेक की अनुभूति से वंचित रह जाता है, आनन्द का आभास वहाँ एक आनुषंगिक फल बन जाता है क्योंकि व्यक्ति का ध्यान उसकी संयोग लभ्य सार्थकता पर केन्द्रित हुआ रहता है।

मुद्राओं की उपयोगिता और महत्त्व को स्वीकार करते हुए गोरखनाथ कहते हैं—

भगमुख बिन्दु अग्निमुख पारा, ये साधे सो गुरु हमारा।

अर्थात् संभोग के लिए सन्नद्ध अवस्था में योनि से संसर्ग रखते हुए जो स्खलित नहीं होता अथवा अग्नि के आगे पारे को अक्षुब्ध रख सकता है वह हमारा गुरु है। इस

पंथ में जिस गुरु का संकेत होता है वे शंभु हैं, शंकर हैं, शिव हैं। इस अवस्था में सिद्ध व्यक्ति इन गुणों से युक्त हो जाता है। सामान्यतया यह स्थिति हमें दुष्कर लगती है किन्तु इसके तकनीक को समझने और अभ्यास कर लेने पर यह प्राप्त भी हो जाती है और इस प्राप्ति की कामना वामाचारी अनुष्ठान का संकल्प भी है और विनियोग भी। यह अवस्था शंभु की है इसलिए इसे प्राप्त करने के लिए शांभवी मुद्रा धारण करनी पड़ती है।

नाटक में जिस तरह नट राम या रावण का अभिनय करते समय सम्पूर्ण रूप से तन्मय होकर साधारणीकरण की स्थिति उपस्थित करता है उसी तरह साधक अपने आप को शिव मानकर शांभवी मुद्रा धारण करता है। अभ्यास करने पर वह शंभु के सामर्थ्य और रूप से एकाकार होने लगता है और उसकी सहचारिणी, शिवा के रूप में प्रस्तुत होने लगती है। शनैः-शनैः दोनों भौतिक संबंधों और क्रियाओं से ऊपर उठते चले जाते हैं और साम्वशिव, सदाशिव, परमशिव का साक्षात्कार करते हुए अवाच्य स्थिति में प्राप्त कर जाते हैं।

स्त्री, जो प्रकट रूप से प्रकृति का रूप है, ऊर्ध्वमुखी है और पुरुष अधोमुखी। जब स्त्री और पुरुष संभोग की अवस्था में होते हैं तो दोनों का यह स्वाभाविक स्वरूप प्रदर्शित होता है। स्त्री आधारभूमि है इसलिए तमोगुणी है और तमोगुण माँ काली का प्रकट विग्रह है इसलिए वह शव स्वरूप रुद्र को उत्तेजित करती है, उसे ठोकर मारकर सक्रिय होने को वाध्य करती है। दक्षिण कालिका की मूर्ति इस अवस्था की सूचक है। इसके वाद वह स्वयं ऊर्ध्वमुख होकर नीचे सो जाती है, स्वयं प्रेरक वनकर शव का भोग करने के लिए।

पशु वर्ग की संभोग मुद्रा देखने पर एक भेद स्पष्ट रूप से समझ में आ जाता है कि पाशविक स्तर पर विजय प्राप्त किये बिना मुक्ति असंभव है और प्रकृति ने मनुष्य को स्वाभाविक रूप से मुक्तिकामी वनाया है, उसे उदात्ततर स्तर दिया है इसलिए संभोग के समय वे मूल अवस्था में रहते हैं, अर्थात् स्त्री ऊर्ध्वमुखी और पुरुष अधोमुख। पशु और पक्षी में यह स्तर नहीं है, वे दोनों ही अधोमुख रहते हैं इसलिए ये भोगयोनियाँ हैं, इनकी चेतना और ज्ञान सीमित हैं और वह सीमा निश्चय से मुक्ति के वहुत इधर है। सहज रूप में पता नहीं हम इन पशु और तिर्यक् योनियों को पार करते हुए कव ऊपर उठेंगे इसलिए मनुष्य योनि को जो स्वाभाविक स्तर और उत्कर्ष दिया है उसे अनुभव किया ही जाना चाहिए।

रति क्रिया में ऊर्ध्व और अधः को एकाकार करके शून्य से साक्षात्कार करने की चेष्टा की जाती है, भोगानन्द से परमानन्द तक पहुंचने का सार ही संभोग की तांत्रिक व्याख्या है। तंत्र की इस मान्यता का कि स्त्री द्विमुखी होती है—एक ऊर्ध्वमुख दूसरा अधोमुख। दोनों मुखों में समान अंग हैं पर एक (ऊपर वाला) यामोत्तर है दूसरा पूर्वपश्चिम। यह प्राकृतिक ऋणात्मकता जो ऊर्ध्वमुख से व्यक्त होती है नीचे के मुख से जोड़ देने पर धनात्मक वन जाती है। नारी के अनजाने रहस्यों को समझने के लिए उसके इस भिन्न रूप में और स्थानों में अवस्थित मुखों की एकरूपता को जाननी पड़ती है। शांभवी मुद्रा

ऋणात्मक स्थिति को योगमय रूप देने की व्यावहारिक साधना है। शांभवी मुद्रा हमारे स्नायु मण्डल को नियन्त्रित किये रहने का या नियंत्रण साधने का प्रकार है।

अपने आपको उद्वेगों के हवाले करके नाड़ियों की सहज क्रिया और क्षमता को भोगने वाले हम संभोग जैसे व्यापार को दास्य भाव से करते हैं इसलिए केवल कामी कहलाते हैं, कामना करना और क्रिया द्वारा उद्वेग को शमन करने की विवशता के सिवा हमें मिलता क्या है ? यह स्वर्गीय स्तर है और केवल कुण्ठा या शारीरिक श्रम का परिणामवर्ती आभास है। किसी रूपवती नारी के साथ रमण करके हम जिस उल्लास का या तृप्ति का अनुभव करते है वह वास्तव में भार मुक्ति है, उसमें ईश्वरत्व का भाव और अनुभव नहीं होता इसके विपरीत यदि इसी क्रिया को हम स्वयं को शिव और हमारी सहचारिणी को शिवा का स्वरूप मानकर करें तो यह आनन्देष्टि यज्ञ होगा और इसमें हमें ईश्वरत्व एवं प्रभुत्व का आह्लाद मिलेगा। हम इच्छाचारी हो सकेंगे। संभोग का यह रूप हमें होता बनायेगा। योनि रूप शाश्वत एवं प्राकृत कुण्ड में स्फटिक शुभ्र हविष्य की आहुति देते हुए हम कामी नहीं कहला सकते, सांसारिक मोहों और आग्रहों से ग्रस्त अतएव हमारे आभ्यन्तर में छिपे शंकर को इस यज्ञ के कारक के रूप में स्थापित करके स्वर्ग की कुण्ठाओं से ऊपर उठते चले जाते हैं और शिवलोक की अलौकिक प्रभुता में रमने लगते हैं।

पाँचवाँ और अन्तिम उपचार है मैथुन। मैथुन आकाश तत्त्व का प्रतीक है। जिस तरह सारे तत्त्व आकाश के शून्य में क्रियाशील हैं उसी तरह ये पाँचों (चारों) उपचार मैथुन में एक रूप हो जाते हैं। इन सबका केन्द्री करण मिथुन क्रिया में हो जाता है। देह के जितने ज्ञानोपकरण हैं—शरीर की जितनी क्रिया शीलता है और मन की जितनी अनुभव शीलता है वे सब एक बिन्दु पर आ टिकते हैं। मैथुन के संबंध में विस्तार से दूसरे अध्याय में लिखा गया है यहां केवल प्रासंगिक चर्चा की गई है।

साधक स्वस्थ और प्रसन्न मन से इन वस्तुओं का उपभोग करता है और अपनी चेतना के कोशों को उत्तेजित करता है किन्तु इन सबके प्रति वह सांसारिक और उपभोगवादी दृष्टिकोण नहीं रखता। तंत्र का निर्देश है कि इनको पूजा का उपचार मानने वाला व्यक्ति इनसे आत्म साक्षात्कार की कामना और भावना करता है। वह स्वयं अपने को व्यक्ति विशेष के रूप में नही मानता, शिव का रूप मानकर ही इस पूजा-विधान में सम्मिलित होता है। उसकी सह चारिणी को वह नारी या रमणी के रूप में नहीं मान सकता (ऐसा करने पर मैथुन एक सामान्य दैहिक व्यापार हो जायगा जिसका निमित्त तनाव मुक्ति से अधिक कुछ नहीं होता) सहचारिणी को साक्षात् शक्ति अथवा शिवा के रूप में मानना पड़ता है।

सांसारिक आग्रहों और उत्तेजनाओं से अलग रह कर जब हम इन उपचारों का प्रयोग करते हैं तो हमारी दृष्टि बदल जाती है। मदिरापान और सुस्वादु मांसभक्षण से तृप्त हमारा मन सारी इन्द्रियों को समेट कर मिथुन क्रिया में केन्द्रित हो जाता है और उस समय हम किसी मंत्र को जपने लगते हैं।

मिथुनाचार को हमने पशुभाव से देखा है, प्रकृति के सन्देश को स्थूल बुद्धि से पढ़ा

है इसलिये हमारी मांसपेशियों और स्नायु जाल अपने सहज भाव से जो करते हैं, जितना कर सकते हैं उसे अवशभाव से देखने का दासभाव हमें आक्रान्त किये रहता है, ईशत्व और प्रभुत्व के विना मिथुन कर्म के रहस्य अनावृत नहीं होते। हमारे यहाँ की स्मृतियों ने स्त्री और पुरुष के सहज संवंधों को मर्यादित करने के लिये वहुत वड़ा उपक्रम रचा है, सामाजिक व्यवस्था को वनाये रखने के लिये कठोरतर संहिता को धर्म का विषय वना कर हमें सौंप दिया। उस युग की यह आवश्यकता रही होगी, इस प्रकार की व्यवस्था को मानने के लिये ऐसे ही अपरिहार्य कारण रहे होंगे। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इन मर्यादाओं ने समाज को संगत रखा और नैतिकता की एक स्पष्ट परिकल्पना दी किन्तु इसके साथ ही इस व्यवस्था का एक कुफल भी रहा कि आदमी समष्टि से इस तरह जुड़ गया कि उसका स्वतन्त्र रूप तिरोहित हो गया। स्त्री पुरुष के संवंध उसके लिये अनेक रूपों में विभाजित करके पाने-समझने लायक हो गये, फलस्वरूप आत्म चिन्तन के दुरूह मार्ग में वह अकेला रह गया, सहचारिणी का मनोरम सायुज्य उसके लिये निषिद्ध हो गया।

इस प्रकार के दर्शन ने नारी को केवल योनि स्वरूप समझा, योनि का व्युत्पत्ति सिद्ध और व्यवहारगत अर्थ ही लिया गया कि जो अभिव्यक्ति देती है, जो ग्रहणशील होती है, जो ग्रहीत को विकसित एवं पोषित करती है इसलिए नारी हमारे लिए मातृत्व प्रधान अभिधान रह गया। पत्नी के रूप में हमारे लिए वह स्वीकृत अवश्य रही किन्तु उसकी चरम सार्थकता माँ वनने में ही रही। निष्काम कर्मयोग का पाठ पढ़नेवाला वेदान्ती समाज इतर व्यवहारों में फलासवित को निन्दित बताता रहा किन्तु स्त्री सम्पर्क को वह सन्तान प्राप्ति के फल से ही जोड़े रहा —हो सकता है, इस प्रकार के निर्देश के पीछे व्यक्ति को संयत, स्वस्थ रखने की भावना रही हो किन्तु स्त्री को एक भिन्न एवं सीमित, स्थितियाँ देकर मनुष्य को प्रकृति से छिन्न करने का षड्यन्त्र जरूर रच दिया। प्रकृति के साहचर्य भाव को उदात्त अर्थ में समझने के लिए हम जो कर सकते थे उसी से च्युत करके हमें अद्वैत के आवर्त में ढकेल दिया गया।

कितनी हीन और संकीर्ण वात रही कि नारी से जन्म पाकर, उससे पोषित होकर हम उसी से घृणा करते रहे, उसे आत्मसाधना के अयोग्य ही नहीं वाधा स्वरूप मानते रहे। तंत्र का वामाचार यथार्थवादी रहा उसने नारी को एक जीवन्त प्रतीक मान-कर उसी के सहारे अपने विराट् स्वरूप को अकण्टक अवस्था में प्राप्त करने की चेष्टा की। वामाचारी अनुष्ठानों में एक अनुष्ठान होता है—भगयाग। यहाँ इस याग के अन्य विवरणों पर विचार न करके हम केवल भग शब्द पर ही अपना विश्लेषण केन्द्रित करेंगे। यह भग क्या है ? नारी की जंघाओं के मध्य जो विवर है वही अगर भग है तो भगवान् को जुगुप्सा से वचाया नहीं जा सकता। नारी स्वयं भगवती है और उसके सौन्दर्य को सर्वातिशायी बनाने के लिए हम सुभगा शब्द से उसे अभिहित करते हैं, यही सुभगात्व आगे चलकर सौभाग्य वन जाता है।

वैष्णवी या शाक्त किसी भी पद्धति से किये जाने वाले यज्ञों में गर्त की तरह खोदकर जो हवन कुण्ड बनाये जाते हैं उनमें योनि के समान आकृति का उल्लेख मिलता

है, 'भगाकार कुण्ड' कहीं भी नहीं कहा गया। अर्थात् हमारे पूर्वज भग और योनि के अन्तर से स्पष्ट परिचित थे। दोनों शब्द एक अंग विशेष के वाचक होने के कारण समानार्थक हैं किन्तु दोनों शब्दों का स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य है। मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि जिसने आधान कर लिया, बीज को आवृत करके रख लिया वह योनि और अन्यथा स्थिति में भग किन्तु केवल ये स्थितियाँ ही परमार्थ को स्पष्ट नहीं करतीं।

वस्तुत: भग एक ऐश्वर्य का, ईशत्व का, विभुता का सूचक है और यह बिन्दु दोनों में समान है, इसलिए हम भगवान और भगवती कहते हैं, अगर 'भग' के प्रतीक रूप में कोई उदात्त अवस्था नहीं होती तो इन परमोच्च स्थितियों को हम इस एक ही माध्यम से क्यों प्रकट करते ? तंत्र का कहना है—

त्रिकोणं भग इत्युक्तं वियत्स्थं गुप्त मण्डलम्
इच्छा ज्ञान क्रिया कोणं.................."

बिन्दु का विकास ही भग है, यह विकास त्रिकोणात्मक ही होता है। परामाया जब स्थिति, उत्पत्ति और संहार जैसी अवस्थाओं में अभिव्यक्त होने को तत्पर होती है तो इन्हीं तीन (बिन्दुओं) कोणों में प्रस्फुरित होती है और ये तीन कोण ही आगे चलकर ब्रह्मा, विष्णु एवं ईश्वर के रूप में स्थूल स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। भग शब्द का विवेचन करते हुए आगे कहते हैं—**'आलयः सर्वसौख्यानाम् बोधरत्न करण्डकम्'**

यह अवस्था सारे सुखों का आकर है और ज्ञान का आधार।

नारी को भग का व्यक्त प्रतीक देते हुए प्रकृति ने उसे स्वाभाविक रूप से गुप्त मण्डल बनाया है। पुरुष जैसी प्रकटता नारी को नहीं दी क्योंकि वह निगूढ़ रहस्य था, बोध—ज्ञान का प्रत्यक्ष उपादान था और रक्षणीय था।

भग शब्द के प्रत्येक अक्षर का अर्थ करने पर भी ऐसा ही दिव्य चित्र हमारे सामने प्रस्तुत होता है। 'भग' में भ् और ग् व्यंजन हैं जिनमें स्वर के रूप में अकार जुड़ा हुआ है।

'भ' का स्वरूप तंत्र शास्त्र में इस प्रकार निर्दिष्ट है—परमकुण्डली रूप, त्रिशक्ति (स्थिति, उत्पत्ति, संहार) मय, त्रिबिन्दुमय, पञ्चदेवमय और महामोक्षप्रद। 'ग' पंचदेवमय, त्रिगुणोपेत होकर भी निर्गुण, निरीह, निर्मल कुण्डली रूप और मोक्षप्रद है। शिव के समान यह सर्पभूषण, सर्पवाहन और शतयोजन शरीर वाला है।

इन दोनों व्यंजनों में समान रूप से संपृक्त आकार— शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान कान्तिमान्, पंचदेवमय, पंचकोणमय, त्रिगुणोपेत फिर भी निर्गुण, कैवल्य मूर्ति, बिन्दु तत्त्वमय एवं प्रकृति स्वरूप है।

इन अक्षर समूहों द्वारा प्रतिपादित अवस्थाएं कहीं भी, किसी भी रूप में नितान्त भौतिक नहीं हैं। मुक्तिमार्ग का रहस्य इन सभी अक्षरों में निहित है—और प्रकृति ने नारी को यह वरदान देकर प्रत्येक पुरुष को उसके प्रति आकृष्ट किये रखने का मोह दे दिया है तथा नर और नारी के सम्पर्क के माध्यम से वह यही समझाना चाहती है कि प्रत्येक पुरुष भगवान् होना चाहता है, भग से जुड़ा रहना चाहता है किन्तु हमारी मुग्धता यह कि हम भग को मूल रूप में न समझकर पशुवत् व्यवहार करने लगते हैं।

भग की पारमार्थिक व्याख्या करने वाला तंत्र भगयाग या संभोग का वास्तविक अर्थ समझाते हुए कहता है—

आनन्दो ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्
परशक्त्या च मिथुनं संयोगानन्द निर्भराः
युक्तास्ते मैथुनं तत्स्यादितरे स्त्री निषेवकाः"

ब्रह्म का व्यवहार योग्य विग्रह आनन्द है और वह आनन्द हमारे शरीर में स्थित है किन्तु उस आनन्द की अनुभूति शक्ति के संयोग पर निर्भर करती है—इस दृष्टि से मैथुन को संयोग और संयोग को आनन्दानुभव का आधार जो मानते हैं वे ही मैथुन करते हैं, इस दृष्टि के अलावा जो मैथुन करते हैं वे तो स्त्री सेवक हैं।

परांबा के दक्षिणा कालिका विग्रह का चित्र तो हमने देखा है जिसमें शिव—शववत्—निश्चल पड़े हैं और कालिका उनके वक्षः स्थल पर पैर रखे हुए है। हमारे भीतर विद्यमान उस शिव की भी ऐसी ही अवस्था रहती है, नारी स्वरूपिणी शिवा उसकी क्रियाशून्यता भंग करके उसके आनन्द को भोगने का जो उपक्रम रचती है वही हमारा पाशविक मैथुन है, स्त्री सेवन है। इस प्रकार के स्त्री सेवन से हम ब्रह्म के आनन्दमय रूप का आविर्भाव नहीं होने देते और केवल सुरत-सुख के भागी बनकर रह जाते हैं।

यह सर्वविदित है कि वामाचारी प्रयोगों में भगयाग जैसे बहुविध आयोजन किये जाते हैं और उसमें अनेक प्रकार के आसन एवं विधियाँ व्यवहार में लाई जाती हैं जिनमें मंत्र को सचेतन करने के लिए सांसारिक आग्रहों और ऐन्द्रिय कामनाओं से ऊपर उठकर उदात्त भावभूमि को साकार किया जाता है। इन प्रयोगों में साधक अपने व्यक्तिबोध से ऊपर उठकर शिवत्व के बोध से एकाकार हो रहता है। इस दृष्टि से मैथुन देह व्यापार न रहकर एक मार्ग बन जाया करता है। सांसारिक आग्रहों का परित्याग करने के लिए तन्त्र का निर्देश है—

अर्थाद्वा कामतो वापि सौख्यादपि च यो नरः
लिंगयोनिरतो मंत्री रौरवान्न निवर्तते
उपविष्टा यदा देवी तदा पुत्री नु कन्यका
पूजार्हा च यदा देवी तदा मात्मनि संशयः

जो व्यक्ति किसी कामना से, सुख प्राप्ति की इच्छा से या धन लाभ के लिए वामाचारी पद्धति को अपनाकर संभोग करता हुआ जप या साधना करता है वह आनन्द एवं सिद्धि का भागी नहीं होता वह तो लिंग और योनि का घर्षण करता हुआ उस व्यवहार में रत रहता है और ऐसा व्यक्ति रौरव नरक का भागी रहता है। जब देवी बैठी रहती है याने कुमारिका पूजन के समय जब कुमारी बैठी रहती है उस समय पुत्रीवत् होती है किन्तु जिस समय हम उसकी पूजा करते हैं उस समय वह साक्षात् देवीस्वरूप होती है इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए।

इसी प्रसंग में आगे कहा है—

"शुचौ चाशुद्धताभ्रान्तिः पापशंका च मैथुने
स भ्रष्टः पूजयेद्देवीं चण्डीमंत्रं कथं जपेत्

मदिरायां मैथुने च जातिं वृत्तिं न चाचरेत्"

देवी को समर्पित प्रत्येक वस्तु शोधित होती है, उसे मंत्रों द्वारा संस्कारित किया जाता है इसलिए प्रत्येक पदार्थ नैवेद्य के समान पवित्र होता है उसमें अपवित्रता का वहम रखने वाला, मिथुनाचार में पाप भावना रखने वाला साधक भ्रष्ट होता है, वह चण्डी के मंत्र को और देवी को वास्तविक अर्थ में साध नहीं सकता। मदिरा और मैथुन में जाति आदि का विचार नहीं करना चाहिए।

आशय यह कि साधक पाप, घृणा, सन्देह जैसे मानसिक आग्रहों और सुख प्राप्ति जैसी ऐन्द्रिय आकांक्षाओं तथा धन प्राप्ति जैसे भौतिक दबावों से पूरी तरह मुक्त होकर ही इस पद्धति में प्रवृत्त हो। इनमें से एक भी भाव आ जाता है तो साधना में छिद्र हो जाता है जिसमें से पवित्रता, सात्त्विकता और उदात्तता निकल जाती है, रह जाती है नितान्त भौतिकता और ऐसी भौतिकता में पाप जैसे कल्मष साधक पर सवार हो जाते हैं।

प्रकृति ने प्रत्येक पदार्थ मुक्त रखा है किन्तु उसके रहस्य को साधनालभ्य एवं पात्रगम्य बनाया है। हम सब प्रकृति शासित हैं किन्तु उसके स्थूलतर रूप में रह रहे हैं जैसे साधारण काश्तकार पटवारी और वर्षा के अधीन ही अपने को समझता है। उच्चतर स्थितियों में ये अधिकारी अत्यन्त साधारण रह जाते हैं। साधक जब सामान्य स्तर का अतिक्रमण करता है तो शक्ति के द्वार खुल जाते हैं—यह भी प्रकृति का ही स्तर है पर—साधनागम्य है। मिथुन भाव के रहस्य को समझना भी ऐसी ही बात है।

इच्छा शक्ति

साधना करने वाले के सामने एक दुरन्त समस्या आती है—मन का केन्द्रीकरण या नियन्त्रण किस तरह किया जाय? गीता कहती है—अभ्यास और वैराग्य से इसका नियन्त्रण संभव है। वैराग्य संभव नहीं, अभ्यास जितना करते हैं उतना ही यह सूक्ष्म होता जाता है और जितना सूक्ष्म हो जाता है उतना ही तरल अतएव दुर्धर्ष बन जाता है। थका देने वाला संघर्ष चल पड़ता है। स्वयं ही चुपके से खिसक जाता है और वापस आकर कह देता है मैं वहाँ चला गया था। यह क्रम जब तीव्र से तीव्रतर होने लगता है तो हम अपने आपको पराजित-सा अनुभव करने लगते हैं। जिन इन्द्रियों को विषय विरत करने की बात कही जाती है वे बेचारी उपकरण मात्र हैं, मन की शक्ति ही उनको भगाये रखती है। मन को बहिर्मुख होना है इसलिये इन निरीह साधनों का वह निर्ममता से उपयोग करता है। दस इन्द्रियों की पूरी सेना लेकर वह अड़ जाता है फिर भी साधक उस पर कशाघात करता है, उसे निश्चित विषय पर आने को बाध्य करता है। यह नहीं है कि साधक पराजित हो जाता है और मन उसके लिये अजेय दीवार बना रहता है किन्तु उसे अपने लक्ष्य साधन के लिये बहुत श्रम करना पड़ता है, कड़ा संघर्ष करना पड़ता है।

जब मन ही सब कुछ करता है तो साधक कौन है? क्या एक ही मन दो रूपों में

विभाजित है ? या साधक के रूप में कोई भिन्न अस्तित्व प्रकट होता है। वस्तु स्थिति यह है कि जैसे एक जल विविध रूपों में रहता है उसी तरह हमारा 'अहम्' देह में व्याप्त अनेक अंगों, उपागों और उपकरणों में भिन्न रूप, आकार और प्रकृति में विभाजित हुआ रहता है। मन, नपुंसक लिंग शब्द है अर्थात् इसमें न स्त्रीत्व है न पुरुषत्व अथवा इसमें स्त्रीत्व भी है और पुरुषत्व भी है। परतर स्थितियाँ किंवा मुक्ति की कामना जब मन के स्तर पर आकर गूंजती है तो इसे वह सन्देश ग्रहण करना पड़ता है।

संवेदनशीलता मन का धर्म है इसलिये प्रत्येक संवेदना को ग्रहण करना और भोगना इसके लिये अनिवार्यता है। ऊपर से आ रही यह मुक्तिकामना इसके लिये अरुचिकर होती है सामान्य रूप में यह वहिर्मुख रहा करता है और यह सन्देश इसे अन्तर्मुख करना चाहता है इसलिये साधक और मन के रूप में दुहरा अस्तित्व हमें प्रतीत होता है। एक ही आधार में दो धारायें जब आवेशित की जाती हैं तो वह 'एक' ही दो रूपों में बंटा हुआ और दुहरा प्रतीत होने लगता है।

मन के इस बाधक स्वरूप से मुक्ति पाने के अनेक मार्ग वतलाये गये हैं। ये विविध मार्ग ही अनेक सम्प्रदायों और साधनाविधियों के मूल जनक रहे हैं। यहाँ हम वैष्णव विधि के निषेध और दमनमार्गी उपायों पर विचार न करके समष्टि की संरचना पर विचार करते हैं।

तंत्र यह मानता है कि सारे विस्तार के अन्त में एक प्रकार का शून्य है, उस शून्य से ही यह विस्तार होता है। वास्तव में शून्य निरपेक्ष है, उसे किसी भी प्रकार के विस्तार की आवश्यकता या अपेक्षा नहीं रहती फिर भी उस शून्य में एक नैसर्गिक विक्षोभ होता है और उसकी निःसंगता टूटती है। यह पहले पहल होने वाला विक्षोभ इच्छामय होता है क्योंकि आगे के विस्तार के लिये इच्छा और आकांक्षा होनी ही चाहिए इसलिये इसे हम इच्छा कहते हैं। यह स्थिति परामाया का क्षेत्र है जहाँ इच्छा और इच्छामय परस्पर भिन्न और अभिन्न रूप में विलासरत हैं। शव की स्थिरता को गति से अनुप्राणित करने वाली इच्छा एक को ही दो विरुद्धधर्मी और विपरीत रूपों में विभाजित कर देती है। यहीं से मिथुनभाव का प्रारंभ होता है, यहीं प्रकृति इच्छा रूप धारण करती है।

प्रथम विक्षोभ में कितनी शक्ति होती है—यह हमारी कल्पना से परे की वात है। इतना अवश्य है कि इस उद्वेलन से शून्य में एक भयंकर क्षोभ होता है और भीषण द्वन्द्व होने लगता है—इस क्रिया को तन्त्र मार्ग स्मरसंगर कहता है याने मिथुन का सुखकर संघर्ष, विस्तार मूलक संगर होता है यह। दोनों का यह संघर्ष विस्तार के अन्तिम स्तर तक, स्थूलता की अन्तिम स्थिति तक चलता रहता है जिसे वीरभाव में मैथुन के माध्यम से जाना जाता है।

व्यवहार में जिस इच्छाशक्ति शब्द का हम प्रयोग करते हैं वह (Will power) है जिसे हम इच्छा को स्थूलतम स्तर पर लाकर घटित करते हैं। अन्यथा तांत्रिक दृष्टि में 'इच्छा' मूल विक्षोभ का सूचक है। मन को केन्द्रित या वशीभूत करने के लिये यही विक्षोभ कहता है जो सामान्यतया बहुत मन्द रहता है और मन अपने वहिर्मुखी विस्तार में रमता रहता है। यह दो तरह का रूप जो मन और साधक के दो रूपों में विभाजित-

सा प्रतीत होता है वह वहिर्मुखी और अन्तर्मुखी चेष्टायें हैं, प्रवृत्ति परक और निवृत्ति परक धारायें हैं जिनमें एक ही तत्त्व, एक ही शक्ति विद्यमान है।

संसार का यह अकल्पित विस्तार या व्यक्ति के सीमित देह में व्यक्त इस वाह्य विस्तार का अतिसंक्षिप्त स्वरूप एक नियत प्रक्रिया का अंग है। जो वाहर घट रहा है वही हमारे देह में घंट रहा है किन्तु वाहर का संसार विस्तृत है, विशाल है इसलिये उसकी गति तीव्र होकर भी मन्द है और हमारे देह में वही गति मन्द लग कर भी तीव्र है। यह संसार जिन स्थितियों से गुजरने में अरवों वर्ष लेता है हम उसे कुछ दशकों में ही हो लेने देते हैं। जव व्यक्ति के अन्तश्चक्षु खुलते हैं तो चतुर्युग और सारे अवतार उसे इसी देह में, इसी जीवन में होते नजर आते हैं। ऐसी दिव्यदृष्टि प्राप्त कर लेने के वाद मन का केन्द्रीकरण कोई समस्या नहीं रहती क्योंकि उसे दिशा मिल जाती है।

इच्छा, जिसने शून्य को क्षुब्ध किया था, तरंगायित होकर स्थूल की सृष्टि या यात्रा करती है। इसे मुख्यत: दो भागों में विभाजित करते हैं एक विन्दु स्थूल संसार की सीमा वनाती है, दूसरी सूक्ष्म संसार का निर्धारण करती है। सूक्ष्म संसार अनुभूति का विषय है उसमें तत्त्वों के स्थूल आयाम ठोस, तरल, गैसीय रूप नहीं हैं तो स्थूल जगत् में केवल ऐन्द्रिय आयाम हैं जो ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान का विषय वनते हैं।

जिस तरह जल के परमाणु में अकल्पित शक्ति छुपी रहती है किन्तु वह सांसारिक क्रिया कलापों में परिवेश किंवा वातावरण से इस तरह घुला मिला रहता है कि उसकी वह शक्ति न प्रकट हो पाती है, न उसका उपयोग ही हो सकता है, वहाँ केवल वाह्य स्वरूप स्थूल उपयोग में आया करता है। ठीक इसी तरह इच्छा की वह अकल्पित शक्ति हमारे विचारों और व्यवहार के साथ मिलकर अनर्गल रूप से विखर जाया करती है, उसकी वह सामर्थ्य प्रकट नहीं हो सकती। मानसिक जगत् के गुणात्मक आग्रह उसे आवृत किये रहते हैं, उसका स्वरूप-व्यक्त होने की स्थिति आ ही नहीं सकता।

इच्छाशक्ति में शक्ति शब्द वाद में जुड़ता है, शक्ति वास्तव में परतर स्थिति है। जो महायाया, माया, शक्तिमाया और तत्त्वमाया के क्रम से विस्तार पाती है। ये सारे स्तर एक दूसरे से गहनतर रूप में जुड़े हुए हैं इसीलिये शक्ति को हम इच्छा के साथ जोड़ देते हैं। व्यवहार में हम जिस इच्छा को जानते हैं वह हल्की है, उसमें हम अनिश्चित हो जाते हैं जैसे एक दरिद्र व्यक्ति भव्य महल में रहने की इच्छा कर लेता है अन्यथा इच्छा के मूल रूप को प्राप्त कर लेने पर जो कामना होती है वह स्थूल रूप में चरितार्थ होकर रहती है।

इच्छा को इच्छाशक्ति के स्तर तक आने में एक लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है और इनमें ऊपर का स्तर नीचे के स्तर पर पूरी तरह प्रभावी रहता है किन्तु निकटतम स्तर तक ही। जैसे-जैसे स्तरों में अन्तराल होता जाता है वैसे वैसे उनका प्रभाव मन्द एवं तिरोहित-सा होता जाता है।

तंत्र में इस अन्तर को अनेक प्रकार के प्रतीकों से समझाया गया है। नारी के दो विवरों (मुख और योनि) को उसने एक ही रूप में देखा है, दोनों में एक से अंग हैं। तीन अंगों से युक्त ये विवर जव तक व्यक्ति को भिन्न रूपों में दिखते हैं तव तक वह संसार के

मर्म को नहीं समझ पाता। जिस क्षण वह इन दोनों में ऐक्य का दर्शन कर लेता है, उसी क्षण वह दिव्य भाव को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् एक ही इच्छा जव इच्छा शक्ति का रूप ग्रहण कर लेती है तो हम उसके आवर्त में फंस जाते हैं किन्तु जव हम उसके शक्तिमन्त रूप को विस्मृत करके केवल इच्छा रूप को समझने लगते हैं तो रहस्य अनावृत होने लगता है। (उस इच्छा में भी शक्ति बीज एवं मूल रूप से विद्यमान तो है ही)।

माँ काली की साधना करने वाले हों या त्रिपुरसुन्दरी की, वे स्तरों को पार करके मूल रूप को देखना और पूजना चाहते हैं एतदर्थ वे मन्त्र या चिन्ता को माध्यम वनाते हैं और यहीं उसका गुणात्मक जगत् के अधिष्ठता मन से साक्षात्कार होता है जो शक्ति स्तर का निकटतमस्तर है। इसे पार करने के लिये या मनोमय संसार का अतिक्रमण करके आगे वढने के लिये हम ज्ञात या अज्ञात, प्रत्यक्ष या परोक्ष भाव से इच्छा को ही माध्यम वनाते हैं क्योंकि इच्छा ही परतर विन्दु है और परतर विन्दु ही पूर्वतर स्थितियों पर नियन्त्रण कर सकता है।

मन को वार-वार इसके लिये प्रेरित करना कि वह बाहर के विस्तार से हटकर भीतर के मूल रूप की पहचान करे, यह भी इच्छा ही है और अन्ततोगत्वा यह इच्छा ही उसे नियन्त्रित कर पाती है। योग में प्राणों का नियन्त्रण करके अथवा चित्त की वृत्तियों का निरोध करके जो पाया जाता है उसके मूल में भी इच्छा ही रहती है। हमारी प्रेरणा जव आज्ञा का रूप ग्रहण कर लेती है तो वह मन के लिये लगाम वन जाती है।

मन जिस द्वैत से ग्रस्त होकर साधकता में वाधा की स्थिति का प्रदर्शन करता है उससे आमने सामने होने की परिस्थिति न आने देना ही श्रेयस्कर रहता है। मन को यह प्रेरणा देना अच्छी वात है कि वह अपने कल्पना वितान का संवरण करके अपेक्षित दिशा में प्रवृत्त हो किन्तु उसके पलायन पर पछताना या असहाय भाव दिखाना गलत बात है।

मन जिधर जाता है—जाय। उसके पलायनवादी स्वभाव पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा इच्छा के राजमार्ग पर ढकेल दिया जाय, इच्छा वहिर्मुखी नहीं शून्य को उद्वेलित कर देने वाली मूल इच्छा। जव हम इच्छा के इस रूप को पाने के लिये आतुर होने लगेंगे तो मन ऊर्ध्वगति होने लगेगा, उसमें विद्यमान तम और रजोगुण के आग्रह शिथिल पड़ने लगेंगे क्योंकि इच्छा संकल्पात्मक बन कर इन बंधनों को कमजोर कर देगी, ये आवरण क्षीण होते जायेंगे और वहिःकरण-इन्द्रिय समूह के रूप में वने हुए इस भौतिक देह में रमने वाला मन अन्तः करण—मन, वुद्धि, चैतन्य—में स्थिर होने लगेगा।

जैसे-जैसे इच्छा मन को अन्तर्मुखी करेगी। वह वुद्धि लोक में प्रवेश करेगा क्योंकि गतिशीलता उसका धर्म और प्रकृति है। बुद्धि लोक की गरिमा के समक्ष वह समर्पणभाव से ओत प्रोत हुए विना नहीं रह सकता। वहाँ उसकी नैसर्गिक संवेदनशीलता विवेक युक्त हो जाएगी, उसकी कल्पना निर्णायक वन जाएगी। इस क्षेत्र में भी मन को रुकना नहीं है क्योंकि ऊपर वाली इच्छा उसका उत्कर्षण कर रही है और यह क्रम शनैः शनैः निर्णायक स्तर अथवा मूलबिन्दु पर जाकर समाप्त हो जाता है। अतः मनोनिग्रह के लिये इच्छा को भी शक्ति के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

प्रायोगिक चिन्तन

आत्म चिन्तन की कोई विधि हो, अपने आपको पाने का कोई भी प्रकार हो वह अन्ततोगत्वा रहता है अनुभुति के स्तर पर ही और चरम स्थिति वह आती है अथवा उस स्थिति को प्राप्त करना होता है जहाँ अनुभुति भी शून्य हो जाती है अर्थात् वह एक ऐसा विराट् शून्य है जिसमें ज्ञान के आयाम विरत-शान्त हो जाते हैं। संसार में जो कुछ भी दृश्य है वह शक्ति का जड़ रूप है इसलिये अज्ञान के सूत्र से हमें जोड़ता है यही अज्ञान जब ज्ञान का रूप ग्रहण करता है तो हम शक्ति के परतर क्षेत्र में प्रवेश करते हैं और जब हम ज्ञान शून्य हो जाते हैं तो अज्ञान के विस्तार से और ज्ञान की निश्छलता से भी परे चले जाते हैं वहाँ वही एक शक्ति हमें दो स्वरूपों में दिखती है। इन दो रूपों में बड़ा झीना-सा अन्तर रहता है अर्थात् एक ही तत्व की सक्रिय और निष्क्रिय दो स्थितियाँ स्पष्ट आभासित होने लगती है जिसे एक स्वर की दीर्घता से हम कहा करते हैं— शिव और शिवा नामों से अभिहित करते हैं। शिव में जो इ कार का स्वर है वही निष्क्रिय (शव) अवस्था के सक्रिय होने की, शून्य में विक्षोभ होने की सूचना है इसी में आ और जोड़कर शिवा शब्द से जिस स्थिति की प्रतीक कल्पना करते हैं वह शून्य में विविध आयाम प्रकट होने की परतर स्थिति है और इसमें यह सारा विस्तार समाहित हो जाता है।

संसार के रहस्य का भेदन करने की, जन्म और मृत्यु की पहेली को समझने की हमारे में एक स्वाभाविक जिज्ञासा रहती है। वह भी इसलिये कि प्रकृति अपने मूल रूप में प्रतिष्ठित होना चाहती है जैसे संसार के सारे पदार्थ अपने मूल रूप में रहना चाहते हैं। इस जिज्ञासा को पूर्ण करने के अनेक मार्ग हैं। संसार के विभिन्न धर्म और उनके तत्व इसी रहस्य का उद्घाटन करने के आधार ढूंढते हैं और विधियाँ बताते हैं।

योग मार्ग में यम-नियम के रूप में जिन साधनों को पालन करने का निर्देश दिया गया है उनके एक-एक आधार को सर्वस्व मान कर विविध धर्म अस्तित्व में आये हैं। इस बात को हम ऐसे भी मान सकते हैं कि एक ही चिन्तन का वृक्ष कालान्तर में इतना विस्तृत और पुष्ट हो गया कि उसकी अनेक शाखायें स्वतन्त्र वृक्ष का रूप धारण कर गई। इस तथ्य से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक भी आधार को सम्पूर्ण रूप से जीवन में उतारने से पूर्णता प्राप्त हो सकती है क्योंकि ये आधार भी अन्ततः उस एक ही वृक्ष के अंग हैं और प्रत्येक अंग वृक्ष में जाकर ही जुड़ता है, वृक्ष से ही सम्पूर्ण होता है। इन सारे आदेशों का पालन करने से हम वृक्ष की सम्पूर्ण सत्ता को, विविधता को और रहस्य को समग्रभाव से प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं।

दया, प्रेम, सत्य, आस्तिकता, त्यागशीलता जैसे व्यवहारों से हम वैचारिक स्तर पर उदात्त होने का प्रयत्न करते हैं। क्रिया और वचन को हम मानसिक एवं सूक्ष्म रूप में एक तुष्टिकर स्थिति एवं परिणति के रूप में अनुभव करते हैं। दयावान् बनकर या या आस्तिक होकर हम मानसिक पवित्रता एवं सन्तोष का अनुभव करते हैं, इससे हम निर्मल होते हैं और यह मलहीनता ही हमें हल्केपन का आभास कराती है किन्तु यह हल्कापन ज्ञानशून्यता की उत्कृष्ट स्थिति नहीं होती, इसमें जागतिक अज्ञान का आवरण

थोड़ा कम हो जाता है और इसे ही हम परम स्थिति समझ लेते हैं।

शून्य को या स्व को प्राप्त करने के अनेक मार्गों में विस्तार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिन मार्गों में उपेक्षा की बात कही जाती है वे या तो उस चरमस्थिति की परिकल्पना नहीं देते या अपने खण्डबोध को और आत्मसम्मोहन की स्थिति को ही अन्तिम मानकर विरत हो जाते हैं। वास्तविक और व्यावहारिक वात यही रहती है कि विस्तार की क्रमिक अवस्थाओं को देखा और जाना जाये। यह विस्तार अन्तिम रूप में तत्वों पर आता है इसलिये तत्वों के रूप, गुण और प्रभाव को जानना जितना आवश्यक है उतना ही लाभदायक भी।

तत्वों का जो रूप हम देखते हैं, उन्हें जानने के जो आयाम हैं वे स्थूल हैं। इनका रूपाकार हम आज के भौतिक विज्ञान को सौंप देते हैं। इन्हीं की सूक्ष्म स्थिति तन्मात्रा या तत्व की गुणात्मक स्थिति होती है जिसके दो भेद हो जाते हैं—पहला तन्मात्रागत जिसमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये आते हैं। दूसरे में इनका सूक्ष्म एवं अनुभूतिगम्य अतएव गुणात्मक रूप आता है। आशय यह कि आकाश, गुणी है और शब्द उसका गुण है किन्तु आकाश भी गुण का विस्तार है इस तरह ये पाँचों तत्व तीन गुणों के कारण गुणी हैं और क्रमानुगत रूप में तन्मात्रायें इनकी सूक्ष्म अवस्थायें हैं।

तत्व भी सत्व, रज, तम रूप तीन गुणों की ही विकृतियाँ हैं। आकाश, वायु और पृथ्वी क्रमशः सत्व, रज और तमोगुण की ही विकसित अवस्थायें हैं। तेजस्तत्व और जल तत्व गुणों की मिश्रित स्थितियाँ हैं। तैजस में सत्व व रजोगुण की वहुलता रहती है तो जल में सत्व और तमोगुण की प्रवलता। स्थूल पदार्थों से उनके स्थूल आयाम जाने जा सकते हैं जिन्हें कितने भी रूप दिये जा सकते हैं किन्तु इनसे सूक्ष्म प्रक्रिया को नहीं जाना जा सकता। भोतिक विज्ञान में इलैक्ट्रोन के जिन गुण, धर्मों, स्वभाव और गति को जाना जाता है वे भी स्थूल ही हैं। भारतीय ज्ञान इन्हें अधिक सूक्ष्म किंवा भावात्मक स्थिति में जानता है इसलिये इनका भार, स्थूलता, दिशा, काल आदि आयाम उसमें भिन्न आधार ग्रहण कर लेते हैं।

सत्वगुण का या तमोगुण का कितना वड़ा विस्तार है—यह बात हमारे लिये वहुत महत्व रखती है। इनका परिज्ञान करके हम अपने आपको नाप सकते हैं। हम एक ही जगह चक्रगति में घूम रहे हैं या आगे वढ़ रहे हैं, हमारी दिशा सही भी है या नहीं—इन सब वातों को हम आँक सकते हैं। यह इसलिये अनिवार्य है कि माध्यम कोई भी हो, अन्ततः हमें गुणात्मक जगत् को पार करना पड़ेगा ही।

सत्व के उदय होने के अथवा जीवन में सत्वगुण के प्रकट होने के लक्षण होते हैं कि व्यक्ति में परहित साधन अथवा परदुःख, कातरता, भले-वुरे में भेद करने का विवेक, कष्टों को निरपेक्ष रूप से सहन कर लेने की क्षमता, सत्य, ज्ञान, मेधा, स्मरणशक्ति, धैर्य और तटस्थता का विकास होने लगता है। यह सत्व गुण का राज्य है किन्तु यह न भूलना चाहिए कि इसमें भी रजोगुण और तमोगुण बीज रूप में विद्यमान रहते हैं इसलिये यह अन्तिम स्थिति नहीं हैं, हाँ विशुद्ध सत्व, प्रकृष्ट सत्व और परम सत्व की स्थितियाँ इसी से प्राप्त होती हैं इसलिये यह गुणों के शुद्धीकरण के क्रम में अन्तिम है और इसमें अन्य दो

गुणों का भार एवं तनाव नहीं रह पाता इसलिये किसी सीमातक कुण्ठाहीन स्थिति का सुख अनुभव होने लगता है।

रजो गुण की प्रवलता होने पर व्यक्ति निराशावादी, परेशान, भ्रमणशील, अभिमानी, असत्यभाषी, कठोरचित्त, दंभी, मान-वड़ाई चाहने वाला, महत्वाकांक्षी, कामी, क्रोधी और हँसने वाला होता है। अर्थात् हमारे मन में इस तरह की भावनाओं का उदय मूल रूप में रजोगुण की तीव्रता के कारण होता है। तमोगुण की वृद्धि होने पर हम चिन्तित, नास्तिक, धर्महीन, कर्त्तव्यमूढ़, विवेक शून्य, जिद्दी, क्रियाहीन हो जाते हैं। पड़े रहना, सुस्ताना और सोना हमें सुहाता है।

हमारे जीवन में हम देखें तो हमें पता चलेगा कि अधिकांश व्यक्ति इन गुणों की स्वाभाविक वर्तनशीलता में फंसे रहते हैं और विवशभाव से इनके प्रभावों को भोगते हैं। विरले ही लोग ऐसे होते हैं जो किसी भी गुण की एक स्थिति में विचरण करते हैं। हम हमारे आस-पास रहने वाले लोगों की मनःस्थिति, विचार और कार्यों को देख कर अनुमान कर सकते हैं कि वह किस गुण के प्रभाव क्षेत्र में है अथवा उसमें स्थूल रूप से किस तत्व की प्रखरता हो रही है।

इन तत्वों का चक्रवत् वर्तन होता रहता है जिसे हम दिनरात के क्रम में भोगते हैं। ऊपर पृथ्वी तत्व को तमोगुणवहुल कहा गया है और निद्रा तमोगुण की अभिव्यक्ति है। यों, तमोगुण संहार शक्ति का प्रतीक है किन्तु वह उसकी तीव्रतम स्थिति है और किसी भी स्तर पर प्रकट हो सकती है। साधारणतया (उत्क्रान्त होने से पहले तक) तमोगुण के प्रभाव प्रकट होते हैं और यह अन्य गुणों का आधार बनता है। जैसे पृथ्वी शेष तत्त्वों का आधार वनती है। विचित्र वात यह कि तमोगुण सन्तुलित अवस्था में फीडिंग लाइन का काम करता है। निद्रा भी तमोगुण भूयिष्ठ है जो वैष्णवी-सत्वाभिमुख, राजसी और तामसी निद्रा के रूप में तीन प्रकार की है। वैष्णवी निद्रा या निद्रा के रूप में तमोगुण की अभिव्यक्ति प्रकृति के सीमा क्षेत्र की अनिवार्यता है। सात्विक निद्रा विश्रान्ति का निमित्त वन कर आती है और अत्यल्प समय के लिये मनुष्य को तमोगुण की प्रतीति कराकर विरत हो जाती है। तामसी निद्रा विश्व प्रकृति में प्रलय के समय प्रकट होती है और सवको अपने गहनतम में आवृत कर लेती है। व्यक्ति प्रकृति में यह संज्ञावाही स्रोतों और धमनियों को कफ से अवरुद्ध करके प्रकट होती है, दिन और रात का इसमें कोई अन्तर नही पड़ता। अर्थात् तमोगुणी प्रकृति के व्यक्ति किसी भी समय सो जाते हैं, सोने के लिये न उनको प्रतीक्षा करनी पडती है, न उसकी कोई सीमा है। राजसी निद्रा या रजतमोगुण युक्त (क्योंकि निद्रा तमोगुण के ही कारण होती है) स्थिति अनियतकालिक रहती है फिर भी आधी रात के समय इसका प्रभाव प्रकट हुआ करता है जिसमें वायुतत्त्व प्रधान होता है या वात प्रकृतिवाले व्यक्तियों को अर्धरात्रि में निद्रागम होता है। यह स्थिति सामान्य और सहज प्रकृति की है अभ्यासवश या अन्य किसी व्यतिक्रम के कारण हुई स्थायी अथवा अस्थायी अवस्था से कोई निर्णय नहीं किया जाना चाहिए।

गुणों का यह आवर्तन चक्र व्यक्ति की नैसर्गिक अथवा जन्मजात प्रकृति से

परिचालित होता है तो भी इसे वातावरण से प्रभावित किंवा किसी सीमा तक रूपान्तरित भी किया जा सकता है। वातावरण में संगति और सामाजिक सम्पर्क तो आते ही हैं व्यक्ति के आहार और विचार प्रमुख रूप से आते हैं। एक सीमा तक दृढ़निश्चयी व्यक्ति संगति के प्रभाव से अछूता रह सकता है किन्तु आहार और विचार से बच पाना बड़ा यत्नसाध्य होता है। तामसी आहार-विचारों को और व्यवहार को भी तमोगुणी बनाता है। इनका आहार जैसी स्थूल वस्तुओं से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहता है क्योंकि आहार ही विपाक अवस्था में जाकर वैचारिक सत्ता को निर्मित एवं प्रभावित करता है।

हमें निरन्तर प्रगति करते हुए उच्च से उच्चतर स्थिति को प्राप्त करना पड़ता है। गुणों के विस्तार एवं मनुष्यों में उनकी उपस्थिति के तारतम्य को आधार मानकर वर्गीकरण किया गया है। यह वर्गीकरण यथार्थवादी भी है और हमारी वर्तमान स्थिति का परिचय प्राप्त करने के साथ आगे की स्थिति को प्राप्त करने का संकेत भी। प्रसंगवश हम वर्गों का परिचय प्राप्त कर लें—

संसार के समस्त मनुष्यों को सोलह वर्गों में बाँटा गया है जो क्रमशः वनस्पति, मत्स्य, पशु, प्रेत, पिशाच, राक्षस, पक्षी, सर्प, असुर, यम, गन्धर्व, कुबेर, वरुण, महेन्द्र, ऋषि और ब्रह्मसत्व के नाम से जाने जाते हैं। इनमें आगे वाले स्तर अच्छे माने जाते हैं। तमोगुण से प्रारंभ होकर ये सत्वगुण की निर्मलता में जा पहुंचते हैं और वास्तविक यात्रा सत्वगुण से ही प्रारंभ होती है।

बनस्पति प्रकृति व्यक्ति-वृक्षों की तरह एक ही स्थान पर रहने वाला या स्थान मोह से ग्रस्त, धर्म, अर्थ और काम से हीन केवल पेट पर केन्द्रित हुआ करता है। पेड़ की तरह अपने स्थानसे बन्धे रहना, खाना खाते रहना चाहता है किसी भी तरह की महत्वाकांक्षा उसमें नहीं रहती। भाग्य या प्रकृति ने जो कुछ भी दे दिया वही पर्याप्त है।

मत्स्य प्रकृतिवाले लोग मूर्ख, डरपोक, अस्थिर, पानप्रिय, धींगामस्ती करने वाले होते हैं।

पशु प्रकृति के व्यक्ति आलसी, निद्रालु, रति परायण, अकर्मण्य हुआ करते हैं।

प्रेत प्रकृति वाले लोग ईर्ष्यालु, आलसी, लोभी, दान देने में अरुचि रखने वाले, दुखी और अविवेकी होते हैं।

पिशाच स्वभाव वाले व्यक्ति पवित्रता—अपवित्रता का विचार न करने वाले (उच्छिष्टभोजी), तीक्ष्ण स्वभाव, साहसी, निर्लज्ज, स्त्रियों पर मरने वाले होते हैं।

राक्षस प्रकृति के व्यक्ति एकान्तप्रिय, क्रूर, ईर्ष्यालु, धर्म से घृणा करने वाले, आत्मप्रशंसी होते हैं।

पक्षी स्वभाव के व्यक्ति अतिकामी, निरन्तर कुछ-न-कुछ खाते रहने वाले, क्रोधी और भ्रमणशील होते हैं।

सर्प प्रकृति के व्यक्ति गर्म मिजाज, जल्दी क्रोध करने वाले, उद्यमी, डरपोक किन्तु बिगड़ने पर प्रचण्ड, मायावी, आहार विहार में चंचल होते हैं।

असुर स्वभाव वाले क्रूर, ऐश्वर्य सम्पन्न, ईर्ष्यालु, पेटू किस्म के होते हैं।

यम प्रकृति के लोग अपने काम को पूरा करने वाले, दृढ़संकल्पशील, निर्भीक

तीव्र स्मरणशक्तिवाले, पवित्रता में विश्वास रखने वाले, मोह—अहंकार और द्वेष भाव से रहित हुआ करते हैं।

गंधर्व स्वभाव के लोग सुगन्धित पदार्थों एवं पुष्पों के शौकीन, संगीत और नृत्य के प्रति आसक्ति रखने वाले, मौज-मस्ती से रहने वाले होते हैं।

कुबेर प्रकृति के लोग मध्यस्थ या तटस्थ वृत्ति वाले, धन कमाने और संग्रह करने में चतुर, निर्माण शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

वरुण प्रकृति के व्यक्ति पिंगल वर्णी, ठण्डे मौसम को पसन्द करने वाले, मधुरभाषी होते हैं।

महेन्द्र प्रकृति के लोग शास्त्रानुरागी, विद्याव्यसनी, वीर, अपना अनुशासन मनवाने वाले, अपने आश्रितों का भरण-पोषण करने वाले और महिमासम्पन्न होते हैं।

ऋषि प्रकृति के व्यक्ति मन्त्र जप करने वाले, व्रतोपवास एवं अपने संकल्प को पूरा करने वाले, ब्रह्मचारी, हवनकर्त्ता, विद्याव्यसंगी, ज्ञान-विज्ञान से युक्त होते हैं।

ब्रह्म प्रकृति के लोग पवित्र रहने वाले, भगवान् में आस्था रखने वाले, सद्ग्रन्थों (वेदों) का अध्ययन करने वाले, गुरुओं की सेवा-सत्कार करने वाले, अतिथि सत्कार में परायण होते हैं।

इन लक्षणों के आधार पर हम हमारी किसी भी प्रवृत्ति का, हमारा स्वयं का या किसी भी व्यक्ति का मूल्यांकन और वर्गीकरण कर सकते हैं। ऋषि और ब्रह्म प्रकृति के व्यक्तित्व से हमारी उन्नति का प्रारंभ होता है और ये स्तर सत्वगुण के क्षेत्र हैं अगर हम इन स्थितियों को हमारे व्यवहार में ले आये तो अभ्यासवश ही सत्व के क्षेत्र में प्रवेश कर सकते हैं।

स्तुति शक्ति

उपासना में चिन्तन की दार्शनिकता को छोड़कर यदि किसी माध्यम की आवश्यकता होती है तो वह स्तोत्र और मंत्र ही होते हैं। स्तोत्र विधि है और उसकी एक निश्चित सीमा व स्वरूप होते हैं निश्चय से इस विधि का एक लक्ष्य भी होता है। मंत्र का क्षेत्र स्तोत्र की अपेक्षा विस्तृत होता है। वर्णन की दृष्टि से स्तोत्र विशाल होता है उसमें किसी देव विशेष का रूप वर्णन होता है या विभिन्न आयामों से देखे गये रूपों के अभिधेय होते हैं जो शतनाम और सहस्रनाम की संख्यात्मकता से परिगणित किये हुए रहते हैं।

साधारणतया, स्तोत्रपाठ व्यक्ति को देवता की शक्ति एवं रूप की अलौकिकता से मुग्ध करके भावनात्मक जगत् के सौन्दर्य से अभिभूत कर दिया करते हैं जिससे व्यक्ति आत्मसम्मोहन की स्थिति में चला जाता है। मन शब्दों के साथ एकरूप होकर वहिर्मुखी वृत्तियों को छोड देता है इसलिये रजोगुणी और तमोगुणी प्रभाव के छूट जाने से सत्वगुण का संस्पर्श मन को आनन्द का आभास करा देता है।

अपवाद की बात छोड़कर स्तोत्र पाठ के फल को देखने से हम इस निर्णय पर

पहुँचते हैं कि स्तोत्रविधि व्यक्ति को भावसमाधि तक पहुंचा सकती है। कारण यह है कि स्तोत्र पाठ में एक नियत शब्द की आवृत्ति न होकर एक केन्द्रक की मीमांसा होती है इसलिये तात्त्विक दृष्टि से स्तोत्र पाठ और मंत्र का एकवार जप करना समान अर्थ और फल प्रद रहता है किन्तु उसी स्थिति में जब जप को जप की तरह किया जाय।

वैसे भी 'स्तोत्र' पाठ का विषय रहता है और 'मन्त्र' जप का। पाठ ऊँचे स्वर से किया जाता है इसलिये शब्द वहिर्गति रहा करता है। हाँ, उसका अर्थ मन का विषय बन कर भावनात्मक सूक्ष्मता ग्रहण कर लेता है। मंत्र में कण्ठगत ध्वनि से नीचे उतर कर स्फोट शक्ति और आधारशक्ति का प्रकटीकरण किया जाता है इसलिये वह अधिक शक्तिशाली और सद्यः फलदाता रहा करता है। मन्त्रों में भी सुदीर्घ मंत्र रहा करते हैं जिनका विधान अवस्था, जाति और उद्देश्य के आधार पर किया जाता है। एक से दस अक्षर तक के मंत्र बीज मंत्र कहलाते हैं और दस से बीस तक के मन्त्र तथा बीस से अधिक अक्षर वाले मालामंत्र कहलाते हैं। दस अक्षर वाले मंत्रों में भी वाक्यात्मक मन्त्र बीज मंत्रों की श्रेणी में नहीं गिने जाते।

मन्त्र परागकोश होता है और स्तोत्र पुष्प का सम्पूर्ण परिकर। प्रकृति की प्रक्रिया वड़ी विचित्र भी है और विस्तृत भी तथा किन्हीं अर्थों में जटिल भी। वास्तव में, परागकोश को प्रस्फुटित करने के लिये पुष्प का इतना वड़ा कलेवर रचा-वनाया जाता है। पत्तों, वृन्तों आदि अंगों का यद्यपि स्थानीय महत्व होता है किन्तु वे सब रहते हैं पुष्प के महत्वपूर्ण अंग के पोषण और गोपन के निमित्त ही। साधारण दृष्टि में पुष्प का अर्थ और प्राण समझ नहीं पड़ता। संसर्ग के कारण या जनन अंगों से सम्बद्ध रहने के कारण हम सारे फूल को गन्धमय समझते हैं अथवा उसके नयन मनोहर रूप से तृप्त हुए रहते हैं जबकि उसकी सार्थकता एक विशेष विन्दु में केन्द्रित हुई रहती है।

स्तोत्र में भी सम्पूर्ण पुष्प की तरह एक शक्तिकोश का गोपन विस्तार रहता है। हम समझ नहीं पाते कि इस स्तोत्र का रहस्य क्या है? अमुक स्तोत्र का प्राण किंवा केन्द्रक कौन है? इसलिये ऋषियों ने स्तोत्रों के शीर्षक दे दिये हैं, प्रत्येक स्तोत्र के अधिष्ठाता देवता का नाम निर्देश कर दिया गया है। स्तोत्र पाठ के फल अथवा माहात्म्य वर्णन में जो कुछ भी वतलाया गया है या हम जिसे स्तोत्र का ही अंग समझ कर पाठ करते हैं वे सारी स्थितियाँ उस शब्दावली की शक्ति के प्रस्फुटित हो जाने के वाद की स्थितियाँ हैं। जैसे फूलों के अपने रूप होते हैं, गुण होते हैं, उसी तरह प्रत्येक शब्द समूह के भी गुण-प्रभाव होते हैं। किसी फूल की प्रकृति शीतलता कारक होती है, किसी की गन्ध मूर्च्छना करने वाली होती है, किसी का रंग पीला होता है ऐसी ही स्थिति उन शब्दावलियों की होती है जिनका विश्लेषण फलादेश में किया रहता है।

स्तोत्र के विस्तार में और उस विस्तार में वर्णित देवता की विशालता में प्रायः शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न रहा करते हैं क्योंकि यह मन की प्रकृति है कि यह एक ही वस्तु या वोध को अधिक समय तक ग्रहण नहीं कर पाता। कैसी भी सरस और आकर्षक वस्तु से विमुख होते इसे देर नहीं लगती इसीलिये "अति परिचयाद् अवज्ञा" (ज्यादा सम्पर्क से उपेक्षा) की बात कही है। किसी स्तोत्र के भाव और वाक्यावलि कितने भी

मोहक-मनोरम हों, कालान्तर में मन उनसे विरत हो जाया करता है और वह ऐन्द्रिय अभ्यास की तरह यान्त्रिक क्रिया वन जाता है जिसमें शब्द का उच्चारण होता रहता है और अर्थवोध करने वाला मन अपने संकल्प-विकल्प के वितान वनाता रहता है। ऐसी स्थिति में स्तोत्र पाठ एक वाचनिक व्यायाम मात्र वन जाता है और मन के लिये वह अभ्यास वन जाता है जिसे करने पर हल्कापन और न करने पर तनाव-सा अनुभव होता है। ऐसी प्रक्रिया विलकुल वेमानी तो नहीं रहती पर इसकी गति इतनी धीमी होती है कि फलादेश में जितने पाठ या आवृत्ति करने पर जिन स्थितियों का निर्देश दिया रहता है, वे संभव नहीं हो पाती।

यद्यपि मनोयोग की आवश्यकता मंत्र में भी रहती है क्योंकि मन आत्मा का चक्षु है अथवा यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति के प्रतिफलित होने की वात मन की प्रतिविम्विका स्थिति पर ही निर्भर करती है। आँखें वर्तमान को ही देख सकती हैं भविष्यत् या व्यतीत को देख पाना उनके लिये संभव नहीं है। यह मन ही है जिसमें अलौकिक शक्तियों का आधान (इम्पोजीशन) होता है अथवा इसकी एकाग्रता ही उन शक्तियों को प्रकट होने देती है। मन की सवसे वड़ी शक्ति संकल्प है और यह संकल्प सिद्धि या आक्रमण की मुद्रा है। भौतिक शक्ति जिसे (फिजिकल फोर्स) कहा जाता है वह देह और मांसपेशियों अथवा स्नायुमण्डल को सक्रिय करती है, मन की स्थिति को प्रभावित नहीं कर पाती वह चुम्वकीय वल (Magnatic power) का स्रोत है। उसकी (मन की)सीमा में सारा संसार ही नहीं, इतिहास और भविष्य भी आ जाता है, वह सव कुछ कर सकता है। क्योंकि प्रकृति के उच्चतर स्तर में वह सव कुछ संभव है जो हमें असंभव लगता है।

आशय यह कि भौतिक वल (Physical force) ठोस और गैसीय अवस्थाओं तक ही गति कर पाता है जो तत्त्व स्तर है। इससे आगे की स्थितियों में यह व्यर्थ ही रहता है। स्तोत्र पाठ मन को उन गहन स्तरों में उतारने की प्रक्रिया है जहाँ शक्ति मूल रूप में किंवा चुम्वकीय स्थिति में है किन्तु वात वही होती है जैसे समुद्रतल में पूरे के पूरे जहाज को ले जाना। जहाज सुच्यग्रवत् नहीं हो सकता यह उसकी प्रकृति है किन्तु वह विशाल क्षेत्र को घेरता है यह उसका गुण है।

स्तोत्र में मन को संयमित, सीमावद्ध करने की स्थिति नहीं आया करती और न वह मनन की सूक्ष्म अवस्था को ही प्राप्त कर पाता है क्योंकि इतने वड़े आयामों अतएव वाक्य समूहों में उसका विस्तार वना ही रहता है जव कि मंत्र में, विशेषतया वीज मन्त्रों में उसे नाद और विन्दुमय अवस्था में आने के अधिक अवसर रहते हैं। वस्तुतः जिस तरह नाद से विन्दु, विन्दु से वर्ण और वर्ण से शब्द का विस्तार होता है उसी तरह यह दृश्य संसार भी।

सोमतत्व—'सोम' शब्द का प्रयोग वेदों से होता आ रहा है किन्तु उसकी वास्तविकता आज भी विवाद का विषय वनी हुई है। यों सोमरस पीने की प्रथा प्राचीन काल में एक वर्ग विशेष में रही थी जिसे पीने पर हल्का-सा नशा आने की परिकल्पना की जाती रही है। सोमवल्ली शब्द से यह ज्ञात होता है कि यह सोमरस इसी वल्लरी का रस

रहा करता था। आज सोमरस के नाम पर कोई पदार्थ नहीं मिलता।

यहाँ हम उस सोमरस के सम्वन्ध में विचार नहीं कर रहे और न उसके आधारभूत किसी पादप या वल्ली का ही विवेचन कर रहे वरन् सोमरस के (तत्त्वों की) तन्मात्रागत रूप का परिचय प्राप्त कर रहे हैं। इसे तत्त्व कहा जाता है क्योंकि यह एक प्रकार से ईथर की तरह व्याप्त है—इस शून्य में—तो हमारे शरीर में भी इसकी आनुपातिक मात्रा है। विद्युत् के उत्पादन और सम्प्रेषण की तरह ही इसका भी विसर्जन हमारे शरीर से होता रहता है। निश्चय से इसका निर्माण भी होता ही है।

मोटे तौर पर हम इसे शरीर का प्रत्यक्ष धर्म नहीं मानते वल्कि इसका सम्वन्ध हम गुणात्मक स्तर से जोड़ते हैं। सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं इनमें सत्व की शक्ति और लघुता से हम परिचित हैं तो तम की वंधक शक्ति, आवरकता और भारीपन से भी हम परिचित हैं। सोम का सीधा सम्वन्ध सत्वगुण से हैं। इस तथ्य को समझने के लिये हम यह सोचें कि सृष्टि और संहार ये ही प्रकृति हैं, जीवन तो विकृति है क्योंकि जन्म के साथ ही मृत्यु प्रारंभ होती है। मृत्यु सम्पूर्ण रूप से उस घटक को जब निष्क्रिय कर देगी तव हम मृत्यु को समझ-देख पायेंगे अन्यथा जन्म के तुरन्त वाद ही मृत्यु की क्रिया शुरू हो जाती है। वैसे भी यदि किसी का जीवन पचास वर्ष है तो वह प्रतिदिन, प्रत्येक श्वास में मरता जा रहा है अर्थात् अपक्षरण की क्रिया का प्रारंभ होना ही मरण की सूचना है।

जीवन विकृति है इसलिये सारा संसार विकृत है अर्थात् प्रकृति से दूर हटकर जो कुछ किया जा रहा है वह विकार है (किन्तु प्रकृति का विस्तार इतना अपरिमेय है कि जड़-जंगम में जो कुछ हो रहा है, सचेतन-अचेतन में जो कुछ क्रिया सम्पन्न हो रही हैं, वह सव भी प्रकृति प्रेरित है किंवा प्रकृति ही है) हम विकार भूत जीवन से ही निर्विकार को प्राप्त करना चाहते हैं। जन्म रजोगुण का धर्म है तो विनाश तमोगुण की क्रिया-वश रहता है, सत्व सो वह विनाश होने तक रक्षा किया करता है।

चूंकि जन्म के क्षणों में या मृत्यु की आत्यन्तिक स्थिति में कुछ किया नहीं जा सकता (क्योंकि इन विन्दुओं पर प्रकृति आत्मनियन्त्रित अवस्था में प्रवल रूप से सक्रिय रहती है) इसलिये जीवन-जन्म और मृत्यु के संधिकाल—में ही मुक्त होने की सार्थक चेष्टा की जाती है। आशय यह कि गुणात्मक स्तर का अन्तिम पड़ाव सत्वगुण का क्षेत्र है। यह आगे के लोकों में ले जाता है क्योंकि हल्का है और इसी के आधार पर हम उन्चतर स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि इसमें चेतना का प्रकाश है। यों, ये गुण परस्पर अनुस्यूत हैं एक में दूसरे दो की सत्ता अनिवार्य रूप में रहा करती हे तदपि सत्व को ही गला-तपा कर ऐसी स्थिति में लाया जा सकता है कि उसमें तम और रज नाम शेष रह जाये।

सत्व की शक्ति को हम रक्षक शक्ति मानते हैं। वैष्णवों के त्रिदेवों में यों विष्णु राजसी शक्ति एवं वैभव के प्रतीक है पर उनके कार्य से वे सत्वगुण के प्रतीक ही अधिक लगते हैं। अतः हम सत्व को मुख्य एवं मूलगुण मान लेते हैं। गुणात्मक जगत् मानस शरीर से भी ऊपर है। मन तो गुणों के विकास और सुषुप्ति को, मन्दता और प्रखरता को अनुभव करता है तथा उनको वैदयुतिक एवं पार्थिव शरीर पर प्रकट करता है। तो भी इतना अवश्य है कि मन एक निष्क्रिय माध्यम नहीं है वल्कि अन्तः करण की शक्ति एवं

क्रिया का अधिष्ठाता है। वह अपनी नियामक शक्ति के कारण गुणात्मक जगत् को व्यवस्थित रखने की क्षमता से भी पूर्ण है किन्तु यह क्षमता उसे अपने स्वरूप ज्ञान से ही प्राप्त होती है। तम की क्रूरता का, रज के उद्वेग का और सत्व की निर्मलता का आधान मन में ही होता है जो क्रमिक अवस्था में हमारे अंगों, आकार एवं क्रियाओं में व्यक्त होता है। सत्व जब प्रमुख गुण है तो सोम तत्त्व उसी का विकास है। जैसे वल्व की रोशनी वल्व की एक स्थिति है, उसी तरह सोमतत्त्व भी सत्व गुण की ही क्रियात्मक अवस्था है। हमारे विचारों के आधार पर, हमारे कुल और संस्कारों के अनुसार अथवा हमारे पूजा एवं आराधना के कारण हमारे शरीर से निर्गत हो रहे सोमतत्त्व की मात्रा नियत या अनियत हुआ करती है। मोटे तौर पर हम इसे सत्वगुण का माध्यम मान सकते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में तात्विक अनुपातों के अनुसार ही सोमतत्त्व की भी मात्रा या अनुपात निश्चित रहता है। वैचारिक स्थिति के अनुसार या गुणों के संचय व विकास के कारण इसकी मात्रा में न्यूनाधिकता होती रहती है। हम मनुष्य इसे नहीं पहचान पाते किन्तु पशु वर्ग इसे सरलता से पहचान लेते हैं, विशेषकर कुत्ते। मनुष्य के शरीर से निकल रही गंध के साथ ही उसके गुणात्मक जगत से निकल रही सोमतत्व की मात्रा को भी यह पशु अच्छी तरह पहचान जाता है।

कभी हम इसका प्रयोग करके देखें तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। कुत्तों (जिनकी काट खाने की प्रकृति है, उनकी वात नहीं) को सामान्यतया सोमतत्व, मधु (शहद), की तरह मीठा लगता है, कुलीन या साधु पुरुषों को देखकर ये भौंकते नहीं क्योंकि उनसे निकल रही सोमतत्व की गन्ध उनको प्रिय लगती है इसके विपरीत जरायमपेशा या अपराधी व्यक्तियों को देखकर भौंकने लगते हैं। भयभीत लोगों पर ये अधिक भौंकते हैं क्योंकि इससे सोमतत्व की मात्रा में ह्रास होता है और ये खीझ उठते हैं। शकुन शास्त्र की दृष्टि से नगरों में रहने वाले या आवादी के अधिक घनत्व वाले स्थानों में रहने वाले पशुओं की स्वाभाविक वृत्ति में विकार उत्पन्न हो जाता है इसलिये वे ऐसा भेद नहीं कर पाते, संसर्ग दोष से भी उनकी इस शक्ति में अन्तर आ जाता है।

हम भोजन में सात्विक पदार्थों का प्रयोग करके सोमतत्व की मात्रा को नियत करते हैं। रूखी वस्तु सड़ जाती है और तली हुई में कुछ समय तक विकार नहीं होता यह घी का प्रभाव है। घी भोज्य वस्तुओं में विद्यमान सोमतत्व को नष्ट नहीं होने देता जिसमें भी गाय का घी। गाय को पवित्र मानने के पीछे भारतीयों का यही विज्ञान रहा है। हवन में घी को होमने से भी सोमतत्व की वृद्धि होती है। इसकी कमी होते ही स्वादहीनता प्रारंभ हो जाती है और फिर उसमें विनाश की प्रक्रिया शुरू होने लगती है।

हम चन्द्रमा को सोम कहते हैं। चन्द्रमा में स्वयं का प्रकाश नहीं रहता वह केवल प्रतिफलित करता है, उसकी उष्णता शान्त हो चुकी है किन्तु सूर्य की किरणें चन्द्रमा का स्पर्श पाकर ही इतनी शीतल और सौम्य हो जाती हैं कि उसमें वैठना, उसको देखते रहना बड़ा सुखकर लगता है। सृष्टि में रसात्मकता चन्द्रमा के कारण, सोमगुण के कारण आती है, इसीलिये चन्द्रमा को औषधीश कहते हैं।

सूर्य सौम्य स्वभाव, नहीं है। वह संहारक है किन्तु उसमें सोमतत्व को प्रेरित करने

की क्षमता है। चन्द्रमा में भी सोमतत्व नहीं है पर सूर्य की रश्मियों के संपर्क से उसमें रासायनिक परिवर्तन होता है और वह सोम का विकिरण करने लगता है। भारतीय जीवन व्यवस्था में ब्राह्म मुहूर्त में उठने का निर्देश भी इसीलिये है कि उस समय से लेकर सूर्योदय के कुछ समय तक सूर्य किरणें पृथ्वी के वायुमण्डल में व्याप्त सोमतत्व को क्षति नहीं पहुँचा पाती। बाद में जैसे-जैसे सूर्य की प्रचण्डता बढ़ती है, सोमतत्व का क्षरण होने लगता है, उसकी मात्रा में कमी होती रहती है।

रात्रि में विश्राम और कामुकता की भावना स्वाभाविक रूप से प्रवल हो उठती है। दिनभर में सूर्य ने हमें जितना परिचालित किया था। रात्रि में हमारी प्रकृति अपने सौम्य से, सत्व गुण के प्रवाह से उसे पूरित कर देना चाहती है। चन्द्रमा की स्निग्धकिरणें सत्व की वर्षा कर रही होती हैं। यों रात्रि को रजनी और तमिस्रा कहा जाता है जिसमें रजोगुण और तमोगुण के प्रच्छन्न प्रभाव को स्वीकार किया जाता है किन्तु तमिस्रा उन्हीं रात्रियों को कहा जाता है जिनमें चन्द्रमा क्षीण रहता है। सोमतत्त्व के विसर्ग या प्रयोग से हुई क्षति की पूर्ति सोम प्रधान चन्द्रमा के प्रभावकाल-निशा-में अपने आप पूरी हो जाती है क्योंकि उसका क्षरण नहीं होता। जव कभी यह सत्व का प्रतीक सोम रजोगुण से आवेशित हो जाता है तो हमारे मन में चंचलता, रिरंसा के रूप में प्रकट होती है।

शब्द-व्याकरण का दार्शनिक पक्ष

शब्द का भौतिक विस्तार जिस संहिता से नियंत्रित होता है उसे व्याकरण कहते हैं। व्याकरण हमें भाषा के शुद्ध-संयत रखने के नियम सिखलाता है। शब्द के व्याकृत रूप का, विस्तारेच्छु शब्द के प्रसार को सारणीबद्ध करने का कार्य व्याकरण का है। व्याकरण की गति अव्याकृत अर्थात् व्याकृति से पूर्वतर, अवस्था में नहीं है। जिन लोगों का संस्कृत व्याकरण से परिचय नहीं है उनके लिये यह विषय दुर्बोध रहेगा किन्तु जिनको तन्त्र शास्त्र के निगूढ़ का ज्ञानकरने की इच्छा है वे व्याकरणकी सामान्य परिभाषाओं से परिचित हो जायें तो अच्छा रहे। यहाँ हम संस्कृत भाषा और उसके व्याकरण के दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे। दार्शनिक विवेचन हमें तंत्र का चरम समझने में औपदेशिक परिकल्पना दे सकेगा—यह मेरा विश्वास है। भाषा में संस्कृत भाषा को ही इसलिये उदाहरणीय बनाया जा रहा है कि इसमें दिव्यभाव है, इसके प्रत्येक अक्षर का एक स्थूल रूप एवं आध्यात्मिक आधार है तथा यह नाद से लेकर झंकार तक की शब्द की आठ अवस्थाओं किंवा रूपों का अभिव्यक्तिकारक है। संस्कृत में वर्णमाला को मातृका स्वरूप माना है, ज्ञान की अवतारभूमि माना है, प्रपंच को रूपायित करने वाली शक्ति समझा है तथा जगद्योनि का रूप कहा है। स्मरण रहे—नाद, राव, ध्वनि, शब्द, झंकारादि अभिव्यक्तियों को अष्टपदी वाक् कहा जाता है। व्यंजन योनि माने जाते हैं और स्वर व्यंजनभूत योनि के विस्फारक होते हैं। स्वरों के कारण व्यंजन विकसित एवं स्फारित होते हैं—यह बात हम व्यवहार में स्वर सहित एवं स्वर रहित व्यंजन का उच्चारण करके देख सकते हैं।

हमारे युग में पाणिनि प्रामाणिक वैय्याकरणि माने जाते हैं, उनसे पहले आठ व्याकरण प्रचलित थे। व्याकारणकार भी इस सिद्धान्त से सहमत है कि सृष्टि का प्रारंभ नाद से होता है। यह नाद नटराज की डमरु से उत्पन्न होता है अर्थात् डमरु स्वयं निनादित होती है। पर उसका प्रेरयिता कोई भिन्न तत्व होता है। नटेश्वर की नृत्य प्रवणत्ता उनकी स्वयंभू नदन क्रिया का स्थूल प्रतीक है। अन्यत्र हम पढ़ेंगे कि किस प्रकार स्थाणुरूप निष्कलशिव में शक्ति का प्रादुर्भाव होता है और वे नदित होने लगते हैं। आत्मद्रष्टा ऋषियों की कृपा के लिये हमारा रोम-रोम कृतज्ञ है कि शब्द के अवतार के लिये उन्होंने शिव के नटराज रूप को ही चुना। अन्य स्वरूपों में ध्वंकार झांकार नहीं आ सकता जबकि नटराज की नर्तक मुद्रा में नूपुर झांकार और डमरु ध्वंकार का आधार बनता है। शिव के विलासमय लास्य में अर्धनारीश्वरता प्रकट होती है और नारी की समग्रता में विश्व निर्मात्री, क्रियामयी अक्रमा मातृका समाहित है ही। यही कारण है रुद्र शिव स्वरूप होकर सृष्टि के कारण बनते हैं, नारी—शक्ति के संयोग से ही नृत्य और नाद के उपदेष्टा हो सकते हैं। और यहीं से अक्रमा मातृका का विश्व निर्माण का व्यापार चलता है। वागीश का यह सर्जक स्वरूप है।

व्याकरण के सृष्टिक्रम में वैखरी वृति का विषयभूत शब्द, विवेचनीय रहता है। यों आनुषंगिक रूप में भाष्य में परा, पश्यन्ती, मध्यमा का निर्वचन हुआ है पर मुख्यत: व्याकरण शब्द के स्तर से, तन्मात्रागत स्थूलक्रम से प्रारंभ होता है। तंत्र—(विस्तार) में पचास तथा क्षकार की गणना करने से इक्यावन वर्ण मालिका होती हैं किन्तु व्याकरण बयालीस वर्णों को मानता है जिसमें नौ स्वर—अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ जिन्हें अच् कहा जाता है तथा तैंतीस व्यंजन हैं जिन्हें हल् कहा जाता है।

स्वर का सांकेतिक अर्थ होता है स्वन से झांकार तक के आठ रूप। स्वर शब्द के प्रारंभ का स्व और झांकार शब्द का अन्तिम अक्षर 'र' लेने से स्वर शब्द विशिष्टि स्थिति का सूचक बनता है। भाषागत—व्युत्पत्ति के अनुसार स्वर वह क्रिया है जो स्वतंत्र रूप से व्यक्त या ध्वनित होती है। इस प्रकार की पुनरावृत्ति अनावश्यक है कि स्वन, राव, घोष, शब्द, स्फोट, ध्वनि, ध्वंकृति और झांकार वाक् की विवृत, एवं स्वतंत्र क्रियामय अवस्था है, यह महेश्वर की क्रियाशक्ति है। नेत्रतंत्र का यह मतं है। शिवसूत्र में कहा गया है—ज्ञान के सूक्ष्म रूप का आधार मातृका होती है।

व्याकरण की सारी संरचना शब्द सिद्धि के नियम-प्रत्याहारों की पारिभाषिकता पर चलती है। प्रत्याहारों में पहले स्वरों की परिगणना होती है तदनन्तर व्यंजन आते हैं जिन्हें हल कहा जाता है। प्रत्याहारों का रूप इस प्रकार है—

"अ इ उ ण्, ऋ लृ क्, ए ओ ङ्, ऐ औ च्, ह य व र ट्, ल ण्, भ म ङ ण न म्, झ भ ञ्, घ ढ़ ध स्, ज ब ग ड द श्, ख फ छ ठ थ—च ट त व् क प य्, श ष स र्, हल्."

वर्णों का यह क्रम कुछ इस प्रकार से व्यवस्थित है कि सम्पूर्ण संज्ञा, संधि, प्रत्ययादि प्रयोगों में कहीं भी व्याहत नहीं होता। विधि यह रहती है कि जिन वर्ण समूहों को संकेतित करना होता है उनके आदि एवं एक पद के अन्त में आने वाले अक्षर को

जोड़ने से उन सारे ही अक्षरों का परिगणन हो जाता है जो उनके अन्त: पाति होते हैं जैसे हल् में हयवरट के प्रारंभ का हकार और हल् के अन्त का ल् लेने से हल् बना जो सारे वर्णों—व्यंजनों का संकेतक बन गया। संक्षेपण की यह विधि अव्याप्ति आदि दोषों से मुक्त है तथा सारे व्याकरण में सर्वांशत: संगत रहती है।

संस्कृत व्याकरण के ज्ञाताओं को प्रत्याहार चर्चा का प्रस्तुत विश्लेषण अप्रासंगिक लग सकता है किन्तु क्या कभी संस्कृत अध्येता ने अपने आपसे यह भी प्रश्न किया है कि अन्तत: इन प्रत्याहारों में यह अद्भुत गुण किस प्रकार आ सका ?

इस प्रश्न का उत्तर मेरे जैसे अल्पज्ञ की स्थूल बुद्धि के अनुसार यह है कि विशिष्ट ज्ञान—संपन्न ऋषियों के लिये यह प्रश्न स्वयं उत्तरित है। हम प्रत्याहारों के क्रम निर्धारण को ध्यान से देखने पर रहस्य तक़ पहुँच सकते हैं। हमारे व्यवहार में क ख ग घ ङ आदि वर्गों में वर्णक्रम संहार क्रम से निर्धारित है। हम जानते हैं कि सृष्टि के विकास (उद्भव) में,आकाश (से),वायु (से), तेज (से);जल (से);पृथ्वी का अनुलोम क्रम रहता है और विनाश में संवरण अथवा प्रतिलोम क्रम रहता है। पृथ्वी (का), जल (का), तेज (का); वायु (का), आकाश में लय हो जाता हैं। तत्त्वों की प्रतीकात्मकता इन पाँच वर्गों के अक्षरों में है। यद्यपि विकसित अवस्था में सारे तत्त्व परस्पर अभिन्न रूप से अनुस्यूत रहते हैं, एक के विना दूसरों की सत्ता नहीं रह पाती फिर भी जो तत्त्व प्रमुख रहता है तदनुसार उसकी प्रतीकार्थता रहती है, शेष उसमें बीजावस्था में अन्तर्निहित रहा करते हैं।

आशय यह कि 'क' वर्ग के पाँच अक्षर पाँच तत्त्वों के प्रतीक हैं। हमारे वर्ण माला क्रम से, वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश के प्रतीक हैं तथा देववाणी में वे अनुलोम क्रम से व्यवस्थित हैं। प्रत्याहार पद्धति से क, च, ट, त, प ये अक्षर पृथ्वी तत्त्व के ख, छ, ठ, थ, फ जल तत्त्व के ग, ज, ड, द, व तैजस तत्त्व के घ, झ, ढ़, ध, भ वायु तत्त्व के और ब, ङ, ञ, ण, न, म आकाश तत्त्व के प्रतीक हैं। ऊपर की प्रत्याहार रचना में इनकी परिगणना स्थिति क्रम से की गई है।

ये वर्ण तत्त्वों के प्रतीक क्यों हैं—इस प्रश्न का उत्तर केवल प्रत्यय—विश्वास है। वास्तविक ज्ञान समाधि-नद अथवा साधना की उच्च भूमिका में ही संभव है, किसी अन्य प्रकार से इसे प्रतिपादित नहीं किया जा सकता अर्थात् यह विज्ञान प्रातिभ है, उत्कृष्ट स्तर प्राप्त किये विना इसे केवल आप्त रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।

स्वाभाविक है—संसार का विद्यमान रूप तत्त्वों की सृजनात्मक अवस्था है, इसमें प्रत्येक निर्माण अनुलोम की व्यवस्था के अन्तर्गत आता है अत: प्रत्याहारों का भी यही क्रम रह सकता था और स्थूल प्रपंच के विस्तार में पंचक के सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं हो सकता इसलिये कोई व्यतिक्रम भी नहीं हो सकता—यही रहस्य प्रत्याहारों की सर्वशुद्ध एवं व्यापक आधार शक्ति का है।

स्वर शिव स्वरूप हैं, लिंग हैं। दीर्घ स्वर शक्ति स्वरूप हैं,व्यंजन योनि हैं। योनि का अर्थ है आकर, धारण करने वाली, विस्फरणशील। स्वरों को विकसित होने के लिये व्यंजन योनिवत् आधार बनते हैं, वे स्वर संयोग से ही मुखर हुआ करते हैं अन्यथा मूक बने रहते हैं।

मातृका त्रिगुणात्मक जगत् के विस्तारित होने का वृत्त है परमाणु के विरल से सघन तथा सम्मिश्रण-संयोजन का सूत्र है। विस्तार को शाब्दिक रूप देना मातृका का विषयाधिकार है। सृष्टि के उद्भव और विकास का विश्वसनीय इतिहास शब्द रूप मातृका में समाहित है इसलिये व्याकरण एवं व्याकरण द्वारा सिद्ध शब्द हमें संसार के प्रपंच का क्रमिक इतिवृत्त समझा देते हैं। शब्द में ही संसार का रहस्य निहित है इसलिये शब्द का यथार्थ रूप दर्शन के साथ ही रहस्य का अनावरण हो जाता है।

उदाहरण के लिये हम शब्दों के रूप को लें। संस्कृत ही ऐसी भाषा है जिसमें द्विवचन है अन्यथा एक वचन और वहुवचन ही माने जाते हैं। एक वचन और वहु वचन मानने के पीछे यही आधार है कि एक से अधिक वहु होता है किन्तु इसमें तात्विक दृष्टि से यह दोष आता है कि अनेकत्व के लिये द्वित्व आवश्यक है। दो के विना अनेक संभव नहीं इसलिये तात्त्विक अवस्था एवं क्रिया की अनिवार्य स्थिति का सूचक है द्वित्व और द्वित्व ही संस्कृत में द्विवचन की वाध्यता है।

यों संस्कृत में नाम व आख्यात-संज्ञा व क्रिया—ये दो तरह के शब्द हैं जिनके अव्यय, सर्वनाम आदि अनेक भेद हो जाते हैं। इन शब्दों के रूपों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि सर्वनाम शब्दों विशेषकर—अस्मद् (मैं), युष्मद् (तू), तत् (वह), इदम् (यह), इन शब्दों के प्रथमा एक वचन में जो रूप बनता है वह शेष रूपों से भिन्न होता है। जैसे—क्रमशः अहम्, त्वम्, सः, अयम्। सः, त्वम् व अयम् पर हम सम्प्रति विचार नहीं करते (होने को ये रूप भी मूल शब्द के वर्णों से कोई साम्य नहीं रखते)

अस्मद् शब्द का प्रथमा विभक्ति (कर्ता कारक), एक वचन—जिसका अर्थ मैं होता है—में अहम् रूप क्यों होता है यह प्रश्न सामान्यतया उपस्थित होता है जिसका समाधान इन वर्णों की स्थिति एवं प्रतीक बोधकता का ज्ञान होने पर होता है। अहम् का आद्य वर्ण 'अ'कार है जो प्रपंच के प्रारंभ का सूचक है अर्थात् सूक्ष्म के स्थूल रूप होने का प्रारंभिक स्तर वर्णाद्य 'अ' में है। दूसरा अक्षर 'ह' कार है जो सारे प्रपंच का विकसित-तम अतएव अन्तिम अक्षर है। अनुलोम विधि में यह आकाश का प्रतीक वनकर प्रथम परिगणना प्राप्त करता है और देवनागरी वर्णमाला में तथा पंचाशत् मातृका क्रम में अन्तिम माना जाता है अर्थात् आकाश सभी तत्त्वों का सृजन का कारण भी है और उनको अपने में समेटने का सामर्थ्य व अवकाश भी रखता है इसलिए अह इन दो वर्णों में स्थूल प्रपंच का सारा विस्तार आ जाता है। संस्कृत का अध्येता इस तथ्य पर विचार करके भी चकित हो जाएगा कि केवल अहम् और त्वम् इन दो रूपों में ही किसी पुल्लिंग शब्द के प्रथमा एकवचन में हलन्त 'म्' है निजत्व वाचक इस सर्वनाम में मकार विन्दु अथवा अनुस्वार का ही रूप है।

प्रस्तुत विशेषताओं के अनुसार अहम् अति विस्तृत, सम्पूर्ण दृश्य संसार की सीमा का सूचक है। सूक्ष्म दृष्टि से 'अहम्' अव्यक्त के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया में महत्तत्त्व का पश्चात्वर्ती भाव है। एतद् गुण विशिष्ट अहम् का नाम रूप क्या हो सकता है इसीलिए सृष्टि के अणु-अणु में ब्रह्म का दर्शन करने वाले वैष्णव सः अहम् को ब्रह्म का व्यक्त प्रस्फुरण, अजपा जप मानते हैं। इन दो शब्दों के परस्पर संयोजन को 'हं सः', 'सोहम्'

का स्वरूप देते हैं।

आशय यह है कि अहम् सम्पूर्ण सत्ता का और उसके व्यष्टिरूप का वाचक है जिसमें माया और मायावी जीवात्मा के रूप में एकत्र समवेत हैं।

अहम् प्रणव के पश्चात् उच्चरित होने वाला प्रथम वोध है। विकास के साथ अहम् का विभाजन होने लगता है। विभाजित, यतिबद्ध विकास को विभक्ति कहते हैं। संस्कृत में सात विभक्तियाँ हैं जो कर्तृत्व से प्रारंभ होकर अधिकरण के बिन्दु पर समाप्त होती हैं जैसे आकाश सृजन का आधार वनता है और विलय होने की अवस्था में सारा विस्तार आकाश में लीन हो जाता है।

यह था शब्द रूप से व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का दिग्दर्शन। थोड़ा आगे चलने पर हम देखते हैं कि समग्र शब्द, होने को, एकरूप है, किन्तु उसके दो रूप हो जाते हैं—एक क्रिया, दूसरा संज्ञा। क्रिया का परिणाम ही कर्म है। आख्यात-क्रिया-पदों से संज्ञा शब्द का रूप वनने को सिद्धि कहते हैं। क्रिया प्रकृति है, उसमें प्रत्ययादि का परिणामी प्रभाव सिद्ध अथच संज्ञा शब्द बनाता है जिस तरह राम एक संज्ञा शब्द है किन्तु इसकी प्राकृत अवस्था क्रियात्मक है। राम जब क्रिया रूप होता है तो उसका अर्थ होता है—रमण करना। इस तरह प्रकृत—सहज-क्रिया के विपरिणाम से हम स्थिरसत्ता को सिद्ध करते हैं। साधना प्रक्रिया में हम यह जानते हैं कि क्रिया ही परिणत होकर निश्चित रूप व स्वभाव की सूचक स्थिति को ग्रहण करती है। शब्द साधना की द्विविधता इस तथ्य की भी सूचक है कि संसार में स्थिर अवस्था शिवांश का गुण है और चल अवस्था शक्त्यंश की। प्रकृति क्रियाशून्य शिव के कारण चल है और प्रकृति की चलनशीलता शिव में, स्थिर में जाकर विरत हो जाती है। प्रकृति का प्राप्तव्य शिव है वैसे ही क्रिया का भवितव्य संज्ञा है।

विवेचन के लिए हम मृति या मृत्यु शब्द को लें। मृत्यु क्रिया नहीं अवस्था है, स्थिर स्थिति है किन्तु वह मरण क्रिया की परिणति है। अर्थात् मरण क्रिया है और मृत्यु संज्ञा। शब्द शास्त्र के दार्शनिक विश्लेषण से हम वाह्य विस्तार का अध्ययन करते हैं और बाह्य क्रिया-व्यवहार से सूक्ष्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

प्रारंभ में हम मान चुके हैं कि संसार का समग्र विस्तार एवं क्रिया शिव एवं शक्ति के समन्वय से, दोनों की परम्पराभिमुखता से प्रेरित है तदपि विस्तार में शिव व शक्ति का मूल स्वरूप तिरोहित नहीं हो पाता। शब्द में अर्थ नामक तत्त्व अविकृत रूप से स्थिर भाव से स्थित है जबकि शब्द गतिशील होकर नाना रूप धारण करता चला जाता है। इसके समानान्तर हम देखते हैं कि संसार का प्रत्येक भाव स्थिर, अविचल अवस्था है, यह शिवांश की प्रतीति है और प्रत्येक स्थिर स्थितियों को जोड़ने वाली गति है, क्रिया है। यौवन, निद्रा, जन्म आदि शब्द शाश्वत (चिरन्तन) विन्दु हैं, इनमें गति नहीं है, पर इन तक पहुँचने के लिए क्रिया का राजमार्ग हमें धकेलता चला जाता है परिणामतः हम—वह यौवनारूढ़ है, वह जन्मता है, हमें निद्रा आ रही है—इस प्रकार से बोला करते हैं अर्थात् इन अचल-स्थिर स्थितियों को हम प्राप्त करते हैं, ये हमें प्राप्त नहीं करती और इन्हें प्राप्त करने के लिए क्रियापरक एवं गतिशील तत्त्व है।

तंत्र या मंत्र शास्त्र में जिस प्रकार प्रयोग दिये गये हैं उसी प्रकार व्याकरण में सिद्धियाँ हैं। प्रत्येक शब्द का संस्कार करने के पश्चात् इति सिद्धम् अथवा साधुः कह दिया जाता है अर्थात् तंत्र और व्याकरण दोनों ही प्रयोगप्रमाणित एवं सिद्ध हैं, असिद्ध या प्रयोगदूषित का इनमें कोई स्थान नहीं है।

व्याकरण को वेदांग कहा जाता है। **बिना व्याकरणेनांधः** कहने के पीछे यही आशय है कि संसार के रहस्य को समझने के लिए व्याकरण शुद्ध व सम्पूर्ण शास्त्र है। यह अपनी-अपनी पात्रता पर निर्भर करता है कि कोई व्याकरण की शब्द साधना पर टिक जाता है और कोई शब्द के माध्यम से ब्रह्म तक का मार्ग ढूंढ़ लेता है। वस्तुतः व्याकरण वाह्यचक्षु ही नहीं अन्तश्चक्षु का उद्घाटन करता है। महर्षियों ने व्याकरण के अध्यायों का—प्रत्यय, तद्धित, गण, प्रक्रिया आदि-नामकरण भी पूरी वैज्ञानिकता से किया हैं। हम इन सारे प्रकरणों में उपदिष्ट एवं निर्दिष्ट शब्दों का रहस्य जानने की चेष्टा करें तो यह विषय हमें सूक्ष्म जगत् का विवरण किंवा स्वरूपदर्शन भी करा सकेगा।

शब्द

संयुक्त राष्ट्र संघ शब्द को खोजकर खोजने वाला इतना प्रसन्न हुआ था कि हर्षातिरेक के मारे नाचने लगा था। उसकी यह स्थिति हमें पागलपन लग सकती है और आज हम इस नाम को एक सामान्य शब्द संयोजन मात्र मानकर उपेक्षित कर सकते हैं लेकिन अपने सारे स्वप्न और इतनी विस्तृत योजना एक नाम में समेटना चाहता था और वह इसे तलाश नहीं सका था इसलिए घोर मानसिक तनाव से मुक्ति प्राप्त कर लेने का सुख उसके नियन्त्रण की वस्तु नहीं रही। जीवन के हर क्षेत्र में शब्द की जरूरत पड़ती है, वैज्ञानिक या अन्वेषक जिन नई वस्तुओं, स्थितियों और स्थानों को प्राप्त करते हैं उनका नामकरण उनके लिए विषम समस्या है और इस समस्या से मुक्ति पाने के लिए वे कितने संकटापन्न एवं दीन रहते हैं—इस बात का प्रमाण हमें वैज्ञानिक शब्दावली से मिल जाता है।

यह समस्या, वास्तव में, इसलिए उग्र बनी रहती है और उपयुक्त विधि से समाधान न की हुई लगती है क्योंकि विज्ञान ने शब्द को संसार में माना है। समस्या को और गंभीरता से देखें तो इसके तल में विज्ञान का रूढ़ दृष्टिकोण नजर आता है जो ज्ञान और विज्ञान शब्द को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य, सुदीर्घ परम्परा एवं विधागत आग्रहों के रूप में मानता है। शब्द-विज्ञान की दृष्टि से ज्ञान की ही उच्चतर-विशिष्ट-स्थिति विज्ञान कहलाती है किन्तु साइन्स के लिए विज्ञान शब्द का प्रयोग हमें कुछ और तथ्य समझाता है। तथ्य यह है कि ज्ञान, विशेषकर भारतीय पद्धति से प्राप्त, विश्वास के आधार पर चला है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं रहा कि अनुभव और परीक्षण से सम्मत ज्ञान ही विश्वस्त एवं सच होता है। इसी का फल यह है कि हम भारतीय उन बातों को भी सच मान लेते हैं जो पहले कभी थी, आज उनके सिद्धान्त और अवशेष भी भले ही हमें न मिलें

कारण कि अनुभवातीत भारत की परम्परा रही है कि उसने बात या वस्तु के जितना ही सत्य आप्त को भी माना। पुराने युग में जब साधनों का इतना विस्तार नहीं हुआ था, सारा ज्ञान कर्ण-परम्परा के आधार पर चलता था इसीलिए हम ज्ञान के मूलकोश को श्रुति कहते हैं। श्रुति का अर्थ होता है सुनना। एक पीढ़ी ने अपने ज्ञान को दूसरी पीढ़ी को सौंपते समय अपनी ओर से कितना कुछ और जोड़ दिया अथवा पिछले में कितना कुछ छोड़ दिया, इस पर विचार करने का न कोई ठोस आधार था, न ऐसी शंका करने का रिवाज ही था। परिणामस्वरूप जो कुछ निवर्तमान पीढ़ी ने दिया वही प्रवर्तमान पीढ़ी ने स्वीकार कर लिया, सन्देह या प्रश्न उसने कभी सीखा ही नहीं। यह था आप्त-विश्वास जो आज भी भारत की प्रकृति है।

विज्ञान, जिसे साइन्स कहते हैं उसने आप्त जैसी स्थिति को समग्रभाव से स्वीकार नहीं किया क्योंकि उसने ऐसे उपकरण, माध्यम और आधार जुटा लिये जिसमें व्यक्ति का नहीं, सिद्धांतों और यन्त्रों का महत्त्व प्रत्यक्ष रूप में स्वीकृत था। किसी ने कुछ भी कहा इसका कोई मूल्य नहीं रहा वल्कि किसी ने ऐसा कुछ कहा जिसे आज भी परीक्षा करके देखा जा सकता है और उसे उतना ही सच माना जा सकता है—यही उनके लिए आप्त, विश्वास और सत्य बन गया। ज्ञान के आधार पर बने हुए सम्प्रदाय सिकुड़ने लगे और विज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं के समुदाय उभरने लगे। शब्द की उनको कोई विशेष जरूरत नहीं रही क्योंकि वे संसार में शब्द को मानते थे।

शब्द बाह्य जगत् की वस्तु अवश्य है किन्तु उसका प्रयोजन अन्तर्जगत् किंवा भावनामय संसार में अधिक सबल व सार्थक रहता है। यह सब ज्ञानवादी संसार की बातें बन गई, ठोस प्रयोगशालाओं में और सर्वआयामी यन्त्रों में शब्द निष्प्राण हो गया।

भले ही विज्ञान के क्षेत्र में शब्द उतना महत्वपूर्ण न रहे पर उसकी असीम शक्ति को स्वीकार करना ही पड़ेगा, विश्व के प्राचीन विचारक और दार्शनिक शब्द की सत्ता और महत्ता को समझते रहे हैं। भारत में तो शब्द को ब्रह्म का स्वरूप मानकर शब्दब्रह्म कहा ही है दूसरे देशों ने भी इसे भगवान् का प्रतीक माना है। बाइबल कहती है वर्ड इज् गॉड। तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो यह बात सही भी लगती है। हालांकि भगवान् जैसी स्थिति शब्द से परे की है फिर भी भौतिक संसार में एवं भौतिकता के आयामों से यह अनुभव किया जा सकता है कि शब्द भगवान् की तरह व्यापक और समर्थ है।

एक क्षण को हम विज्ञान के भौतिक आग्रहों को छोड़ कर ज्ञान के तात्विक आयामों से देखें तो यह हमारी समझ में आ जायगा कि भगवान् के गुणों और रूप को ज्ञेय बनाना केवल शब्द का ही काम है। प्रथमत: शब्द आकाश तत्त्व का गुण है इसलिये आगे के शेष तत्वों को अनुभव के स्तर पर प्रकट करना केवल शब्द की ही शक्ति व सीमा है। यों सैद्धान्तिक रूप में इन पाँच तत्वों का उद्भव क्रमिक रूप से होता है. इसलिये आकाश से वायु का, वायु से तेजस् का, तैजस से जल का और जल से पृथ्वी का उद्भव होता है। स्वाभाविक है आकाश में शेष तत्व मूल रूप से विद्यमान हैं। परतर तत्वों से पूर्वतर तत्वों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।

दूसरी बात यह है कि शब्द चूंकि शून्य से—आकाश से—उत्पन्न होता है इसलिये वह सूक्ष्म गति होता है। पृथ्वी और जल जैसे पदार्थ सूक्ष्म-आकाश जैसी शून्य-अवस्था में नहीं रह सकते। शब्द सूक्ष्म किंवा शून्य का आभास करता है। वास्तविक अवस्था जो शब्दातीत मानी जाती है उस तक ले जाना शब्द का ही काम है।

भौतिक विज्ञान शब्द की गति, आवृत्ति, कम्पन (decibility) आदि के माध्यम से उसका शक्तिगत रूप खोजता है, उसकी चेतना-प्रेरित एवं चेतना-प्रेरक शक्ति को नहीं खोजता यह ज्ञानवाद का क्षेत्र वन जाता है। किसी भी शब्द को मशीन की शरण में फैंक कर उसकी तरंगों, आवृत्ति और कम्पन का ग्राफ बनाने वाले उपकरणों की दृष्टि में शब्द भी स्थूल है, न उसका इतिहास है न उसमें प्रेरणा है। आशय यह कि वह मनुष्य की विशाल शक्ति और विविध अनुभूति से शून्य एक निर्जीव प्रतीक है, उसकी पदार्थगत सत्ता है, चेतनागत नहीं। हमारे यहाँ राम और कृष्ण, सूर्य और गंगा निर्जीव शब्द नहीं है, ये हमारा इतिहास है, हमारे प्रेरणा स्रोत हैं, हमारे भगवान् हैं क्योंकि इन छोटे-छोटे शब्दों में हमने मानव के कल्याणकारी तत्वों को बड़ी श्रद्धा के साथ रख दिया है। वैज्ञानिक शब्दावली में भी ऐसा होता है किन्तु यह शब्द का गुण होने के कारण है इसीलिये इन शब्दों का चेतना और अनुभूतिगत मूल्य या महत्व नहीं होता।

होता यह रहा है कि हम शब्द के स्थूल स्वरूप और शक्ति से सम्पर्क करते आये हैं, उसके मूल उत्स तक नहीं पहुँचते अन्यथा भारतीयों का यह विश्वास हमारे लिये भी अनुभव की वस्तु वन जाता कि संसार में शब्द नहीं, शब्द में संसार रहता है। यह मानने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि विश्व में शब्द के सम्बन्ध में जितना अनुसंधान भारत में किया गया है उतना किसी भी देश में नही। यह भारत की खोज का ही निष्कर्ष है कि संसार में शब्द नहीं, शब्द में संसार है। योग शास्त्र एवं शब्द विज्ञान के गंभीर अध्ययन में जिन पश्यन्ती औरपरावृत्तियों का विवेचन आताहै वहाँ शब्द और अर्थ, नाम और नामी एक ही रूप में रहते हैं। यह भेद तो आगे के स्तरों पर प्रकट होता है। शब्द जितना बहिर्मुख अतएव स्थूल होता जाता है उसमें और उसके अभिधेय में उतना ही अन्तर बढ़ता जाता है। हम भी हमारे जीवन में प्रतीकबोध और प्रतिध्वनि तक ही शब्द कोपहचान पाते हैं और जब तक हम इस कृत्रिम संसार के अभ्यस्त रहते हैं तव तक शब्द के वास्तविक रूप, शक्ति और विस्तार को समझ नहीं सकते। प्रतीकज्ञान बुद्धि का काम है, अनुभूति मन का विषय है इसलिये बुद्धि जव तक प्रतीकों के सहारे मन को उत्तेजित और आश्वस्त करती रहेगी तव तक हम शब्द के बाहरी स्तर पर ही भटकते रहेंगे। मान लिया जाय—हम जल शब्द को जानते हैं, उसके रूप को देखते-पहचानते हैं किन्तु यह परिचय हमें प्रतीक बोध तक ही सीमित रखता है। मन इसे भोगता नहीं या उपेक्षा कर देता है। किसी रेगिस्तान में यात्रा करते समय जब पानी की एक बून्द के लिये हमारे प्राण कण्ठ में आ जाते हैं उस समय हमारा मन जल की प्रतीकबोधता से ऊव कर उसे प्राप्त करना चाहता है और ऐसे समय में जब जल मिलता है तो मन जल-मय होकर उस शब्द को जीता है, जल शब्द का साक्षात् करता है, बुद्धि उस समय सक्रिय अवश्य रहती है किन्तु वह मन की शक्ति के आगे निष्प्रभ एवं मौन-सी वन जाती है।

वास्तव में जब पानी का अभाव हमारे शरीर के पाँच कोशों में विकलता उत्पन्न करता हुआ चैतन्यमय कोश में पहुँचता है तब हम चौंकते हैं, हमारी विकलता का तीव्र अनुभव होता है हमें और ऐसे समय में पानी का मिलना चैतन्यमय कोश के माध्यम से प्राणमय, ज्ञानमय और मनोमय कोशों को एक रूप कर देता है। जप करने या किसी विशिष्ट शब्द की निरन्तर आवृत्ति करने पर भी हम इसी क्रिया और स्थिति को प्राप्त करना चाहते हैं। आवृत्ति जितनी भीतर की ओर होगी उतनी ही वह चैतन्यमय कोश को आन्दोलित करने वाली होगी और जिस समय हम शब्द को चैंतन्यमय कोश के क्षेत्र में ले जायेंगे उस समय हम हमारा अस्तित्व भूलकर शब्दमय हो जायेंगे। हालाँकि यह स्थिति भी अन्तिम नहीं होती है तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस बिन्दु पर शब्द का बाहरी विस्तार और बाह्य मल किसी सीमा तक कम हो जाते हैं।

वस्तुत: शब्द ऐसी समर्थ शक्ति है जो बाहर को भीतर से जोड़ता है और भीतर को अभिव्यक्ति देता है। इतने विशाल मानसिक संसार में शब्द अपना महत्व और अस्तित्व इस रूप में स्थापित किये रहता है कि उसके बिना सब-कुछ निष्प्राण और निरुद्देश्य-सा लगता है। शब्दहीन स्थिति वास्तव में (सामान्य रूप में) हुआ भी नहीं करती क्योंकि हम भले ही बाहर के शब्दों से विमुख होकर एकान्त या निर्जन नि:शब्द स्थान पर चले जाये किन्तु हमारे इस शरीर के भीतर जो मृदुतम और तीव्रतम ध्वनियों का समारंभ पूर्ण निनाद उठ रहा है उसे ग्रहण करने और समझने की क्षमता हमारे कानों में प्रकट होती है। मन को केन्द्रित करके शब्द को सूक्ष्म करते हुए हम हमारी इन्द्रियों को दिशा भी देते हैं और उनकी ज्ञान-शक्ति की परिसीमा का उस विजन (Range) में विकास भी करते हैं। चूंकि यह सब सूक्ष्म में होता है इसलिये इसका फल और प्रभाव हमारे आन्तरिक जगत् पर पड़ता है, दिखाने लायक इसमें कुछ नहीं रहता।

शब्द के अनेक रूप होते हैं। वर्ण के नाम से हम जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं उसका तात्विक रूप, स्तर और आधार गंभीर दार्शनिक भूमि की बातें हैं किन्तु मोटे तौर पर आज के सन्दर्भ में हम यह मानते हैं कि मानवकृत शब्दावली को जब लिपि के रूप में अंकित कर दिया जाता है तो उसको वर्ण कहना संगत लगता है किन्तु वर्ण के रूप में आया यह शब्द कितनी यात्रा करेगा कोई नही जानता अथवा कहानी, कविता, रोमांचक ऐतिहासिक वृत्त के रूप में प्रस्तुत शब्दावली कितनी पीढ़ियों, कितने व्यक्तियों तक चलती रहेगी—इसकी कल्पना करना असंभव है। युग युगों से दुहराते जा रहे नामों और घटनाओं को अगर हम भाषा की दृष्टि से देखें तो वह शब्द का विस्तार हैं और विन्यास है जिसमें कुछ घटनायें, कुछ दृश्य और नाम उभर आये हैं। शब्द की अव्याहत शक्ति अनिरुद्ध प्रसार को देखकर हम इसे नित्य कहा करते हैं किसी सीमा तक यह सच भी है। जिस तरह आकाश में छोड़ी गई सूक्ष्म तरंगें (Micro Waves) अनन्त काल तक चलती रहती है उसी तरह शब्दावली यात्रा करती रहती है और इसकी संगति भी बिल्कुल भौतिक (Machanism) हो जाती है। भौतिक विज्ञान में जिसे आवर्तनशीलता कहा जाता है शब्द संसार में उसे प्राणवत्ता कहा जाता है। कई बार

कई लोग सामान्य शब्दों को भी चिरायु बनाकर वातावरण में छोड़ देते हैं जो कई पीढ़ियों तक बोले, सुने और समझे जाते रहते हैं, जैसे राम और कृष्ण के नाम। कई बार हम किसी विशेष शब्दावली की आवृत्ति करके उसकी मूल प्राणवत्ता की शक्ति को प्रकट भी करना चाहते हैं और प्राप्त भी करना चाहते हैं।

वास्तव में शब्द की गहन समीक्षा और अनुसंधान करते समय हम इस तथ्य से सहमत हो पाते हैं कि ज्ञान अथवा अनुभूति शब्द को अनेक रूपों में विभाजित करती है अन्यथा शब्द मूल रूप में नाद के स्वरूप में उत्पन्न होता है। और ज्ञान तथा अनुभूति प्रकृति के व्यक्त स्तरों की बातें हैं इसलिये तत्वगत स्तर इनमें बहुत पहले से जुड़ जाता है। विविध अनुभूतियों को भी हम तत्वों के सूक्ष्म रूप ही मानते हैं इसलिये शब्दों का संयोजन तत्वों के सूक्ष्म, भावनात्मक, स्वरूप को आन्दोलित करता है और अन्त में (जब हम उसे पढ़ते हैं) वह हमारे शरीर में अवस्थित तत्व जगत् को स्पन्दित करता है। योग की तकनीकी भाषा में हम यह कह सकते हैं कि प्रत्येक शब्द, जो नाद और बिन्दु के रूप में चला था, तत्वों के प्रतीक कमलों में विक्षोभ होने पर विविध प्रकार के क, च, य, द आदि अक्षरों के रूप में प्रकट होता है और उनका संयोजन जब कानों या आँखों के द्वारा हमारे अन्तःकरण का विषय बनता है तो अज्ञात किन्तु सूक्ष्म रूप में उन्हीं कमलों के क्षेत्र में पहुंच कर वैसी ही अनुभूति कराकर विलीन हो जाता है।

शब्द के इस प्रकार के कार्य, व्यवहार और संसार को देखकर हम भारतीय मान्यता का कुछ-कुछ आभास पा लेते हैं कि ज्ञान एक भिन्न चीज़ है और कल्पना ज्ञान पर आधारित होकर भी उससे भिन्न वस्तु। शब्द इन सब में एक माध्यम का कार्य करता है अथवा वही शब्द, जो नाद एवं बिन्दु के रूप में था, इन भाव-भूमियों पर आकर विकसित अतएव स्थूलस्वरूप हो जाया करता है।

जहाँ शब्द किसी भी प्रकार के अर्थ से शून्य है वह स्थिति अर्थ से परे है इसलिये ऐसी सत्ता को हम भाषा की सीमा से आगे की बात मानते हैं। संसार में भी अनेक प्रकार की ध्वनियाँ ऐसी बना करती हैं जिनका भाषागत मूल्य नहीं हुआ करता क्योंकि उनमें केवल शब्द है, केवल ध्वनि है, अर्थवत्ता नहीं है, इसके समानान्तर किसी वाद्य यन्त्र से उत्पादित वे ध्वनियाँ भी हैं जो भाषा के रूप मे कुछ सन्देश या विचार नहीं देती फिर भी वे हमारी अनुभूति को उत्तेजित करती हैं, उनकी यति हमें प्रसन्न, विषण्ण या भयातुर कर सकती है किन्तु ये ध्वनियाँ शब्द की नादमय अवस्थायें नहीं हैं क्योंकि ये हमें अर्थ न सही अनुभूति के क्षेत्र में ले जाती हैं जबकि हमारे भीतर गुंजित हो रहा नाद हमें अनुभूति से भी मुक्त कर देता है। शब्द के बहिर्गामी होने पर उसमें मन, बुद्धि, चेतना आदि के आयाम जुड़ते हैं और वह अर्थ, प्रतीक एवं पदार्थों के बोध से बोझिल होता होता तत्वों के संसार की वस्तु बन जाता है और यही शब्द जब अन्तर्गामी होता है तो क्रमिक रूप से तात्विक, ऐन्द्रिय और मानसिक तथा बौद्धिक आभासों का परित्याग करता हुआ नितान्त सूक्ष्म नाद का रूप धारण कर लेता है! प्रत्येक दर्शन जिस स्थिति को अगम्य अवाच्य कहता है वह यही स्थिति है।

यों, प्रत्येक शब्द की एक लय होती है जो उसके साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी

रहती है। हमारे मधुर कण्ठ या उपयुक्त आरोह अवरोह अथवा स्फीत सुस्पष्ट उच्चारण के कारण वह शब्द की नैसर्गिक यति और लय प्रखर रूप में प्रकट होती है इसलिये हम उसके प्रभावों को अधिक संवेदनशील होकर ग्रहण करते हैं अन्यथा मुद्रित अक्षरों में भी यह लय विद्यमान रहती है। यदि ऐसा नहीं होता तो हम पुस्तक पढ़कर संवेदना और संवेगों की सृष्टि से अछूते ही रहते।

बुद्धि प्रतीक के रूप में जो ग्रहण करती है वह उसकी क्षमता है किन्तु मन अनुभूति के रूप में जो कुछ ग्रहण करता है वह तरंग आकृति ही होती है। यति का आरोह-अवरोह आदि गुण मानव—कण्ठ पर पूर्णतया निर्भर नहीं करता क्योंकि वह तो प्रत्येक शब्द के साथ अनिवार्य रूप में जुड़ा हुआ तत्व है इसलिये जब हम कोई पुस्तक पढ़ते हैं उसके शब्द यतिवद्ध रूप से तरंगायित होते हुए हमारे मन की संवेदना को अपेक्षित दिशा और रूप में उत्तेजित करते हैं और बुद्धि उनका ग्राफ् वनाती है। जैसे संस्कृत के गणन और गुणन जैसे शब्द हैं या जरा व राज जैसे शब्द। प्रथम युगल में एक स्वर का परिवर्तन कर देने से दूसरे युगल में वर्णों का विपर्यय कर देने से यतिक्रम किंवा तरंग का रूप परिवर्तित हो जाता है क्योंकि इनका तत्वगत आयाम बदल जाता है इसलिये इनका वोधव्य ग्राफ और अनुभूतिगत स्वरूप भी बदल जाता है।

वाइवल का 'वर्ड इज गाड' वहुत कुछ इसी तथ्य का विश्लेषण करता है। जिस तरह व्यक्तिप्रकृति में शब्द सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता हुआ, केवल नाद रूप हो जाता है उसी तरह विश्व प्रकृति में भी होता है इसलिये आकाश (शून्य) को एक तत्व माना गया है और आकाश को शब्द की गुणात्मकता। पाँच तत्वों के क्रम में आकाश को प्रथम तथा शेष तत्वों का जनक भी इसीलिये समझा गया कि आकाश के शून्य में अन्य तत्वों के आयाम अत्यन्त सूक्ष्म रूप में वीजावस्था म रहते हैं जो विकसित होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता वना लेते हैं। ऐसी स्थिति में आकाश का शून्य और शून्य की गुणात्मकता संसार का आधार भी है और उसे विकसित होने देने वाली तात्विक स्थिति भी, अतः 'वर्ड इज् गाड' जैसे वाक्य से ही इसे समझाया जा सकता है।

शब्द शेष आयामों से ऊपर है। शेष आयाम से आशय अगले तत्वों की तन्मात्रागत स्थिति है अर्थात् उसमें पृथ्वी की गंधवत्ता व ठोसपन, जल की रसात्मकता व तरलता, तेज की रूपवत्ता व दाहकता, तथा वायु का स्पर्श और गैसीय गुण उसमें प्रकट रूप में नहीं हैं इसीलिये वह दिशा और समय की पकड़ में नहीं आता। इसका विशेष कारण यह भी है कि शब्द आकाश का गुण है और आकाश शून्य का नाम है शून्य की स्वयं की दिशा और समय नहीं हो पाती इसलिये हम शब्द की दिशा ढूंढते हैं या शब्द से दिशा का ज्ञान करते हैं, दिशा का शब्द नहीं ढूंढते।

जप योगी या शब्द साधना करने वाले क्रमशः उस स्थिति में चले जाते हैं जहाँ केवल शब्द है, वहाँ समय नहीं है क्योंकि समय के सूचक और मापक उपकरण तथा आयाम बहुत पीछे छूट जाते हैं।

हम मानते हैं, प्रकृति में विक्षोभ होने पर वह व्यक्त हुआ करती है अथवा विक्षोभ प्रकृति का प्राथमिक स्वरूप है और यही विक्षोभ हमारी चेतना के आन्तरिक संसार में

अनेकों कोशों एवं कणों को आन्दोलित करता हुआ कण एव तरंग (पार्टिकल तथा वेव्) प्रकृति में प्रकट होकर स्थूल संसार में भी इसी तरह की अभिव्यक्ति आकृति प्रदान करता है। ज्ञानवादियों का भौतिक शास्त्र यही है। भाषा के रूप में प्रयुक्त शब्दावली तो रसायन शास्त्र है जो विविध वर्णों या अक्षरों का संयोजन करके विविध रूप, गुण, आकार के प्रतीक शब्दों का निर्माण करता है।

मंत्र रचना

शब्द को साधना का विषय बनाने का प्रचार सारे संसार में है। ईसाई, मुस्लिम, वौद्ध आदि धर्मों में प्रार्थना, पूजा आदि का व्यवहार शब्द के आत्मिक एवं पारमार्थिक पक्ष को प्रकट करता है। सामान्य व्यवहार में यह हमारे भौतिक व्यापार एवं व्यवहार का सम्पादन करता है।

भारत ने शब्द के वाचिक और आत्मिक दोनों पक्षों का सम्यक् अध्ययन, अनुभव, परीक्षण ही नहीं किया, उसकी शक्ति को और स्वरूप को अक्षत बनाये रखने के लिए व्याकरण का तटवन्ध सुदृढ़ व व्यवस्थित रूप में रचा। संस्कृत-व्याकरण का अध्येता यह सगर्व और चुनौतीपूर्वक कह सकता है कि आज ही नहीं, आज तक संसार की भाषाओं में जो प्रयोग किये गये हैं या किये जा रहे हैं वे सव मूलतः संस्कृत में रहे हैं।

शब्द का संक्षेपण करने के लिए आदि के अक्षर को लेकर एक छोटा शब्द बनाने की पद्धति अंग्रेजी में वहु प्रचलित है जैसे संयुक्त राष्ट्रीय औद्योगिक, साँस्कृतिक, आर्थिक परिषद के लिए यूनिसेफ या युद्ध बन्दियों के लिए पी० ओ० डब्लू० जैसा व्यवहार एक प्रचलित पद्धति है। इस प्रक्रिया से सुविधा भी रहती है और अर्थग्रहण भी हो जाता है। जो लोग संस्कृत वाङ्मय की विशेषता से परिचित नहीं हैं वे इसे केवल अंग्रेजी का चमत्कार मान सकते हैं किन्तु तंत्रशास्त्र में यह शैली प्रचलित रही है। उदाहरण के लिए दीक्षा शब्द का अर्थ हम जानते हैं कि वह किसी अनुष्ठान विशेष में पात्रता प्राप्त करने के लिए किया जा रहा प्रायोगिक कृत्य है किन्तु इसका अर्थ करते हुए कहते हैं—

"दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पापसंचयः तेन दीक्षा"

अर्थात् ज्ञान दिया जाता है और पाप का क्षय किया जाता है उस क्रिया को दीक्षा कहा जाता है। यह पद्धति दीक्षा शब्द में एक प्रतीक वोध के रूप में की गई है अन्यथा प्रत्येक शब्द के निर्माण में यही चिन्तन व अभिव्यंजन शैली काम में आई है। प्राचीन शिला लेखों में भी विशिष्ट स्थानों पर एकाक्षर से सम्पूर्ण शब्द को लिखने के उदाहरण मिलते हैं जैसे हेमन्त ऋतु के लिए 'हे' अक्षर लिख देना।

लोकाचार में भाषा का प्रयोग संहति रूप में किया जाता है और यह संहति जितनी अधिक होती है उतना इसका आन्तरिक, विकीर्ण होने के कारण क्षीण हो जाता है और इसका समग्र वातावरण किंवा परिप्रेक्ष्य ही हमें प्रभावित करता है। यही संहति जब संक्षिप्त की जाती है तो शब्दों का संभार कम होता जाता है और उनकी शक्ति

(नाभिकीय शक्ति) अधिक प्रकट होती जाती है। हम राम शब्द का प्रयोग भाषा के रूप में करते हैं तब इसका अर्थ भाषा में अन्तर्हित हुआ रहता है और प्रसंगगत रूप में यह भी अपना बोधव्य समझा देता है किन्तु जिस समय हम इसे आराध्य के रूप में मानते हैं तो राम एक अतिमानवीय चरित्र का प्रतीक बनकर उपस्थित होता है, ऐसा प्रतीक होता है वह जो जरा-मरण से मुक्त है, जिसकी सत्ता सनातन है। इतना विस्तृत अर्थ केवल दो अक्षर के शब्द 'राम' में समाहित हैं जिसे वाल्मीकि और तुलसी जैसे प्रतिभाशाली कवियों ने सरस कथात्मक आवरण पहना दिया है। यह बात ऐसे ही है जैसे पानी को देखकर कोई समग्र उद्यान की कल्पना करे या वट के छोटे से बीज में पशु-पक्षीगणावृत विशाल वृक्ष का दर्शन करे।

जो लोग अलौकिक-चरित्र-सम्पन्न, मर्यादापुरुष राम को कथा के विस्तार में खोजते हैं वे विस्तार से मूल को पहचानने-पाने का उपक्रम करते हैं और जो 'राम' शब्द की आराधना करते हैं वे अपने साधनाबल से राम के दिव्यत्व को अपने में प्रकट करते हैं। अल्पज्ञान की अवस्था में कथात्मक राम हमारे लिए ज्ञेय रहता है किन्तु जिस अनुपात में हमारा बोध शुद्ध होता जाता है उसी अनुपात में वह कथारस क्षीण होने लगता है और एक अवाच्य सत्ता से साक्षात्कार होता है।

यह ही स्थिति शब्द-साधना की है और इसमें प्रत्येक शब्द अपनी मूल शक्ति का प्रकाशक बनता है। भारत में शब्द के अन्तर्वाह्य को विश्व में सबसे पहले और सबसे अधिक समझने का सत्प्रयास किया गया है जिसका प्रमाण हमारा वैदिक एवं तांत्रिक वाङ्मय है। मंत्रों की रचना किस आधार पर, किस शैली में की गई और इसकी मूल शक्ति को हम किस तरह से प्रकट कर सकते हैं—यह विवेचन, आध्यात्मिक किंवा दर्शन विषय के ग्रंथों को पढ़ने से, ज्ञात होता है।

आज के विज्ञानवादी को यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि सहस्राब्दियों पूर्व भारतीयों ने प्रत्येक वर्ण का छन्द (rythm), देवता (shape) शक्ति और प्रभामण्डल (power and range) नाप कर बता दिया था। इस प्रकार का विवरण भाषा-विज्ञान या व्याकरण का विषय न होकर मंत्र शास्त्र का रहा। इतना अवश्य है कि अक्षर की इस सूक्ष्म अवस्था का ज्ञान गहन-साधना और निर्मल अन्तःकरण से ही संभव है। प्रभा मंडल को हम उसकी दोलन शक्ति (Frequency) कह सकते हैं।

भौतिक विस्तार शब्द का ही विस्तार है। यह तथ्य हमें आपाततः दुर्बोध लग सकता है। किन्तु शब्द की शक्ति के अनुभव के साथ ही यह तथ्य प्रामाणिक रूप में प्रकट हो जाता है। शब्द-ब्रह्म के साक्षात्कार का प्रामाणिक अभिलेख वेद और तंत्र दोनों ही हैं। वेद के उपदेष्टा ब्रह्मा हैं जिनके चार मुख है और तंत्र के प्रकाशक शिव हैं जिनके पांच मुख हैं। वेद के मूल रूप को सुरक्षित रखने के लिए उसके अनेक प्रकार के पाठ की शैलियाँ प्रचलित हैं तथा उसके चिन्तन को सुरक्षित एवं विशद बनाये रखने के लिए वेदांत और उपनिषद् जैसी दार्शनिक चिन्तन धारायें इस देश में ओजस्वी रूप में प्रवाहित होती रही हैं।

वैदिक मंत्रों में बीज मंत्र नहीं हैं। वे मूलतः आत्मदर्शन और प्रकृति दर्शन के

आह्लाद की निश्छल अभिव्यक्ति हैं, संगीतमय ऋचायें हैं। वे हमारे धार्मिक कृत्यों के साक्षी हैं, हमारे आत्मानन्द की अभिव्यक्ति हैं। जागतिक आकांक्षाओं के प्रति वैदिक ऋचायें उदासीन हैं इसलिए मारण-मोहन जैसी जन-सामान्य की लालसाओं के लिए उनका विनियोग और उपयोग नहीं किया जा सकता। यद्यपि जनमेजय का नागयज्ञ, और वज्रकृत्या जैसे प्रयोग वैदिक अनुष्ठान विधि में निर्दशित हैं, तथा वारुणास्त्र, वायव्यास्त्र जैसे प्रयोग भी वैदिक परम्परा में प्रचलित रहे हैं तो भी उनका सामान्यीकरण नहीं हो सका, वे विशिष्ट वर्ग के लिए ही संभव रहे।

आत्मसिद्धि वेद की तरह ही तंत्रमार्ग का भी गन्तव्य रही किन्तु इसने शब्द-शास्त्र—'मंत्र'—की शक्ति को वहुजनहिताय प्रयोग में लाने का दृष्टिकोण अपने सामने रखा और साधारण जन की सामान्य कामनाओं तक विचार करके उनकी पूर्ति का माध्यम वनाने की योग्यता प्रदान की। वीज मंत्रों का सर्वाधिक प्रयोग तंत्र मार्ग में किया गया और उसने इन मंत्रों की सिद्धि के लिए जन्मगत जाति जैसी सीमायें न रखकर आचरण और अनुष्ठानोपयुक्त व्यवहार का समय (शर्त) स्थापित किया। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संक्षिप्त करने की अथवा शब्द का वर्गीकरण करके उसकी मूल शक्ति को अभीष्ट रूप में उपयोग करने की वीजविधि तंत्र मार्ग ने उपदेशित की।

हम जिन मंत्रों को साधना का विषय वनाते हैं, वे उद्धार किए हुए मंत्र हैं। उनके मूलरूप को सुरक्षित रखने के लिए तंत्रशास्त्र ने अपनी पद्धति से उनको निवद्ध किया है। वीजमंत्र चूंकि मंत्र हैं इसलिए उनका वैदिक ऋचाओं की तरह (पद पाठ, घन पाठ आदि) पाठ नहीं किया जा सकता तथा मंत्र, पाठ का विषय भी नहीं होता। ऐसी स्थिति में उन मंत्रों को सुरक्षित रखने के लिए उन्हें प्रतीकों से उपदेशित किया गया। ये प्रतीक अत्यन्त पारिभाषिक भी हैं, प्राकृतिक भी हैं, संख्यात्मक भी हैं और हमारे अंगों से अभिधेय भी इन प्रतीकों को छन्द के नियमों से निगड़ित करने से ये मंत्र और भी अधिक सुरक्षित हो गए हैं। यद्यपि इस प्रतीक शैली के कारण ये मंत्र सुगम नहीं रह गये न केवल व्याकरण ज्ञान या संस्कृत भाषावोध से ज्ञेय रहे तथा इससे ये सामान्य संस्कृतज्ञ की समझ में आने लायक भी न रहे फिर भी यह शैली इन वीज मंत्रों को त्रुटिहीन वनाये रखने के लिए अनिवार्य थी। गणित में दो हजार छत्तीस को अंकों में न लिख कर शब्दों में लिखने से त्रुटि होने की संभावना कम रहती है इससे भी कम संभावना प्रतीकों में लिखने से रहती है (ज्योतिष में अंक अर्थात् नौ, वेद अर्थात् चार, रस अर्थात् छः जैसे प्रतीक अति प्रचलित हैं और संख्या के लिए इन प्रतीकों का ही व्यवहार किया जाता है) ये ही प्रतीक श्लोकवद्ध किये जाने पर और अधिक शुद्धतापूर्वक सुरक्षित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए काली के वीज 'क्रीं' का रूप इस प्रकार के श्रुति मनोहर छन्द में निवद्ध किया गया है—**'कर्पूरं मध्यमाद्य स्वरपररहितं सेन्दुवामाक्षियुक्तम्'**

'ह्रौं' वीज के लिए—**'भूतान्तं तु समुद्धृत्य षट्पंचत्रिकला युतम्'**
इस रूप में पद्यनिवद्ध करना तकनीकी एवं जटिल अवश्य हो जाता है किन्तु यह जटिलता इन गोप्यमंत्रों को सुरक्षित रखने की बाड़ है। 'ह्रौं' का जो रूप इस पद्य में वर्णित है वह शब्दार्थ के अनुसार इस तरह है—भूतान्त अर्थात् 'ह' उसमें चौदहवीं मात्रा जोड़ने से

ही बनता है। स्मरण रहे जहां गणितीय—संख्याबोध कराना होता है। वहां अंकानां **वामतोगांतः** (पहले इकाई, फिर दहाई, फिर सैकड़ा इस वामक्रम से) रहती है और जहां सीधे छः, पांच, तीन कह दिया जाता है वहां इन संख्याओं का योग ही अभीष्ट रहता है। वर्णमाला में कितने अक्षर होते हैं तथा कौन-सा अक्षर किस क्रम पर आता है—इस सूत्र को याद रखना भी आवश्यक रहता है क्योंकि कई जगह उस अक्षर को किसी अन्य प्रतीक से न कहकर उसकी संख्या बतला दी जाती है। इन प्रतीकों के अलावा आदि और अन्त से भी वर्ण निर्देश किया जाता है जिसके लिए भी वर्णमाला का क्रम जानना आवश्यक होता है जैसे हमें 'ग' कहना है तो इसके लिए खान्तः भी कह सकते हैं क्योंकि 'ग' ख के बाद आता है और घादि भी कह देते हैं क्योंकि 'ग' कार घ से पहले आता है। इसी 'ग' को आद्य वर्ग का तृतीय भी कह सकते हैं अथवा उन्नीसवां अक्षर भी कहा जा सकता है। इस शैली को देखकर हम यह सोचने को विवश हो जाते हैं कि जब तक इस जटिल और दुरूह तकनीक को नहीं समझ लिया जाता तब तक किसी भी मन्त्र की साधना एक सूक्ष्म अतएव अन्तःकरण से सम्पन्न होने वाली क्रिया है। इसमें बाह्य देह निश्चल हो जाया करता है, जो कुछ होता है वह आभ्यंतर स्तर पर होता है और उसमें सारा कुछ मन के क्रिया व व्यापार का विषय रहता है। यों साधना के लिए अनेक मन्त्र हैं और मन्त्रों के स्वरूप भूत देवता हैं। प्रत्येक देवता शब्द की मूलभूमि और विचारशक्ति के दिव्यरूप हैं, और वे उसी पराशक्ति के अंशांश भूत होने के कारण उसी तक पहुंचाते हैं फिर भी उनकी क्षमता सीमाबद्ध है। तन्त्र के प्रस्तोता ऋषियों ने शब्द की दोलन परिसीमा (फ्रीक्वेंसी) का निर्देश कर दिया है। हम उस सारणी के अनुसार अपनी शक्ति का विकास कर सकते हैं। यह विकास हमें काल खण्ड एवं कला विलास से ऊपर उठाकर कालातीत निष्कल स्वरूप का सायुज्य प्रदान करता है।

सारा तन्त्र, मन्त्र एवं तंदगीभूत यंत्र प्रयोग का विषय है। प्रायोगिक होने के कारण यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि अमुक शास्त्र ने ऐसा कहा है इसलिए सत्य है बल्कि शास्त्रीय उपदेश को प्रयोग करके देख लेने की सुविधा प्रत्येक को प्राप्त है और प्रयोग के बिना यह शास्त्र निष्प्रयोजन है। इस विधा के नितान्त प्रायोगिक होने के कारण तर्क और युक्ति को इसमें अवकाश नहीं है।

सम्भव है हमारे प्रयोग विफल हो जायें और विफलता एक क्रम के रूप में हमारी सहचारिणी हो जाये। ऐसी स्थिति में हम इस शास्त्र पर ही अविश्वास करने लगें तो भी कोई आश्चर्य नहीं पर यह हमारा व्यक्तिगत निर्णय व अनुभव ही रहेगा, इससे शास्त्र की विश्वसनीयता पर कोई अन्तर नहीं पड़ता। विफलता के पीछे मेरी दृष्टि में जो कारण होते हैं उनमें सबसे पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण है व्यक्ति में पात्रता न होना। सर्वाधिक संघर्ष पात्रता प्राप्त करने के लिए किया जाता है। आधान की शक्ति एवं क्षमता प्राप्त हुए बिना किसी शक्ति का अवतरण होगा कैसे ? देवत्व प्राप्त किये बिना देवता की साधना हो कैसे सकती है ? दूसरा प्रमुख कारण है युग का प्रभाव इस युग के सन्दूषण, वैचारिक विकृति और आस्थाहीन भीड़ के घनत्व में रह रहा व्यक्ति अपने को विकारहीन कैसे रख सकता है ? समयानुसार आज के व्यक्ति की आयुष्य और मेधा

शक्ति में ह्रास हुआ है और मन्त्र साधना के लिए नियत संख्या में जप करना अभीष्ट फलप्रद तभी हो सकता है जब हम युग प्रभाव से मुक्त होकर निर्मल अवस्था में साधना करें। कलियुग की इस विषमता का अनुमान करके ही ऋषियों ने कहा था कि कलियुग में चौगुनी संख्या में जप करने पर मन्त्र सिद्धि हो सकती है यह चौगुनी मात्रा भी व्यक्ति की अचल निष्ठा, अक्लान्त साधना, आचार-व्यवहार और विचार में निर्मलता का पालन करने पर फलवती होती है। तीसरा कारण है मन्त्र के उच्चारण में त्रुटि। अनेक व्यक्तियों का स्वरतन्त्र स्वच्छ नहीं होता, जीभ मोटी होती है उनको तुलसीदास या शावर मन्त्र की साधना ही श्रेयस्कर रहती है। जिन लोगों का शरीर स्थूल होता है वे अधिक समय तक आसन लगा कर बैठ नहीं सकते इसलिए कठिन साधना के लिए उनको पूर्वाभ्यास करने में समय लगेगा ही। इस तरह की स्थिति में त्रुटिपूर्ण जप से सफलता कैसे मिल सकती है ? चौथा कारण है, अनुष्ठान का सविधि न होना। **"ध्यानं पूजा जपो होमः"** के रूप में अनुष्ठान के चार अंग बतलाये गए हैं इनका पालन होना ही चाहिए। अपने अनुकूल मन्त्र का न होना, मन्त्र का विधिपूर्वक ग्रहण न कर सकना, अशुभ मुहुर्त में मनमाने ढंग से किसी प्रयोग को शुरू कर देना आदि कई अवान्तर कारण हैं जो इस विषय के मर्मज्ञ व्यक्ति से या गुरु की कृपा से जाने जा सकते हैं। आगे के अध्यायों में इन विन्दुओं पर संक्षेप में यथावसर विचार किया गया है।

मन्त्र के सिद्ध हो जाने की स्थिति कुछ और ही होती है। हमने किसी प्रयोजन-वश कोई अनुष्ठान किया और भगवत्कृपा से हम उस प्रयोजन में सफल हो गए—यह मन्त्र सिद्धि नहीं है। इस वात को हम ऐसे समझ सकते हैं जैसे हम किसी काम के लिए किसी मन्त्री के पास गए और उसने कृपा करके हमारे लिए सिफारिश कर दी या हमारा काम कर दिया जबकि सिद्धि उस शक्ति पर अधिकार प्राप्त कर लेने को कहते है, अर्थात् स्वयं मन्त्री हो जाता है। किसी भी सिद्धि मन्त्र की रैंज कितनी होती है—यह वात सिद्धि प्राप्त होने पर ही समझ में आती है। संकेत के रूप में इतना कहा जा सकता है कि एक भी मन्त्र यदि सिद्ध हो जाता है तो उससे अनेक काम सम्पन्न हो हैं जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। साधना शास्त्र में एक मन्त्र के जितने फल एवं उपयोग लिखे हैं उनसे भी अधिक उपयोग सिद्धमन्त्र के होते हैं। यह माना जा सकता है कि साधित मन्त्र बहुत शक्तिशाली और वहुउद्देश्यीय अस्त्र है।

एक जगह पढ़ा था—परमहंस जब साधना में प्रवृत्त हुए तो कालान्तर में आठों सिद्धियाँ-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व,—उनके आगे सशरीर प्रकट हुई। परमहंस उनको ले गए और परांबा के श्रीचरणों में अर्पित कर आए। यह घटना परमहंस की है पर शास्त्र का निर्देश है कि ये सिद्धियाँ प्रत्येक साधक के साधना पथ में आया करती हैं। परमहंस जितनी निर्मलता हमें प्राप्त हो जाये तो वे हमारे सामने भी शरीर धारण करके प्रकट हो सकती है। वास्तविकता यह है कि ये सिद्धियाँ दिव्यभूमिका के चिह्न हैं और मन्त्र साधना से प्राप्य देवत्व इनके बिना संभव नहीं। यह दूसरी बात है कि कोई आत्मकामी व्यक्ति इनको सविनय स्वीकार करके निरासक्त भाव से आगे बढ़ जाये। जो लोग आसुरी मन्त्रों की साधना करते हैं उनके

लिए ये सिद्धियाँ दिव्य रूप में प्रस्तुत नहीं होती, न ये सारी की सारी ही प्रकट होती हैं, इनका रूपान्तरण हो जाता है।

इन आठ सिद्धियों में पहली चार दो-दो के दो जोड़े के रूप में हैं जो एक दूसरे से विपरीतधर्मा होकर सम्पूर्णता प्रदान करती हैं। ये भौतिक शरीर-साधक के देह-के स्तर पर जव प्रकट होती हैं तो व्यक्ति अपने को समर्थ एवं प्रभुत्व सम्पन्न समझने लगता है। प्राण साधना—योग मार्ग—में ये सिद्धियाँ प्रकट रूप में व्यक्ति में अन्तर्हित हुआ करती हैं शब्द साधना करने वाले में ये परोक्ष या अव्यक्त रूप से सिद्ध होती हैं।

जो लोग सात्विक मन्त्र की साधना करते हैं अथवा निष्काम अनुष्ठान करते हैं उनको शेष चार सिद्धियाँ आवश्यक रूप से प्राप्त होती हैं। इनमें भी प्रारम्भ की दो प्राप्ति और प्राकाम्य (जैसा कि इन शब्दों से व्यक्त होता है प्राप्ति अर्थात् जो कामना की जाये वही पूरी हो जाये और प्राकाम्य अर्थात् प्रचुरता) रजोगुण प्रधान अवस्थायें हैं शेष दो-ईशत्व (प्रभुता) और वशित्व सत्वगुणी प्रभाव हैं।

सम्भव है आप (में से कइयों) ने भी ऐसे उपासकों को देखा हो या विद्वान् अथवा ज्ञानवान् व्यक्ति को देखा हो जिनके सामने आने वाला प्रत्येक शिर श्रद्धा से नत ही हो सकता है, अवज्ञा से, उद्धत भाव से उद्ग्रीव नहीं हो सकता। उन लोगों की आज्ञा को लोग शिर से ग्रहण करते हैं—यह ईशत्व और वशित्व ही तो है। जो लोग विद्वान् होते हैं वे भी साधक होते हैं, शब्द की साधना उन लोगों ने भी की है इसलिए साधना के अनुषंगिक फल के रूप में उनमें यह प्रभुता और वशीकरण प्रकट हुआ है। पतंजलि के अनुसार किन्हीं लोगों को ये सिद्धियाँ प्राक्तन जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप जन्म से मिला करती हैं। ऐसे व्यक्ति भी हमने हमारे जीवन में देखे ही होंगे जिनको ये शक्तियाँ निरायास प्राप्त होती हैं।

सरस्वती के साधक को प्राप्ति और प्राकाम्य भी मिला करता है, अथवा प्रत्येक मन्त्र की उच्चतम अवस्था में ये दोनों सिद्धियाँ भी प्राप्त होती ही हैं पर उत्तम साधक इन सिद्धियों का प्रदर्शन और परीक्षण नहीं किया करता। साधना के इस स्तर पर पहुंचा हुआ व्यक्ति जो कुछ भी कामना करता है वह उसके लिए सुलभ हो जाती है। इसे संकल्प सिद्धि या प्राप्ति नामक सिद्धि कह सकते हैं। प्राकाम्य में उसके पास साधनों का संग्रह नहीं होता पर इच्छा के साथ ही अनल्प मात्रा में उसे वस्तु प्राप्त होती हैं।

मूल मन्त्र जो पुस्तकों में उद्धृत हैं वे उन पद्यवद्ध प्राचीन ग्रन्थों से लिए हुए हैं। आज किसी मन्त्र के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जाये कि उसका रूप शुद्ध है या नहीं तो हम उन प्राचीन पारिभाषिक ग्रन्थों को ही ढूंढेंगे और उनको समझ सकेंगे तो ही निष्कर्ष पर पहुंच पायेंगे। यद्यपि इस प्रकार की समग्र सूची वनाना मेरे सरीखे अल्पज्ञ के लिए संभव नहीं है फिर भी सामान्यतया तन्त्र ग्रन्थों में जिन संकेतों और प्रतीकों को लिया जाता है उनका विवरण प्रस्तुत है। इससे मन्त्र की तकनीक समझने में सहायता मिलेगी।

वर्ण	संकेतक	वर्ण	स्वरूप	आयुध	आसन वाहन	परिमाण	तात्त्विक रूप	देवता	शक्ति	ऋषि	छन्द	चन्द्र कला	नाद कला
अ	ललाट शिर श्री कंठ प्रथम वर्णोदय आदिबीज	स्वर्णवर्ण	चतुर्मुख अष्टभुज	शूल गदा	कच्छप	अतिकाय	शरद चन्द्रवत् पंचदेवमय पंचकोण त्रिगुणमय निर्गुण शक्तिमय युक्त प्रकृतिरूप कैवल्यप्रद	श्रीकंठ केशव	पूर्णोदरी कीर्ति	अर्जुन्यायन	मध्या	अमृता	निवृत्ति
आ	मुख पाश अनन्त	शुभ्र कमल पर आसीन	मौक्तिक आभूषण	पाश अंकुश	गज	साठ योजन ऊर्ध्व	शंख शुभ्र त्रिदेवमय पंच प्राणमय, परम कुण्डली रूप	अनंत नारायण	विरजा कांति	अर्जुन्यायन	मध्या	मानदा	प्रतिष्ठा
इ	दक्षिण नेत्र सूक्ष्म विष्णु स्वरमाया	पुष्पवत् कोमल कान्ति पीत	कुण्डली रूप युक्त ब्रह्ममय	शक्तिमय कमल वज्र परशु	कूर्म	तीन योजन विस्तीर्ण	त्रिदेवमय त्रिगुण युक्त	सूक्ष्म माधव	शाल्मली तुष्टि	भार्गव	प्रतिष्ठा	पूषा	विद्या
ई	वामनेत्र महामाया त्रिमूर्ति	श्वेत	पुष्टिप्रद परम कुंडली रूप चतुर्ज्ञानमय	मुक्ता के आभूषण	हंस	दस योजन	पीत विद्युत आभा एवं आकृति पंचदेवमय	त्रिमूर्ति गोविन्द	लोलाक्षि पुष्टि	भार्गव	प्रतिष्ठा	तुष्टि	शान्ति
उ	दक्षिण कर्ण अमरेश्वर	चंपा के समान पीला	कृष्णा भरण युक्त	गदा अंकुश	काक	दो हजार योजन विस्तृत	पंचदेवमय पंचप्राणमय, चतुर्वर्ग प्रद अथः कुंडली रूप	अमरेश्वर विष्णु	वर्तुलाक्षि धृति	अग्निवेश्य	सुप्रतिष्ठा	पुष्टि	इंधिका
ऊ	वामकर्ण अर्घीश	चंपा एवं कुन्द पुष्प सदृश	कृष्णा भूषणयुक्त	गदा अंकुश	काक	दो हजार योजन विस्तृत	परम कुंडली रूप पंच प्राणमय पंचदेव मय चतुर्वर्ग प्रद सुखदाता	अर्घीश मधुसूदन	दीर्घघोणा शान्ति	अग्निवेश्य	सुप्रतिष्ठा	रति	दीपिका
ऋ	दक्षनासा भावभूति	रक्तवर्ण	अग्नि विवस्थ	पाश शक्ति	उष्ट्र	दो हजार योजन विस्तृत	कालघ्न त्रिदेवमय पंचवर्ण-चतुर्ज्ञानमय ईश्वरयुक्त सदाशिवयुक्त	भावभूति त्रिविक्रम	सुदीर्घमुखी क्रिया	अग्निवेश्य	सुप्रतिष्ठा	धृति	रेचिका

वर्ण	संकेतक	वर्ण	स्वरूप	आयुध	आसन/वाहन	परिमाण	तात्विक रूप	देवता	शक्ति	महर्षि	छन्द	चन्द्र कला	नाद कला
ॠ	वामनासा तिथि	रक्तवर्ण	अग्नि बिंबस्थ	पाश शक्ति	ऊष्ट्र	दो हजार योजन विस्तृत	पंचदेव पंचप्राण चतुर्ज्ञान त्रिशक्तिमय	तिथि वामन	गोमुखी दया	गौतम	गायत्री	शशिनि	मोचिका
लृ	दक्षिण कपोल स्थाणु	पुष्पराज (पुखराज)	कमलासन रुद्ररूप	पाशवज्र	हंस	दो हजार योजनविस्तृत	पीत विद्युत सदृश, ब्रह्मादि देवों का आकार पंचदेव, पंचप्राण, चतुर्ज्ञान त्रिगुणमय	स्थाणु श्रीधर	दीर्घजि ह्वा मेधा	गौतम	गायत्री	चन्द्रिका	परा
लॄ	वामकपोल हर	पुष्पराज (पुखराज)	कमलासन रुद्ररूप	पाश वज्र	हंस	दो हजार योजनविस्तृत	पीत विद्युत सदृश, ब्रह्मादि देवों का आकार पंचदेव, पंचप्राण, चतुर्ज्ञान त्रिगुणमय	हर हृषीकेश	कुण्डोदरी हर्षा	गौतम	गायत्री	कान्ति	सूक्ष्मा
ए	अधर झिण्टीश भगः	श्याम	हारभूषण	शूल वज्र	चक्रवाक	अर्ध कोटि योजन	पंचदेवमय पंचप्राणमय चतुर्वर्ग प्रद, परमकुण्डली	झिण्टीश पद्मनाभ	अर्ध्व केशी श्रद्धा	गौतम	गायत्री	ज्योत्स्ना	सूक्ष्मामृता
ऐ	ओष्ठ भौतिक	नवकुन्द	कवितकर	शूलवज्र	द्विप चीता	कोटि योजन	कोटिचन्द्रवत परम कुण्डली सदाशिवमय पंचप्राण त्रिदेव विंदुत्रय युक्त	भौतिक दामोदर	विकृतमुखी लज्जा	लोहित्यायन	अनुष्टुप्	श्री	ज्ञानामृता
ओ	अधोदन्त सद्योजात	पीत	चिन्मय	शान्त	वृष	पाँच सौ योजन दीर्घ	रक्त विद्युत ईश्वर पंचदेव पंच प्राणमय त्रिगुणात्मक, देवनाता परम कुण्डली	सद्योजात वासुदेव	ज्वालामुखी लक्ष्मी	लोहित्यायन	अनुष्टुप्	प्रीति	आप्यायनी
औ	ऊर्ध्वदन्त अनुग्रहेश्वर	तप्तस्वर्ण	विभूतिप्रद	पाश चक्र	—	सहस्त्रयोजन	पंचप्राण, ईश्वर, सदा शिवमय, कुण्डलीरूप रक्त विद्युत सदृश चतुर्वर्गप्रद	अनुग्रहेश्वर संकर्षण	उल्कामुखी सरस्वती	वशिष्ठ	बृहती	अंगदा	व्यापिनी
अं	जिह्वा अक्रूर	नवकुंकुम	चतुर्भुज रक्त भूषण पद्मासीन रिपु नाशन श्रीकर	—	—	—	पंचप्राणात्मक, पीत विद्युत सदृश, त्रिदेव एवं सर्व ज्ञानमय विन्दुत्रय युक्त	अक्रूर प्रद्युम्न	श्रीमुखी प्रीति	वशिष्ठ	बृहती	पूर्णा	व्योमरूपा
अः	ग्रीवा महासेन	रक्तवर्ण	द्विभुज	वज्र शूल	खर	सहस्त्र योजन	रक्त विद्युत सदृश पचदेव पंचप्राण, सर्वदानवमय, प्राण तन्त्ययुत, एवं बिन्दुत्रय शक्तियुक्त	महासेन अनिरुद्ध	भद्रमुखी रति	मांडव्य	दण्डक	पूर्णामृता	अमृता

वर्ण	संकेतक	वर्ण	स्वरूप	आयुध	आसन वाहन	परिमाण	तात्विक रूप	देवता	शक्ति	ऋषि	छन्द	सौर कला	प्रणवदन कला
क	दक्षिण, बाहुमूल, क्रोधीश मुखान्त, चतुर्मुख, वर्णाधिप	नवकुंकुम	भूबिंबगत	शूल वज्र	गज	द्विसहस्त्र योजन	जपा एवं सिन्दूर के सदृश चतुर्भुज, त्रिनेत्र कदंब कोलम सदृश स्तन रत्न कंकण केयूर भूषि परमेशी कामिनी रूप	क्रोधीश चक्री	महाकाली जया	कोद्भाग्न	पंक्ति	तपनी	सृष्टि
ख	दक्षिण-कूर्पर चण्डीश	कृष्ण	भीषण	पाश तोमर	मेष	सहस्त्र योजन	शंख कुन्दवत् आभा त्रिकोण गुणत्रय पंचदेव शक्तिमय, सामान्यतया सर्व शक्ति युक्त	चण्डेश गदी	सरस्वती दुर्गा	अज	त्रिष्टुप्	तापिनी	ऋद्धि
ग	दक्षिण-मणिबंध पंचान्तक	अरुण	सर्पभूषण	पाश अंकुश	सर्प	शतयोजन	निर्गुण, निरीह, निर्मल कुण्डलीरूप, पंचदेवात्मक पंचप्राणमय	पंचांतक शार्ङ्गी	गौरी प्रभा	अज	त्रिष्टुप्	धूम्रा	स्मृति
घ	दक्षिण अंगुलिमूल शिवोत्तम	कृष्ण	द्विमुख	गदा व्रज	उष्ट्र	सहस्त्र योजन	सर्वगति, सर्वप्रद चतुष्कोण, पंचदेवमय शान्त	शिवोत्तम खड्गी	त्रैलोक्य विद्या सत्या	अज	त्रिष्टुप्	मरीचि	मेधा
ङ	दक्षिण अंगुल्यग्र एकरुद्र	कृष्ण	द्विभुज क्षुद्रफल प्रद	—	काक	कोटि योजन	परम कुण्डली रूप, सर्व देवमय, पंच प्राणमय	एकरुद्र शंखी	मंत्रशक्ति चण्डा	अज	त्रिष्टुप्	ज्वालिनी	कान्ति
च	वाम बाहु-मूल, कूर्म	श्वेत	चतुर्बाहु वराटिका भूषित	—	युगाग्र पद्म	कोटि योजन	रक्त विद्युत सदृश, परम कुण्डली रूप त्रिगुण त्रिशक्तिमय, पंचदेव, पंच प्राणमय, चतुर्वर्गप्रद	कूर्म हली	आत्मशक्ति वाणी	योगमान	जगती	रुचि	लक्ष्मी
छ	वामकूर्पर एकनेत्र	श्वेत	चतुर्बाहु	—	पद्मस्थित	कोटि योजन	परम कुण्डली रूप, पंचदेव पंचप्राण त्रिगुण त्रिशक्ति त्रिबिन्दु युक्त पीतविद्युत सदृश	एकनेत्र मुषली	भूतमाता विलासिनी	गोपाल्यायन	अतिजगती	सुषुम्ना	धृति
ज	वाममणिबंध चतुरानन	श्वेत	चतुर्बाहु	—	—	कोटि योजन	शरद् चन्द्र सदृश त्रिगुण त्रिशक्ति पंचदेव पंच प्राणमय	चतुरानन शूली	लंबोदरी विरजा	नषक	शक्वरी	भोगदा	स्थिरा

वर्ण	संकेतक	वर्ण	स्वरूप	आयुध	आसन/वाहन	परिमाण	तात्विक रूप	देवता	शक्ति	ऋषि	छन्द	सौर कला	प्रणवज कला
ऋ	वामांगुलिमूल अजेश	श्वेत	चतुर्बाहु	–	–	कोटियोजन	रक्तविद्युत सदृश मोक्षरूप पंचदेव, पंचप्राणमय, त्रिबिन्दु, त्रिशक्ति युक्त	अजेश पाशी	द्राविणी विजया	अज	शक्वरी	विप्रबा	स्थिति
ॠ	वामांगुल्यग्र शर्व	कृष्ण	त्रिभुज विद्वेषक	–	काक	सहस्रयोजन	परम कुण्डलीरूप पंचदेव पंचप्राणमय, त्रिशक्ति त्रिबिन्दु सहित	शर्व अंकुशी	नागरी विश्वा	काश्यप	अतिशक्वरी	बोधिनी	सिद्धि
ट	दक्षिणोरुमूल सोमेश्वर		त्रिभुज महाध्वनि	-	क्रौंच			सोमेश्वर मुकुन्द	खेचरी वित्तदा	शुनक	अष्टि	धारिणी	जरा
ठ	जानु (दक्ष) लांगली	उज्ज्वल	त्रिभुज विघ्ननाशक	-	ऐरावत गजेन्द्रारूढ	लक्षयोजन	पीत विद्युत सदृश कुण्डली मोक्षरूप त्रिगुण त्रिशक्ति सहित पंचदेव पंचप्राणमय	लांगलि नन्दज	मंजरी सुतदा	सौमनस्य	अत्यष्टि	क्षमा	पालिनी
ड	गुल्फ दारुक	उज्ज्वल	अष्टबाहु चतुर्मुख अलंकृत	–	श्वेतकमल	सहस्र योजन	पीत विद्युत सदृश त्रिगुण, त्रिशक्ति, पंचदेव पंचप्राणमय, आत्मतत्त्वयुक्त	दारुक नन्दी	रूपिणी स्मृति	कारण	धृति	क्षमा	शान्ति
ढ	अंगुलिमूल अर्धनारीश्वर	ज्वलत् कान्ति	दशबाहु अग्नि विकस्थ		अज	सहस्र योजन	रक्तविद्युत सदृश पंचदेव, पंचप्राणमय, त्रिगुण, आत्मतत्त्वयुक्त पर कुण्डलीरूप	अर्धनारीश्वर नर	वारिणी ऋद्धि	मांडव्य	अतिधृति	धारिणी	ऐश्वरी
ण	अंगुल्यग्र आक्रान्त	पीतविद्युत	महासुखप्रद		व्याघ्र	सहस्र योजन	परम कुंडली रूप, पंचदेव पंचप्राणमय, आत्मतत्त्व से संवलित	आक्रान्त नरजित्	कोटरी समृद्धि	मांडव्य	अतिधृति	बोधिनी	रति
त	वामोरुमूल आषाढी	कुंकुम	चतुर्बाहु अलंकृत			सहस्र योजन	स्वयं पर कुण्डली रूप, पंचदेव, पंचप्राणमय, आत्मादि तत्त्वयुक्त पीतविद्युत सम	आषाढी हरि	पूतना शुद्धि	सांकृत्यायन	कृति	विस्वा	कामिका
थ	वाम जानु दण्डी	पीत	अष्टबाहु चतुर्मुख भयंकर		वृष	कोटि योजन	स्वयं कुण्डली रूप पंच देव, पंचप्राण, त्रिशक्ति मय, तरुण सूर्यवत्	दण्डी कृष्ण	भद्रकाली भुक्ति	सांकृत्यायन	कृति	भोगदा	कामिका

वर्ण	संकेतक	वर्ण	स्वरूप	आयुध	आसन वाहन	परिमाण	तात्विक रूप	देवता	शक्ति	ऋषि	छन्द	सौर कला	प्रणवज कला
द	गुल्फ अत्रि	रक्त विद्युत सदृश	द्विमुख षड्भुज		महिष	कोटि योजन	ईश्वर संयुक्त, पंचदेव मय, त्रिशक्ति सहित परम कुण्डली रूप	अद्रि सत्य	योगिनी मुक्ति	सांकृत्यायन	कृति	सुषुम्ना	ह्लादिनी
ध	अङ्गुलिमूल मीन	पीत विद्युत सदृश	चतुर्बाहु		सिंह	चतुर्लक्ष योजन	कुण्डली व मोक्ष रूप, पंचदेव, पंचप्राणमय, त्रिशक्ति युक्त	मीन सात्वत	शंखिनी मति	सांकृत्यायन	कृति	रुचि	प्रीति
न	अङ्गुल्यग्र मेष, दीर्घा	रक्त विद्युत सदृश	द्विभुज		काक	सहस्त्रों योजन	पंचदेव, पंच प्राणमय, परम कुण्डलीरूप, चतुर्वर्गप्रद, आत्मतत्व युक्त	मेष शौरि	गर्जिनी क्षमा	कात्यायन	प्रकृति	ज्वालिनी	दीर्घा
प	दक्षिणकुक्षि लोहित	शरच्चन्द्र सदृश	विंशभुज दशमुख		वक	कोटि योजन	अव्यय, मोक्ष रूप, पंच देव, पंचप्राणमय, आत्म तत्वरूप, त्रिशक्ति सहित परम कुण्डलीरूप	लोहित शूर	कालरात्रि रमा	कात्यायन	प्रकृति	मरीचि	तीक्ष्णा
फ	वामकुक्षि शिखी रुधिर	रक्तविद्युत सदृश श्वेत	द्विभुज चंचल		सिंह श्वेत पद्म पर स्थित	दशकोटि योजन	पंचदेव, पंच प्राणमय चतुर्वर्ग प्रद त्रिगुणसहित आत्मादि तत्व से युक्त	शिखी जनार्दन	कुब्जिनी उमा	[illegible]	प्रकृति	धूम्रा	रौद्री
ब	पृष्ठ, छगलण्ड	अरुण	षण्मुख द्विभुज		हंस नीलोत्पल	दशकोटि योजन	तुष्टिप्रद, पंचदेव, पंच प्राणमय, कुण्डलिनी रूप, चतुर्वर्ग प्रद सधन अमृत के समान	छगलण्ड भूधर	कपर्दिनी क्लेदिनी	दाक्षायण	आकृति	तापिनी	भया
भ	नाभि द्विरण्ड	धूम्र	त्रिहस्त त्रिमुख महाबली भीषणाकृति		व्याघ्र	दशलक्ष योजन	परम कुण्डली रूप, महा मोक्ष प्रद, पंचदेवमय त्रिशक्ति सहित	द्विरण्ड विश्वमूर्ति	महावज्रा क्लिन्ना	व्याघ्रायण	विकृति	तपिनी	निद्रा
म	उदर महाकाल भानु	धूम्र सर्पसदृश	चतुर्भुज मुण्डमाल शशिकला भूषित			दश लक्ष योजन	परम कुण्डली रूप महा मोक्ष प्रद, चतुर्वर्गप्रद, त्रिशक्ति सहित, आत्म तत्व युक्त	महाकाल वैकुण्ठ	[illegible] वसुदा	शाण्डिल्य	संकृति		तंद्रा

वर्ण	संकेतक	वर्ण	स्वरूप	आयुध	आसन वाहन	परिमाण	तात्त्विक रूप	देवता	शक्ति	ऋषि	छन्द	आग्नेय	प्रणव कला
य	हृदय कपाली, हर मेरु, वायु	धूम्र	चतुर्मुख व्यापक		मृग		अव्यय, मोक्षसम परम कुंडलीरूप, पंचदेव पंचप्राण, चतुष्कोण मय, त्रिशक्ति सहित	कपाली पुरुषोत्तम	सुमुखेश्वरी वसुधा	काण्डल्य	अतिकृति	धूम्रार्चि	क्षुधा
र	दक्षिणस्कंध भुजंगेश अग्नि	रक्तविद्युत	चतुर्भुज त्रिकोण पक्ष		मेष		कुण्डलीद्वययुक्त, पंचदेव पंचप्राणात्मक, त्रिशक्ति आत्मादि तत्त्व युक्त	भुजंगेश बली	रेवती परा	काण्डल्य	अतिकृति	ऊष्मा	क्रोधिनी
ल	पिनाकी देव राज वज्र पृथ्वी वामस्कंध	पीत केशर	चतुर्भुज चतुष्कोण कमल		गजेन्द्र		कुण्डलीत्रय युक्त, पंचदेव, पंचप्राणमय, त्रिशक्तियुक्त, सम्पूर्ण रत्न प्रदाता	पिनाकी यज्ञानुज	माधवी परायणा	दांडायन	उत्कृति	ज्वालिनी	क्रिया
व	तालु, खड्गीश जल	श्वेत	द्विभुज		मकर		कुण्डली स्वं आत्ममयोमय पंचदेव, पंचप्राणमय त्रिशक्ति सहित	खड्गीश बाल	वारुणी सूक्ष्मा	जातायन	दण्डक	ज्वालिनी	उत्कारी
श	वक	स्वर्ण	द्विभुज		कमल		कुण्डली तत्त्व युक्त पंचदेव, पंचप्राणमय, त्रिशक्ति, आत्मादि तत्त्वों सहित	वक वृषघ्न	वायवी संध्या	लाट्यायन	दण्डक	विस्फुलिंगिनी	मृत्यु
ष	श्वेत	कृष्ण	द्विभुज अष्टकोण			सहस्त्र योजनमान	सर्वदेवमय, त्रिगुण त्रिशक्ति युक्त, सुधा निर्मित विग्रह, आत्मादि तत्त्व युक्त	श्वेत वृष	रसोविदारिणी प्रज्ञा	जय	दण्डक	सुश्री	पीता
स	भृगु	श्वेत	द्विभुज		हंस	कोटि योजन	परात्पर शक्ति बीज कुण्डलीत्रय युक्त, पंचदेव, पंचप्राणमय	भृगु सिंह	सहजा प्रभा	जय	दण्डक	सुरूपा	श्वेता
ह	नकुली व्योम वर्णान्त	श्वेत	त्रिभुज चन्द्रशेखर				कुण्डलीत्रययुक्त, पंचदेव, पंचप्राणी, त्रिगुण त्रिशक्ति युक्त, चतुर्वर्ग प्रदाता	नकुली सिंह	लक्ष्मी निशा	जय	दण्डक	कपिला	अरुणा
क्ष	ब्रह्मरंध्र संवर्तक कालाग्नि मूलवर्णान्तक	रक्तचंद्र सदृश, मणिप्रभ	दशबाहु		भूबिंब शैल		चतुर्वर्ग पंचदेव पंचप्राणमय, कुण्डलीमय, आत्मादि तत्त्व युक्त	संवर्तक नृसिंह	माया विक्रुता	माण्डव्य	दण्डक	कव्यवहा	अनन्ता

प्रस्तुत तालिका 'कामधेनु तन्त्र, 'वर्ण वीज प्रकाश, 'शारदा तिलक एवं उसकी पदार्थादर्श टीका,' 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य' आदि ग्रन्थों के आधार पर है। इस विवरण के पीछे एक ही भावना रही कि शब्द के उपासक उसकी विराट्ता की एक झलक देख लें। यद्यपि यह विवरण झलक दिखाने का काम नहीं करता फिर भी इससे शब्द के परम स्वरूप और साधनागम्य रूप का अनुमान होता है तथा हम यह समझ पाते हैं कि प्रत्येक अक्षर मन्त्र है, उसका छन्द है, रूप है, ऋषि है, शक्ति है, देवता है। संकेतक के अन्तर्गत जो संकेत हैं वे भूतलिपि न्यास अथवा वर्णों से सर्वांग न्यास करते समय जिन अंगों के लिए नियत हैं, वे उनके दृश्यसंकेत हैं। दूसरे संकेत में रुद्र दैवत्य (जो देवता शीर्षक के अन्तर्गत प्रथम पंक्ति में हैं, दूसरी पंक्ति में जिस देवता का नाम लिखा है वह विष्णु दैवत्य है किन्तु तन्त्र शास्त्र में रुद्र दैवत्य को ही प्रयोग विषय वनाया गया है) है।

इन संकेतों के अतिरिक्त कुछ वीज मन्त्रों के लिए निर्धारित संकेत भी हैं। जैसे—**'क्रों'** के लिए अंकुश, **'हुम्'** के लिए क्रोध **'ओम्'** के लिए त्रितत्त्व, वेदादि, प्रणव, तार, ध्रुव, और विष, **'ह्रीम्'** के लिए लज्जा, रुद्रजाया, मायावीज, भुवनेशी वीज, और शक्ति, **'फ्रेम्'** के लिए राव, **'हुम्'** के लिए चतुष्कल, **'स'** के लिए इन्दु, जीव **'ह'** के लिए अर्क, **'हां'** के लिए प्रासाद वीज, **'ऐं'** के लिए वाग्भव वीज, **'हं'** के लिए शिव, **'सः'** के लिए शक्ति, **'हंस'** के लिए अजपा, **'स्वाहा'** के लिए द्विठः या वह्नि जाया। इनके अलावा अगणित पारिभाषिक शब्द हैं जैसे कामवीज, श्रीवीज, मायावीज आदि जो तत्तद् ग्रन्थों के पढ़ते समय उन्हीं ग्रन्थों में प्रकाशित किए मिल जाते हैं। सामान्य पद्धति यह रही है कि जो मन्त्र है या जिस देवता का मन्त्र है उसके प्रथमाक्षर के अनुस्वार—लगाने से वह उसका वीज मन्त्र वन जाता है जैसे रामाय नमः के पहले **'रां'** लगाने से यह इस रामाय नमः का वीज हो जाता है। किसी भी मन्त्र के पहले वीज मन्त्र लगाने ने वह अनुप्राणित भी हो जाता है और उसकी शक्ति में वृद्धि भी हो जाती है।

मन्त्र रचना के लिए तन्त्र के अन्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट वर्णात्मक शक्ति, गुण एवं प्रभावों का वर्णन और प्रस्तुत है। इससे हम यह जान सकते हैं कि मन्त्रों में प्रयुक्त अक्षरों की निरन्तर आवृत्ति का हमारे पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? तथा उनसे क्या फल प्राप्त हो सकेगा ?

शब्द विवेचन—हमारे यहाँ शब्द को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है और उसे पूर्ण पुरुष की तरह समझा गया हैं। शब्द की विराट्ता को देख कर प्रत्येक मनीषा ने, चाहे वह किसी भी देश का हो यह कहा है कि विराट् का अवतार केवल शब्द में ही हो सकता है। शब्द ब्रह्म है, वाईवल भी यह कहती है—Word is God

शब्दों का तत्वगत वर्गीकरण इस प्रकार है—

(त, द, ट, ड, ण, ल, लृ, उ, ऊ)—ये अक्षर पृथ्वी तत्व के प्रतिनिधि हैं।

ठ, ढ, थ, ध, न, ए, ऐ, स—ये वर्ण जलतत्त्व के प्रतिनिधि हैं।

च, छ, ज, झ, ञ, अ, र, ष, इ, ई, ऋ, ष—ये वर्ण तेजस्तत्त्व के प्रतिनिधि हैं।

क, ख, ग, घ, ङ, अ, आ, ह, श, य, ॠ—ये वर्ण वायु तत्त्व के प्रतिनिधि हैं।

प, फ, ब, भ, म, ओ औ, अं, अः—ये वर्ण आकाश तत्त्व के प्रतिनिधि हैं।

समीक्षा—उपर्युक्त वर्गीकरण से हमें कई विशिष्ट तथ्य समझ में आते हैं—पृथ्वी और जल तत्त्व एक दूसरे से बड़े प्रगाढ़ रूप में जुड़े हुए हैं। ज्योतिष में तत्त्वों की मित्रता और शत्रुता का विवेचन करते समय पृथ्वी और जल तत्त्व को मित्र माना जाता है यह बात प्रस्तुत वर्गीकरण में स्पष्ट हो गई है। तवर्ग और टवर्ग के वर्ण (अक्षर) दोनों तत्त्वों में बँटे हुए हैं।

मित्रता और शत्रुता अथवा निकटस्थता और दूरस्थता का यह अर्थ नहीं है कि इनमें किसी प्रकार का संबंध है ही नहीं। संबंध तो शत्रुता के बावजूद भी है कोई भी तत्त्व एकाकी रूप में नही है, इनमें जन्य जनक और भक्ष्य भक्षक का संबंध रहता ही है। आकाश में पृथ्वी तत्त्व भी है तो पृथ्वी में आकाश तत्त्व भी। अन्तर यही है कि पृथ्वी में पृथ्वी की तन्मात्रा तीव्र रूप में विद्यमान रहती है और आकाश या जल में इनकी अपनी तन्मात्रायें प्रबल रूप से रहती हैं।

ऊपर जो अक्षर लिखे गये हैं उनमें स्वर लगाकर लिखा गया है जबकि मूलतः ये स्वरहीन (हलन्त) रूप में हैं।

ए ऐ और ओ औ वृद्धिगत रूप हैं अ और इ मिलकर ए, अ और ए मिलकर ऐ, अ और उ मिलकर ओ तथा अ और ओ मिलकर औ बनते हैं।

आ, ई, ऊ, ॠ ये दीर्घ स्वर हैं ये वृद्धि सम्पन्न एवं दीर्घ स्वर भी अपने स्वतंत्र अस्तित्व एवं स्वरूप के कारण भिन्न माने जाते हैं इसलिये ए के स्थान पर अ और इ नहीं लिखा जा सकता। ए का यह रूप संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार संधि करने पर बनता है।

लिंग विभाजन—पुल्लिगों में अ, उ, ऊ, ऐ, ओ, औ, अं कवर्ग के तीन प्रारंभ के वर्ण (क, ख, ग) ज, झ, टवर्ग के आदि के चार वर्ण (ट, ठ, ड, ढ) पवर्ग के प्रथम तीन वर्ण (प, फ, ब) त, थ, ध, य, स, ष और क्ष माने जाते हैं।

स्त्रीलिंग में आ, ई, च, छ, ण, ङ, द, त्र, व, ल और ह की गणना की जाती है।

नपुंसक लिंग में इ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, अः, घ, भ, य, र इन वर्णों को माना जाता है।

संस्कृत व्याकरण में शब्दों का लिंग विभाजन इस मर्यादा को मानता है। कोई भी आकारान्त शब्द स्त्रीलिंग नहीं है, कोई भी आकारान्त पुल्लिग नहीं हैं (ईकारान्त भी) और अः अन्तवाला नपुंसक लिंग ही है। दूसरे शब्दों में उभयनिष्ठता चल सकती है।

अब हम प्रत्येक अक्षर का विश्लेषणात्मक परिचय कर रहे हैं।

अ—अकार अनादि है, शक्ति का सूचक है और ज्ञान का स्वरूप है। विश्व की अधिकांश भाषा (वर्णमालाओं) का प्रारंभ इसी से होता है संस्कृत का 'अ, इ, उ, ण' प्रत्याहार, हिन्दी का—अ, आ, इ, ई उर्दू का—अलिफ, बे, पे अंग्रेजी का ए, बी, सी, डी जैसे प्रारंभिक वर्ण अकार से ही सम्पन्न हैं या अकार स्वरूप ही हैं।

आ—आकार माया बीज है, निराशा दूर कर आशा का संचार करने वाला,

धन प्रद, ख्याति एवं यश देनें वाला तर्क व बुद्धि की शक्ति को तीव्र करने वाला है।

इ—इकार अग्नि वीज है, कठोर कार्यों में बाधा उत्पन्न करता है और सरल वा मृदु कार्यों में सिद्धि प्रदान करता है, रजोगुणी एवं धनप्रद है, गति का सूचक एवं प्रवर्तक है।

ई—ईकार में शक्ति का आघात सहने की शक्ति कम है इसलिये कम शक्ति वाला है, गतिरोधक, आवरक, ज्ञानवर्धक और कार्य में सिद्धि देने वाला है, अमृत बीज और मोहक है।

उ—उकार में शक्ति को उद्दीप्त करने की अद्भुत क्षमता है, मारण प्रयोग में इसको वलपूर्वक झटका देकर वोलने से मारण करने वाला हो जाता है, उच्चाटन का वीज है और विखण्डन करने वाला है।

ऊ—ऊकार में सम्मोहक एवं उच्चाटक शक्ति है इसलिये यह सम्मोहन और उच्चाटन का वीज है, कार्य का विघात करने की इसमें विशिष्ट योग्यता है, विघटन और विक्षेप इसके कार्य हैं।

ऋ—ऋकार विपुलता एवं सम्पन्नता का सूचक है इसलिये सफलता देनेवाला है और ऋद्धि का वीज है, शुभ कर्मों में यह त्वरित सिद्धि प्रदान करता है।

लृ—लृकार को संस्कृत में, विशेषकर मन्त्र शास्त्र में स्वतन्त्र स्वर के रूप में माना जाता है, यह आत्मज्ञान कराने में सहायक, लक्ष्मी वीज का प्रेरक है, व्यक्ति को अन्तर्मुंख वनाता है और सत्य की ओर उन्मुख करता हैं।

ए—एकार अपने आप में निश्चल है किन्तु गति का सूचक है पुष्टिकर, वृद्धिकर और अनिष्टनाशक वीजों का मूल है।

ऐ—ऐकार विद्युत् की ऋणात्मक धारा को तीव्र करता है। पुष्टि और वृद्धि करता है, कठोर एवं कष्टसाध्य कामों को भी जल्दी ही सिद्ध करता है, वशीकरण कार्य के वीज का उत्पादक है।

ओ—ओकार अभीष्ट एवं मन को प्रीतिकर वस्तुओं की प्राप्ति का बीज है, लक्ष्मीप्रद, देहकान्तिवर्धक और युवा बनाये रखने वाला है, उदात्त स्वर में बोलने पर कठिन कार्य का साधक है।

औ—औकार कार्य में शीघ्र सफलता प्रदान करने वाला, मारण और उच्चाटन कार्य के वीजों में प्रमुख है।

अं—अंकार शक्ति को सहनीय अतएव कोमल रूप में प्रकट करता है, स्वयं में शून्य का प्रतीक है और स्वतंत्र शक्ति से रहित है।

अः—अःकार शान्तिकर कार्यों के वीजों में मुख्य है और स्वतन्त्र रूप से कार्य में सिद्धि प्रदान करने की शक्तियुक्त है।

क—ककार काम वीज का मूल एवं प्रेरक है, शक्ति बीज है, सन्तानप्रद, सुखकारक, वृद्धिकर एवं प्रभाव उत्पादक है।

ख—खकार स्वयं में आकाश तत्त्व का बीज है और उच्चाटन बीज का जनक है, कार्य सिद्धि की अमोघ क्षमता से सम्पन्न है।

8956

ग—गकार [illegible] और विकर्षण कार्यों में सफलता प्रदान करता है, माया बीज के साथ जोड़ने से उसकी शक्ति को बढ़ाता है।

घ—घकार स्तम्भन बीज है, मारण और सम्मोहन के वीजों का जनक और विघ्न विनाशक है।

ङ—ङकार विनाशक कार्यों का साधक एवं विध्वंसक वीजों का उत्पादक है, शत्रु नाशक है।

च—चकार उच्चाटन वीजों का प्रेरक एवं उत्पादक है, खण्ड शक्ति का प्रतीक एवं विकलांग है।

छ—छकार बंधन कारक है, अल्पशक्ति का उत्पादक होने के कारण सरल कार्यों का साधक है, जल तत्त्व के बीजों का उत्पादक है और शक्ति का विनाशक है।

ज—जकार स्वास्थ्यदायक एवं रोग नाशक है, हमारी स्वाभाविक शक्ति में वृद्धि करने वाला है, नये कार्यों में सफलता प्रदान करता है और आकर्षण बीज का उत्पादक है।

झ—झकार लक्ष्मी वीज का उत्पादक, शक्तिवर्धक, कार्य साधक है। इसमें रेफ जोड़ने पर अधिक सामर्थ्य आ जाती है तथा रोग शामक वन जाता है।

ञ—ञकार स्तंभन, मोहन और माया वीज का उत्पादक है, आत्म साधन का अवरोधक एवं कार्य साधक है।

ट—टकार अग्निवीज है, मारण-विध्वंसन-उच्चाटन जैसे कार्यों में सफलता देने वाला है।

ठ—अग्नि बीज है और ट से अधिक उग्र है। अशुभ कार्य साधक है, अशान्ति उत्पन्न करने वाला है, विखण्डन और विनाश का कारक एवं कठोर कार्य साधक है।

ड—डकार निकृष्ट कार्यों में सिद्धि देने वाली अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है। अचेतन-जड़-क्रिया में सफलता प्रदान करता है, निकृष्ट कोटि के व्यवहार और साधन पद्धति से तदनुरूप कार्यों में सफलता प्रदान करता है। शक्ति की धारा को नियामक रूप में प्रवाहित करता है।

ढ—ढकार मारण वीजों में प्रमुख है, शक्तिप्रद एवं शक्ति के आवेश का कारक है किन्तु ठकार की तरह अशान्तिकारक है।

ण—णकार शक्ति का उद्दीपक, प्रकाशक एवं शांति का प्रतीक है। मारण विध्वंसन के वीजों का उत्पादक है और आकाश बीजों में प्रमुख है।

त—तकार आकर्षण वीज है, शक्ति का संचारक व उत्पादक है, विद्या वीज के साथ जोड़ने पर सब तरह की सफलता प्रदान करता है।

थ—थकार शुभ कार्यों में सफलता प्रदान करता है, श्री वीज का प्रेरक व सहकारी है तथा स्वर मातृकाओं के साथ सम्मोहन कारक रहता है।

द—दकार आत्मविश्वास और दोनों प्रकार की विद्युत् का उत्पादक है, वशीकरण वीज का मूल और कर्मचक्र का विनाशक है।

ध—धकार माया वीज का उत्पादक है, जिस प्रकार के वीज के साथ इसे

संयुक्त किया जाता है वैसा ही कार्य साधक वन जाता है।

न—नकार कोमल कार्यो का साधक है, जल तत्त्व का प्रवर्तक है, आत्मनियन्त्रणं करने में सहायक बनता है, आत्मसिद्धि का सूचक है।

प—पकार सव प्रकार के कामों में सफलता प्रदान करता है, जलतत्त्व का उत्पादक और प्रेरक है, परमशक्ति को प्राप्त कराने वाला है।

फ—फकार महत्त्वपूर्ण कामों में सफलता प्रदान करता है रकार और स्वर से युक्त होने पर विनाशक कार्यो में सफलता प्रदान करता है, विघ्नों का विनाशक है जल तत्त्व और वायु तत्त्व का सूचक है, (फट् के रूप में) मारण और उच्चाटन कार्यों का साधक है।

ब—वकार अनुस्वार युक्त (वं) होने पर विघ्न निवारक वनता है, सिद्धि प्रदान करता है, संयम शक्ति वढ़ाया करता है।

भ—भकार लक्ष्मी वीज का विरोधी है एवं सात्विक कार्य का अवरोधक है, विघ्न निवारण न करके साधना में विघ्न उत्पन्न करता है, मारण और उच्चाटन कार्यों में सफलता प्रदान करता है, मधुर और कर्कश शब्दों के साथ रहने पर अनेक प्रकार के कार्यों में सफलता प्रदान करता है।

म—मकार सन्तान प्राप्ति के कार्यों में सहायक रहता है भौतिक और अभौतिक कार्यों में सफलता प्रदान करता है।

य—यकार इच्छित कार्यो में सफलता प्रदान करता है। मन को एकाग्र करने में सहायक है, शुद्ध और सत्वगुणी होने के कारण सात्विक कार्यो में सफलता प्रदान करता है, विछुड़े व्यक्तियों को मिलाने के प्रयोग में सफलता देता है, मनः शान्ति उत्पन्न करता है।

र—रकार शक्ति का संचारक, उत्पादक और वर्धक है, अग्नि तत्त्व का वीज है, मुख्य-मुख्य वीजों का उत्पादक है, कार्य में सफलता देने वाला है।

ल—लकार लक्ष्मी वीज का समानधर्मा है, मंगल कारक है और सांसारिक सम्पत्ति प्रदान करने वाला है।

व—वकार भूत प्रेतों द्वारा पहुँचाई जाने वाली पीड़ा को दूर करता है, देह व्याधियां नष्ट करता है, विपत्तियों से वचाता है, इस अर्थ में स्तम्भन कारक हैं, सरस्वती वीज है सिद्धिदाता और आकर्षण करने वाला है।

श—शकार निरपेक्ष है, अकेला रहने पर निरर्थक है, शान्ति पुष्टि कारक है और सामान्य वीजों का मूल है।

यह विवेचन विशुद्ध वर्णों का था। किसी भी व्यंजन में कार्यानुसार स्वर, अनुस्वार, रेफादि को जोड़ कर वीज मंत्र बना लिए जाते हैं। वीजों पर विस्तृत विवेचन करने से पहले हम कुछ प्रचलित और विशिष्ट वीजों को जान लें क्योंकि कई बार मन्त्र औ[illegible] शास्त्र की पुस्तकों में वीज मन्त्र को न लिखकर मायावीज, कामवीज जैसे [illegible]ाते हैं। सारे वीजों का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। आवश्यक और प्रसिद्ध [illegible]विवरण ही यहां दिया जा रहा है।

ओम्—कामबीज, भवबीज, तेजोबीज, ऐं—वाग्भवबीज, लूं—कामबीज, क्लीं—लक्ष्मीबीज, क्रीं—शक्तिबीज, श्रों—कीर्तिबीज, ह्लीं—कल्याणबीज, क्षीं—शान्तिबीज, हं—मंगलबीज, ह्रूं—विद्वेषण एवं रोषण बीज, ह्रां—मायाबीज, प्रों, प्रीं—स्तम्भन बीज, ब्लूं—द्रावणबीज, क्लूं—आकर्षणबीज, रं—ज्वलनबीज, हं—आकाश बीज, वं वायुबीज, स्वीं—अमृत बीज, क्षां क्षीं क्षों क्षं क्षः— रक्षा, कल्याण और सब प्रकार की शुद्धि करने के बीज। इन बीजों के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है—

"हलो बीजानि प्रोक्तानि स्वराः शक्तय ईरिताः।"

अर्थात् स्वर, शक्ति के प्रतीक, प्रेरक और उत्पादक हैं स्वर हीन वर्ण (हल्) बीज हैं। बीजों में शक्ति का संयोग होने पर ही पूर्णता आती है। अन्यत्र लिखा है—

'अकारादि क्षकारान्ताः वर्णाः प्रोक्तास्तु मातृकाः।

अ से क्ष तक के वर्ण मातृक कहलाते हैं इनमें स्वर स्वर—मातृका कहे जाते हैं।

यह वर्णों का मूल रूप था, जिन वर्णों के लिए विशेष प्रकार के कामों में सफलता देने की शक्ति का उल्लेख किया गया है वे निश्चय से उन कार्यों में सफलता देते हैं क़िन्तु सामान्यतया इन हलन्त अक्षरों या बीजों का उच्चारण हम नहीं कर पाते, अत्यन्त परिश्रम और साधना करने पर ही किसी अक्षर को स्वर रहित अवस्था में बोलने की स्थिति आती है वह भी कण्ठ से नहीं केवल मानसिक स्तर में ही।

मंत्रों की रचना करने का जिनको अधिकार है वे कार्यविशेष के अनुसार प्रचलित मंत्र में संशोधन करने के लिए अधिकृत हैं किन्तु यह शक्ति बहुत प्रयत्न करने पर ही मिला करती है। जैसे आयुर्वेद में प्रत्येक रोग के लिए औषधियों के नुस्खे हैं किन्तु मर्मज्ञ वैद्य रोगी की स्थिति और आवश्यकता को देखते हुए उन प्रचलित नुस्खों में परिवर्तन(कोई औषधि कम करने या मिलाने जैसा संशोधन)कर दिया करता है वैसे ही शब्द शास्त्र के निघण्टु का ज्ञाता व्यक्ति परिवर्तन या परिमार्जन कर सकता है। शावर मन्त्रों में यह सिद्धांत काम नहीं करता उनका आविष्कार सिद्ध अवस्था में, वामाचारी अनुष्ठान के चरम क्षणों में किया गया है इसलिए वे रूढ़ हैं। बीजों का यह प्रभाव और गुण-ज्ञान विज्ञान में भौतिक शास्त्रीय पद्धति की तरह किया गया अनुसंधान है इनमें विविध एवं अन्य बीजों का सम्मिश्रण और संयोजन रसायन विज्ञान की तरह कार्य करता है। सम्मिश्रण के आधार पर रचित शब्द रसायन विज्ञान की यौगिक वस्तुओं की तरह अपने मूल (आधार भूत) पदार्थों के गुणों से अतिरिक्त एक स्वतन्त्र रूप, आकार गुण और प्रभाव युक्त अस्तित्व ग्रहण कर लेते हैं।

भाषा में प्रयुक्त शब्द रसायन शास्त्र द्वारा निर्मित उपकरणों की तरह होते हैं जिनमें परिवर्तन करने की और परिवर्तित वस्तुओं में अद्भुत क्षमता प्रदान करने की योग्यता रहती है। वास्तव में नये निर्माण की परम्परा रसायन विज्ञान का ही चमत्कार होता है। भाषा का विकास भी संयोजन और सम्मिश्रण का चमत्कार है जो भाषा को स्थूल जगत् से जोड़ देता है अथवा दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि शब्द तत्त्वबोध की अपेक्षा स्थूल प्रतीकों के संसूचक बन जाते हैं।

मन्त्रों में और भाषा में यही अन्तर है। मन्त्र में वर्णों का चयन करके उनसे

संभावित फल एवं प्रभाव का वर्गीकरण किया जाता है, मन्त्रों के प्रतीक हमारी काम-नाओं के संवाहक वन जाते हैं। मन्त्र का जप हमें स्थूल से विमुख कर सूक्ष्म में ले जाता है, बाह्य को हम भीतर में अनुभव करते हैं इसीलिए वे जपे जाते हैं, वार-वार वोले जाते हैं भाषा में अगर यह विधि अपनाई जाय तो शब्द अपना महत्त्व खो देते हैं।

वैसे मन्त्रों में या साधना में ये दोनों ही विधियां प्रदर्शित की गई हैं। हम दुर्गा-सप्तशती के तेरह अध्यायों में विभाजित तीन चरित्रों का जो फल स्तुतिमूलक उपाख्यान में सात सौ श्लोकों में जान पाते हैं वह "ऐं ह्रीं क्लीं" इन तीन बीज मन्त्रों में निहित है आशय यह कि सम्पूर्ण सप्तशती के पाठ से जो हम प्राप्त कर सकते हैं वह मात्र इन तीन बीजों से पाया जा सकता है किन्तु पाठ और जप में अन्तर है। पाठ उच्च स्वर में किया जाता है जबकि जप में इन्द्रियों का वाह्य व्यापार या वाहरी क्रियायें वन्द रहती हैं।

बीज मन्त्रों के इन सूत्रों को हम एक शब्द पर घटित करके देखें जिससे ये सूत्र स्पष्ट हो जायेंगे। हमारे सामने 'देवता' शब्द है। व्यवहार में यह शब्द सामान्य का (देवता मात्र का) सूचक है तो भी इस नाम से जो प्रतीक वनता है उसमें क्या गुण होगा यह हम जान जायेंगे। देवता शब्द में छः अक्षर हैं द्, ए, व अ, त् आ। हरेक व्यंजन के साथ एक स्वर जुड़ा हुआ है।

ऊपर दिए गए विवेचन में द् आत्मशक्ति का विकास करने वाला, आकर्षण कारक, कर्मफल का नाशक माना गया है, ए अरिष्ट निवारक, पोषक, पूर्ण और निश्चल रहते हुए गति का प्रेरक है, व् सिद्धिप्रद, राक्षसी उत्पातों से वचाने वाला, विपत्ति विना-शक और चमत्कारी है, अ आत्मा के एकत्व और ज्ञान का सूचक शक्ति का प्रतीक एवं प्रेरक है त् शक्ति का प्रेरक और उत्पादक, सिद्धिप्रद है तथा आ यश एवं धन का दाता वुद्धि को निर्मल करने वाला और शक्ति का प्रकाशक माना गया है।

देवता शब्द समग्र रूप से इन सारे गुणों का एकीकृत रूप है, ये सारे गुण जहाँ सामूहिक रूप में रह सकते हैं वहीं देवता का रूप है।

बीज मन्त्रों में यही विधि प्रयुक्त हुई है और मन को एकाग्र करके हम अपने आपमें इन गुणों का अनुभव और विकास किया करते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि हमारे में शक्ति के अनन्त स्रोत को सहने की प्रकट करने की क्षमता को समझने का सूत्र हैं—ये वर्ण।

प्रायोगिक पक्ष

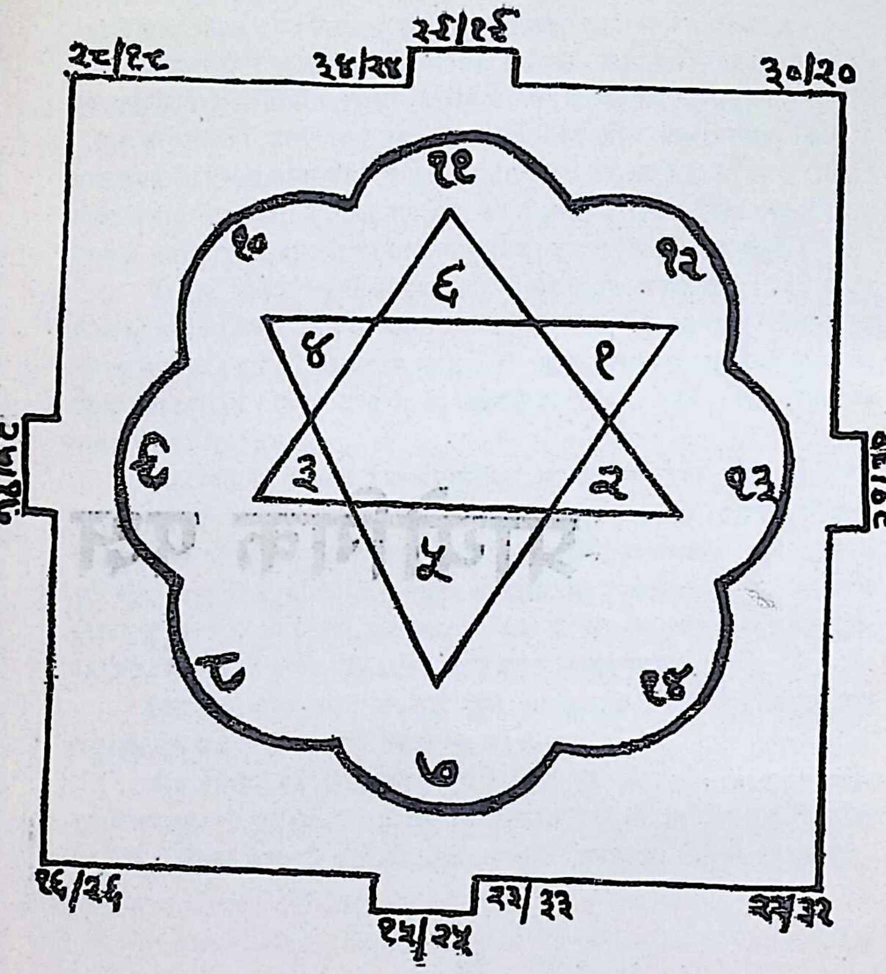

यंत्र की सामान्य पद्धति

शास्त्रीय व्यवस्था

तन्त्र, उपासना में मध्यक्षेत्र है क्योंकि इसमें किए जाने वाले अनुष्ठान में मन्त्र भी है, औषधि भी है। तन्त्र शब्द का एक अर्थ होता है—विस्तार। विस्तार किसका ? मन्त्र का मनन से प्राप्त ज्ञान का अर्थात् यहाँ क्रिया प्रखर रूप से व्यक्त होती है, विस्तारित होती है। संसार शक्तिपरिचालित अतएव क्रियामय है। शक्ति कभी शान्त-निष्क्रिय नहीं होती। तान्त्रिक प्रयोगों में मन्त्र का प्रयोग अबाध ही नहीं आवश्यक रूप से भी किया जाता है। मन्त्र की रचना करने में बीजों एवं शब्दों का संयोजन किस निमित्त तथा किन सिद्धान्तों पर किया जाता है—इस विषय पर चिन्तन पक्ष में पर्याप्त विचार हो चुका है। यहाँ हम संक्षेप में मन्त्र जप में हमारे अथवा साधक के प्रयास और उसके फल पर विचार करेंगे।

जप में वाचिक, उपांशु और मानस ये तीन प्रकार बताये गए हैं। स्तोत्र पाठ को श्रव्य, ध्वनि में बोलने का और मन्त्र को मानस स्तर पर जपने का आदेश हमारे शास्त्रों में है। स्तोत्र को विद्या भी कहते हैं, जो मन्त्र शत-सहस्राधिक शब्दों का हो जाता है वह विद्या कहलाता है। मन्त्र में जितने कम अक्षर होते हैं उसका पुरश्चरण करने के लिए उतनी ही अधिक मात्रा में और अधिक अक्षर वाले मन्त्र (विद्या) का कम संख्या में जप किये जाते हैं।

मानसिक जप क्या है ? जप का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। जप इसलिए किया जाता है कि निहितशक्ति (पोटैन्सी) को व्यवहारयोग्य रूप में प्राप्त करना। भारतीय पद्धति में बारंबारता को अधिक महत्त्व दिया गया है। आयुर्वेद में किसी धातु या रत्न में रासायनिक परिवर्तन करने के लिए सौ बार, हजार बार पाक करने का विधान है जैसे सहस्रपुटी लौह भस्म, कुछ ऐसे रत्न होते हैं जिनकी भस्म बनाने के लिए अनेक बार पाक क्रिया को दोहराना पड़ता है। बारंबारता से सिद्ध भस्में कितनी उपयोगी, शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण होती हैं—यह तथ्य आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञाता अच्छी तरह जानता है। रत्न या धातु मूल रूप में प्रकृति में जिस तरह है उन्हें विविध कर्मों का साधक बनाने के लिए घर्षण, क्वथन, तापन आदि प्रक्रियाओं के माध्यम से साधित करना पड़ता है। अंगूठी या कण्ठी में जड़ा रत्न, भास्वर रूप में आने तक किन कठोर क्रियाओं से गुजरता है, तब कहीं जाकर वह इतने मोहक-मूल्यवान् स्तर को प्राप्त करता है, इससे भी अधिक जटिल एवं श्रम-साध्य प्रक्रिया में से तब गुजरना होता है जब इसकी भस्म बनती है।

यह प्रक्रिया समय, श्रम और शक्ति तो रत्नादिकों को केवल बाह्य शरीर के लिए उपयोगी बनाने में की जाती है जिसमें वस्तु को साधित करके सिद्ध वस्तु से केवल सांयोगिक फल प्राप्त किए जाते हैं। मन्त्र साधना भी ऐसी ही एक प्रक्रिया है किन्तु उसमें अन्तर इसलिए है कि उसे वस्तु शक्ति पर निर्भर न करके चुम्बकीय शक्ति से ओत-प्रोत किया जाता है। भस्म बनाने में जिस तरह पुट दिए जाते हैं मन्त्र साधना में संपुट दिया

जाता है, प्रकृति में अवस्थित वर्णों, बीजों एवं शब्दों को शोधने, तरासने, पकाने जैसी क्रियाएँ इसमें भी सम्पादित की जाती हैं पर यह अन्त:करण के लिए, अन्त:करण की साधना है इसलिए इस सारे आयोजन में भौतिक अथवा घार्षणिक ताप अथवा शक्ति का उपयोग नहीं किया जाता, सभी कुछ चुम्बकीय शक्ति से किया जाता है—शोषण, छेदन, ताडन, तापन जैसी तकनीकी क्रियाओं से मन्त्र को संशोधित किया जाता है और उसके बार-बार जप करने से, संपुट, पल्लव, न्यास, हवनादि क्रियाओं से उसकी शक्ति को अविकल रूप से सिद्ध अवस्था में लाया जाता है।

भौतिक शास्त्री कहते हैं—मानसिक जप में ध्वनि उत्पन्न नहीं होती। यह मस्तिष्क को मात्र आभासित होती है। संभवत: प्रत्यक्षविश्वासी अभी अविकसित अवस्था में हैं, उनकी यान्त्रिकता जब तक इसको सिद्ध नहीं कर देगी तब तक वे आभास रूप में ध्वनित शब्दों को वास्तविक नहीं मानेंगे। हमारे शरीर जैसा सजीव, सप्राण, आत्मनिर्भर यन्त्र ही इसकी सूक्ष्म क्रियाओं को नाप सकता है और ऐसा यन्त्र बनाते ही भौतिकविज्ञान आध्यात्मज्ञान हो जाता है। हमारे जीवन में भी इस आभासिक ध्वनि का चमत्कार हम अनुभव करते हैं। किसी व्यक्ति के प्रति प्रेमाभिभूत होकर हम बिना मुँह से बोले भी प्रेम की, स्नेहासक्ति की अभिव्यक्ति स्पष्ट एवं प्रबल रूप से कर जाते हैं तो किसी के प्रति घृणा या रोषाविष्ट होकर हमारी विरक्ति को शब्द—श्रवणीय शब्द—के बिना भी प्रकट कर लेते हैं। यह सब उस आभासिक ध्वनि का ही चमत्कार है जो मन की वैद्युतिक शक्ति से विस्तारित एवं प्रक्षेपित की जाती है अन्यथा घृणा या द्वेष के लिए मूलत: हमारे अन्त:करण में रजतम (गुण) की मिश्रित धारा उत्पन्न होती है, उसमें किसी व्यक्ति का नाम नहीं रहता। मानसिक स्तर पर आने के बाद उसमें व्यक्ति का नाम जुड़ता है, ऐसे ही प्रेम में सत्वरज मिश्रित धारा उत्पन्न होती है। ये गुणात्मक धाराएँ इनीशियल इनर्जी से उद्भूत होती हैं जो मन के संस्पर्श से वैद्युतिक शक्ति से आविष्ट भी होती हैं और व्यक्ति विशेष के प्रति प्रक्षेपित भी होती हैं तथा शब्द का वर्णात्मक एवं सूक्ष्म आकार भी ग्रहण करती हैं इसलिए मानसिक जप में आभास नहीं, वास्तविक शब्दावृत्ति होती है। इस शब्दावली का तरंगदैर्घ्य साधक की भावना पर आधारित होता है। भावना में मन्त्र, देवता, अभीष्ट कार्य के प्रति साधक की उत्कटता, एकाग्रता व निष्ठा इन सबका समावेश रहता है। आवर्तनशीलता (फ्रीक्वैंसी) शब्दों की ही रहा करती है। रेडियो, इलैक्ट्रोमैग्नेटिक तरंगों पर ध्वनि को इम्पोज् करना जिस तरह रेडियो सम्प्रेषण का सिद्धान्त है उसी तरह भावना पर मन्त्र के शब्दों को आरूढ़ करना ही जप है। रेडियो में संग्राही उपकरण के माध्यम से उन तरंगों को ग्रहीत व ध्वनि में रूपान्तरित किया जाता है—यहाँ यह आवश्यक नहीं कि जिस व्यक्ति पर प्रयोग किया जा रहा है, वह संग्राही अवस्था को प्राप्त हो ही, इसलिए मन्त्र के प्रयोग में अधिक सामर्थ्य होती है, भले ही वह रेडियो जितनी व्यापक न हो।

शब्द के बाह्य विचरण एवं अभिव्यंजना में भौतिक विज्ञान एवं भारतीय दार्शनिकों में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। वैशेषिक दर्शन, सांख्य (कारिकावली) भर्तृहरि, प्रशस्तपाद एवं अन्य व्याकरणकारों ने शब्द की नित्यता और अनित्यता,

उसके प्रकटीकरण एवं विलयन आदि के विषय में बहुत विस्तार से विचार किया है। शब्द वस्तुतः आकाश (ईथर) का गुण है यह तथ्य हजारों वर्ष पहले भारतीय वैज्ञानिक जान चुके थे। शब्द की उत्पत्ति (फिशन और फ्यूसन) विखण्डन और संलयन दोनों से होती है जैसे बाँस को चीरने और ताली बजाने, इसी में (कण्डन्सेसन और रिफ्रैक्शन) संग्रहण और अपवर्तन जैसी स्थितियाँ भी हैं। यह दूसरी बात है कि संलयन जैसी क्रियाएं बहुत मन्द स्तर पर जैव भौतिक (वायोफिजिक) स्तर पर होती हैं। भौतिक शास्त्र, शब्द को, अपने स्वभावानुसार स्थूल रूप में नापता है वह उसके आवर्तन और तरंगदैर्घ्य को अपने उपकरणों के माध्यम से जानता है, उसके लिए (साउण्ड) ध्वनि ही सबसे बड़ा आयाम है। भारतीय दार्शनिक शब्द को मोटे तौर पर ध्वनि और वाक् दो रूपों में मानते हैं। ध्वनि में मनुष्येतर वस्तु कारण रहा करती है और वाक् में आत्मा एवं मन का संयोग कारण रहा करता है। अंग्रेजी का स्पीच् वाक् का ही पर्याय है। तदपि मशीन कम्पनों, आवर्तनों और तरंग दैर्घ्य को ही नापा करती है, उसके लिए सभी कुछ साउण्ड है—ध्वनि और वाक् का उसकी दृष्टि में कोई अन्तर नहीं। स्थूलता के प्रति विज्ञान का यह आग्रह पुराणों के गृध्र बंधुओं—सम्पाति और जटायु—की स्थूल बुद्धि का उपाख्यान स्मरण करा देता है। उन स्थूल बुद्धियों ने सूर्य के स्थूल स्वरूप को प्राप्त करने का बालिश कर्म किया था और परिणाम में अपने पंख जला बैठे थे। सूर्य के भौतिक स्वरूप में प्रबल दाह के अतिरिक्त है भी क्या? इस समग्र वैज्ञानिक विकास की स्थूलबुद्धि और जड़पद्धति का भी किसी दिन ऐसा ही परिणाम सामने आ जाए तो आश्चर्य क्या?

भौतिक विज्ञान जिसे धमाका कहते हैं उसके लिए अधिकतर विस्फोट शब्द का हिन्दी में—व्यवहार किया जाता है, शब्द की उत्पत्ति में हम स्फोट शब्द का प्रयोग करते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से फिशन क्रिया है किन्तु हमारे सजीव देह में यह शब्द एक सुकोमल क्रिया का सूचक है जिसका अर्थ है विकास, खिलना, प्रस्फुटित होना। उद्यान में कुसुम कोरकों का विकसित होना भी चटखना कहा जा सकता है तो इस स्तर पर विकासाश्रयी क्रिया में फिशन मानने में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है।

वैय्याकरणि और तांत्रिक दोनों इस तथ्य में एकमत हैं कि शब्द, कण्ठ से निकलने के बाद स्थूल हो जाता है। जिस प्रकार मूल वस्तु (शून्य) से उत्पन्न इलेक्ट्रान आदि तत्त्व सघन से सघनतर होते हुए तत्त्वमय आकाश, वायु, तेजस्, जल, पृथ्वी स्तर पर संघटित होने के पश्चात् पुनः रूपान्तर होने की अवस्था को उन्मुख हो जाते हैं उसी प्रकार शब्द भी वैखरीवृत्ति—मनुष्य के कण्ठ से उच्चारण—को प्राप्त कर विलीन हो जाता है। स्वाभाविक है इस वैखरी वृत्ति, श्रवणीयता, के स्तर पर शक्ति का ह्रास हो ही जाता है अर्थात् इस स्तर पर शब्द की नैसर्गिक शक्ति प्रकट नहीं हो पाती और उसमें वह क्षमता नहीं आ पाती कि सूक्ष्म के माध्यम से स्थूल में परिवर्तन कर दें। भारत का प्राचीन विज्ञान शब्द के अनुसंधान और साधना का ही विज्ञान है। शब्द में अन्तर्निहित परमाणविक ऊर्जा को प्रकट व प्राप्त करने के लिए भारतीयों ने अथक परिश्रम और साधना की थी जिसके फलस्वरूप हमें मन्त्र शास्त्र का वरदान मिला है।

शब्द की विराट् शक्ति को प्रकट करने के लिए हमें शब्द के मूल स्वरूप को पहचानना पड़ता है जैसे अणुशक्ति के लिए पदार्थ के सूक्ष्मतम अंश को पहचाना जाता है। शब्द का यह स्वरूप उसके उद्भव से लेकर विकास तक की यात्रा को समझने से ग्राह्य होता है। प्रसंगानुसार हम शब्द के मूल उद्गम को तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से देखें, यह विश्लेषण करें कि हमारे कण्ठ से निर्गत होने से पहले शब्द किन अवस्थाओं और आधारों से होता हुआ इस रूप में प्रस्फुटित होता है।

तंत्र शास्त्र शब्द के उद्गम किंवा अभिव्यक्त होने के क्रम में कहता है कि भगवान् परमशिव अर्थ के प्रतीक हैं वे जब स्व-रूप में अवस्थित रहते हैं तो निष्कल रहते हैं, उस समय शब्द रूपा शक्ति भी स्वरूपस्थ रहती है किन्तु जब अर्थ व्यक्त होना चाहता है तो उसमें विक्षोभ उत्पन्न होता है और वह शक्ति की ओर उन्मुख होता है, इस वृत्ति को शब्द शास्त्र में विवक्षा कहा गया है, संस्कृत में इसके लिए बिन्दु और विसर्ग संकेतक माने गए हैं। तन्त्र शास्त्र शब्द के मूल स्वरूप के विषय में कहता है—

"परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः
बिन्दुर्नादः बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः"

परावस्थापन्न शिव शक्तिमय होकर तीन रूपों में विभाजित हो जाता है, बिन्दु, नाद और बीज। यहाँ शिव और शक्ति में कोई अन्तर है ही नहीं क्योंकि शिव शक्तिमय है और शक्ति शिवमय। वस्तुतः स्थाणुरूप की सक्रिय अवस्था ही शक्तिसंगत अवस्था है किन्तु उनके विलास का जितना विस्तार होता चला जाएगा उतना ही यह आभासिक भेद बढ़ता जाएगा। अन्यत्र कहा है—

"सोन्तरात्मा तदादेवि नादात्मा नदते स्वयम्"

अर्थात् वह अन्तरात्मा नादात्मा है और वह स्वयं ही नदता है, (नाद करता है)।

"यथा संस्थान भेदेन भूयोऽसौ वर्णतां गतः
वायुना प्रेर्यमाणो सौ पिण्डाद् व्यक्ति प्रयास्यति"

स्थान और अवस्था भेद से यह नाद करता हुआ, नादात्मा वर्ण रूप होकर वायु से प्रेरित होता है तथा पिण्ड से व्यक्ति में व्यक्त होता है।

भर्तृहरि कहते हैं—

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनोयुंक्ते विवक्षया
मनः कामायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्"

अर्थात् बोलने के लिए सबसे पहले आत्मा (शिव) में क्रिया होती है जो अर्थ रूप ही है वह बोलने की इच्छा से बुद्धि और मन से युति करता है। मन कायाग्नि (फिजिकल इनर्जी) को आघात करता है और अग्नि के कारण वायु विस्तारित होता है, वायु हृदय प्रदेश में विचरण करता हुआ मन्द स्वर उत्पन्न करता है।

यह भर्तृहरि का मत था। सभी मतों को संग्रहीत करके हम बोधगम्य रूप में शब्द की सूक्ष्म अवस्था का विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं—एक व्यक्ति जब कुछ करने की इच्छा करता है तो उसके सहस्रार में से (स्मरण रहे सहस्रार परमशिव का

धाम माना जाता है, कुण्डलिनी शक्ति वहाँ जाकर मुक्त हो जाती है जिस तरह नदी सागर में जाकर सागरमय हो जाती है वैसी ही स्थिति कुण्डलिनी की सहस्रार में जाकर होती है) सूक्ष्म तरंगें आज्ञाचक्र में से होकर सीधे मूलाधार से टकराती हैं, वहाँ से वे ऊपर की ओर उठती हैं और मार्ग में जिन-जिन चक्रों में जो-जो वर्ण, अक्षर अवस्थित हैं उनको स्पन्दित करती हुई तथा स्पन्दन से उद्भूत अक्षरों को समेटती हुई कण्ठ प्रदेश में टकराती है और कण्ठ से बाहर निर्गत होकर स्थूल रूप में वातावरण में फैल जाती है। इस क्रम में अर्थ में स्फोट होता है वर्ण संयोग से और यहीं शक्ति प्रकट हो जाती है अन्यथा अर्थमय रूप में शक्ति गौण रहा करती है। परमशिव तो वस्तुतः इन्द्रियातीत एवं ज्ञान से पर है इसलिए परमशून्य के अतिरिक्त किसी शब्देतर से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। शक्ति से संयुक्त होकर अथवा शक्तिमय अवस्था को प्राप्त करके भी वह अपने मूलभाव को छोड़ नहीं पाता इसीलिए उसे अर्थरूप कहा गया है। तन्त्र में शब्द की मूल अवस्था विन्दु, वीज और नाद को शिव, शक्ति और दोनों के सांयोगिक रूप से मानी है इस त्रिविधा स्थिति में शक्ति की प्रधानता होने पर रौद्री, ज्येष्ठा, वामा तथा शिवांश की प्रधानता रहने पर रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा की सत्ता प्रकट होती है।- शाक्तों का वामाचार यथार्थ रूप में वामा शक्ति का आचरण है और वामा है शिव शक्ति का संयोग। शब्द के विवेचन में तन्त्र शास्त्र वाक् व्यवहार में भी वामाचार को स्वीकार करता है क्योंकि अर्थ जो अपने स्वरूप में निश्चल है वह शब्द के साथ युति करके वाणी को समग्रता और सोद्देश्यता प्रदान करता है। एक वचन के अनुसार स्वर दीपक है और व्यंजन पीठ है। ग्रन्थान्तर में व्यंजनों (कादि हान्त) को योनि कहा गया है और स्वरों को विस्फारक क्योंकि व्यंजन अर्ध मात्रिक हैं जिनके लिए कहा गया है—

अर्ध मात्रा स्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः

किन्तु स्वर ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत के भेद से अपनी स्वरित शक्ति के कारण विशिष्ट स्थिति को प्राप्त हैं। नितान्त भौतिक स्वर से लेकर ज्ञान से अतीत अवस्था तक प्राप्त करने का माध्यम शब्द ही वनता है, शब्द ही परम शिव की कलात्मक अवस्था को अधिगृहीत किये हुए है। ये कलायें शब्द के स्फोट की विकासमान अवस्थायें हैं। प्रत्येक वर्ण यों तो हमारे लोक का निवास है जिसके स्वतन्त्र रूप की विशद व्याख्या हमारे तंत्रज्ञों ने की है फिर भी उसके निरन्तर उच्चारण करने से हमारे वातावरण समाज व प्रकृति में क्या अन्तर व प्रभाव पड़ेगा—इसका निर्णय मन्त्रों के स्वरूप निर्धारण का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है।

व्यावहारिक जगत् में हम जो कार्य व्यापार देखते हैं, उनको वाह्य जगत् का विषय मानते हैं किन्तु मूलतः वाह्य में हो रहा परिवर्तन पहले अन्तस् में, सूक्ष्म में हुआ करता है। जो व्यक्ति इस सिद्धान्त को समझ जाता है कि आभ्यन्तर में क्या परिवर्तन किया जाय जिससे वाह्य को अभीष्ट रूप या अवस्था दी जा सके, वह कीमियागार हो जाता है, वैज्ञानिक हो जाता है, तंत्रज्ञ हो जाता है। इस दृष्टि से मन्त्र वह सूत्र है जो सूक्ष्म के माध्यम से स्थूल को प्रभावित-परिवर्तित करता है। हम प्रयोजनपरक अनुष्ठान करते हैं इसलिए औषधि लेने और उसके पथ्य व अनुपान को यथाविधि साधने से अधिक

कुछ नहीं समझ सकते और रोगमुक्त होने पर कृतकार्य हो लेते हैं। औषधि का रहस्य निघण्टुकार, शरीरक्रियाविज्ञ ही जानता है इसलिए वह औषधि के रूप में विभिन्न रोगों से मुक्त होने के सूत्र हमें दिया करता है, यह मैकेनिज्म है, सामान्य साधक आपरेटर हुआ करता है।

शब्द की शक्ति का प्रकटीकरण अन्तर्मुखता में हुआ करता है। साधना करने का तरीका शुद्ध और सम्पूर्ण रूप से अन्तःकरण का विषय है। प्राण संचार के साथ हमारे मन की वहिर्मुखी वृति एवं संचार को संवरित एवं नियंत्रित करने पर हम मन के माध्यम से शब्द की वास्तविक शक्ति को प्राप्त किया करते हैं। जिस समय हम भौतिक विज्ञान की दृष्टि से आभास मात्र के रूप से उच्चरित शब्द को, शब्द के स्पन्दन (वाइब्रेशन्स) को सुनते हुए शब्द के मूल उद्‌गम पर (कर्णातीत तरंगों पर) पहुँचते हैं तब शब्द को पूर्ण रूप से कार्यक्षम व शक्ति सम्पन्न रूप में प्राप्त करते हैं। आज भौतिक शास्त्र यह मानने को तत्पर नहीं है कि हम अपने स्वरतन्त्र से कर्णातीत तरंगों को उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु जिन लोगों ने इन तरंगों को उत्पन्न करना सीख लिया है, उन लोगों ने मन्त्र सिद्ध कर लिया है और वे एक ही मन्त्र की सिद्धि के पीछे पूजित हो रहे हैं। यक्ष, किन्नर, पिशाच जैसे अस्तित्व भी इन कर्णातीत तरंगों की पकड़ से मुक्त नहीं हैं तो सम्मोहन से लेकर मारण जैसे कर्म भी इन तरंगों की प्रकृति-प्रभाव की सीमा में ही हैं, और तो और इनसे मृत्यु जैसी शाश्वत एवं अनिवार्य प्रकृति पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है, मार्कण्डेय जैसे उदाहरण भारत में मिल जायेंगे किन्तु विज्ञान यहाँ भी सहमत नहीं होगा। विज्ञान के आग्रह अविकल रूप से आत्मज्ञान के क्षेत्र में घटित नहीं हो सकते। संभव है, भविष्य में या तो जड़ विज्ञान आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसे दुराग्रह न रखे या ऐसी विद्या का आविष्कार कर ले जो अपनी संवेदनशीलता के बल पर विश्वासों को उनके आयाम से सिद्ध कर दे। भौतिक विज्ञान की यह यत्किंचित् संगति प्रासंगिक रूप से केवल अभिज्ञान के निमित्त प्रस्तुत की गई है, साधना क्षेत्र में इसका कोई पारमार्थिक महत्व नहीं है क्योंकि हमारी वैज्ञानिक शैली ऐलिमैन्ट पद्धति पर आविष्कृत व विकसित नहीं हुई है, वह संसार के विस्तार को पाँच तत्त्वों एवं उनके कारणभूत अन्य पंचकों को मानती है और यह सिद्धान्त कहीं भी व्याहत या अतिव्याप्त नहीं हुआ है। मन्त्र के उपासक को विश्वासजीवी होना पड़ता है और अन्धता की सीमा तक श्रद्धाभिभूत होना पड़ता है फिर उसे जो चमत्कार दिखाई पड़ता है जो अलौकिक समृद्धि हस्तगत होती है वह विज्ञान की पहुँच से परे अविश्वसनीय-सी हुआ करती है।

दोषाविष्ट और मलावृत मन में संवेदनशीलता नहीं रहती और ऐसी स्थिति में मन्त्र किंवा मन्त्र रूप देवता का प्रकटीकरण संभव नहीं हो पाता। उपासना के लिए जो व्यवस्थायें और आचरण वताये गये हैं उनका पालन करना आज के जीवन में कठिन ही नहीं उपहासास्पद-सा भी लगता है किन्तु ऐसी शिकायत करने वाले लोग किसी भी भौतिक अनुष्ठान में की जाने वाली तैयारियों और सावधानियों के प्रति कठिनता की शिकायत नहीं करते। दफ्तर में जाने वाला व्यक्ति जूतों को चमकाने, तंग पतलून, कोट, टाई आदि पहनकर बिल्कुल आधुनिक वनने में जो स्वांग रचता है या विजली का काम

करने वाला मिस्त्री जिस तरह के वस्त्र, दस्ताने एवं उपकरणों का ढेर लेकर चलता है उसे उपहास का पात्र नहीं वनाया जाता। साधक को इस सारी दुर्बलता से ऊपर उठ कर साहस व निष्ठा के साथ सामना करनी पड़ती है तभी वह आत्मजयी होता है, शक्ति के स्रोत तभी उसमें खुलते हैं।

मंत्र की साधना करने के लिये पहले हम मंत्र के संबंध में जान लें। मंत्र वर्ण या पद समूह को कहते हैं। वर्ण से आशय बीज से है साधक के लिये मंत्र-शक्ति पुरुष का रूप रहा करता हैं इसलिये जैसे पुरुष में दोष होते हैं उसी तरह यंत्र में भी संघटनात्मक अथवा रचनात्मक दोष होते हैं। दूषित मंत्र सिद्धिप्रद नहीं होता।

मंत्रदोष

छिन्न—जिस मन्त्र में आदि मध्य और अन्त में 'ह्रीं' अथवा य दीर्घ स्वर युक्त हो अथवा ये ही वीज तीन, चार, पाँच वार हों वह छिन्न कहलाता है।

रूद्ध—जिन मंत्रों में 'ल' कार आदि मध्य व अन्त में हो वहाँ रूद्ध दोष होता है।

शक्तिहीन—जो मंत्र ओम्, ह्रीम्, हुम्, श्रीं अथवा फ्रं से रहित हों वे शक्तिहीन होते हैं।

पराङ्मुख—मन्त्रों में प्रारंभ में ह्रीं, मध्य में क्लीं और अन्त में क्रों हुआ करता है।

बधिर—हं स: (अजपा मंत्र) जिनके आदि, मध्य या अन्त में न हो वे बधिर मंत्र होते हैं।

अन्ध या नेत्रहीन मंत्र—पाँच अक्षर का किन्तु 'र' 'ह' या 'स' से रहित हुआ करता है। नेत्रहीन मन्त्र रोग व दु:ख को देनेवाला होता है।

कीलित मंत्र—में आदि, मध्य वा अन्त में हं, सः, हों, ऐं, फ्रं, हूम्, ह्रीं, नमः में से एक भी नहीं होता है। ग्रन्थान्तर में कीलित का लक्षण वताया है कि वीज मंत्र से रहित मन्त्र कीलित होता है। वचनान्तर के अनुसार जो अन्य वीज से आक्रान्त होता है वह कीलित कहलाता है। अन्य बीज से तात्पर्य उपरिवर्णित वीज मन्त्रों से अतिरिक्त है।

टिप्पणी—ये दोष या आगे वताये जाने वाले अन्य दोष मन्त्र को विरूप या अनुपयुक्त सिद्ध करते हैं। इनमें जिन वीजों को नियत स्थानों पर निषिद्ध माना है अथवा जिन वीजों के कारण मन्त्र दूषित हो जाता है उनका परित्याग करना ही श्रेयस्कर है, मन्त्र शास्त्र इतना विस्तृत है कि इसमें एक ही प्रयोजन के लिये अनेक मन्त्र मिल जायेंगे। जो मन्त्र सिद्ध हैं वे आर्षशक्ति के कारण दूषित होते हुए भी शक्ति सम्पन्न अतएव उपयोगी मान लिये गये हैं। समर्थ और शास्त्रज्ञ गुरू ने जिस मन्त्र का उपदेश दिया है उसके संवंध में इस प्रकार का विचार नहीं किया जाता जैसे एक कुशल चिकित्सक किसी रोगी को विष देता है तो वह भी उसके लिये हितकर रहता है। विष का

सामान्य दोष वहाँ गुणकारक हो जाता है। जैसे दो ऋण गुणित होने पर घन हो जाते हैं।

मंत्रों के अन्य दोष

१. **स्तंभित** मंत्र के मध्य में हुम्, या ल मध्य में एक वार और अन्त में दो वार होता है। स्तंभित मंत्र सिद्धि में वाधा उत्पन्न करता है।

अन्य ग्रन्थ में—वीच में इन्द्रवीज ल एक वार और अन्त से पहले दो वार न होने से स्तंभित माना गया है।

२. **दग्ध** जिस मंत्र में य रेफ (र) से युक्त होकर अन्त में आता है अथवा कहीं भी सात वार आता है वह दग्ध कहलाता है।

३. **त्रस्त** मंत्र वह होता है जिसके आदि मध्य और अन्त में 'हुम्' का प्रयोग होता है। त्रस्त मंत्र सिद्धिप्रद नहीं हुआ करता।

४. **भीत** जिसके प्रारंभ में प्रणव अथवा सः वीज न हों वे मंत्र भीत कहलाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक मंत्र में प्रणव, हं या सः में से किसी एक वीज का प्रयोग किया ही जाय। नरसिंह, गणपति विष्णु और शिव मंत्रों में, प्रणव, मंत्र के अंग के रूप में जुड़ा रहता है जिसका उपदेश ऋषियों ने यथावसर किया है किन्तु जो मंत्र विद्या (मंत्र) हैं उनमें शक्ति वीज को प्रारंभ में लगाये जाने की व्यवस्था है।

५. **मलिन** मंत्र वे होते हैं जिनके आदि मध्य और अन्त में 'म' चार वार हुआ करता है।

६. **तिरस्कृत** मंत्रों में 'द' अथवा 'हुम्' मध्य में एक वार तथा अन्त में दो बार रहा करता है। मतान्तर में—जिसके मध्य में 'द' और अन्त में दो वार 'फट्' का प्रयोग होता है वह मंत्र तिरस्कृत कहा जाता है।

७. **भेदित** मंत्र में मध्य में 'वौषट्' अन्त में वषट् तथा मध्य में 'भ्यः' दो बार होता है। मतान्तर से—प्रारंभ में ओम्, मध्य में दो बार 'फट्' तथा अन्त में 'वषट्' का प्रयोग रहता है।

८. **सुषुप्त** मंत्र तीन अक्षरों को हो किन्तु उसमें हं, या सः या प्रणव मंत्र (ओम्) न हो।

९. **मदोन्मत्त** प्रारंभ में जिसके पाँच वार 'फट्' हो और सत्रह या अठारह अक्षरों का हो।

१०. **मूर्च्छित** मंत्र वह होता है जिसके मध्य व अन्त में 'फट्' का प्रयोग होता है।

११. **हतवीर्य** मंत्र में आदि, मध्य व अन्त में चार 'फट्' का प्रयोग रहता है।

१२. **हीन** मंत्र अठारह या उन्नीस अक्षरों का होता है।

१३. तार मंत्र वह होता है जिसमें उन्नीस अक्षर होते हैं तथा प्रारंभ में प्रणव क्रोम् अथवा हृल्लेखा का प्रयोग होता है।

१४. से १८ सात अक्षर वाला मंत्र **बाल** कहलाता है वाल का अर्थ दृढ़ता किंवा सामर्थ्य में कम होता है आठ अक्षर का **कुमार** और सोलह अक्षर का **युवा**। तथा चालीस अक्षर का **प्रौढ़** एवं तीस, पचास, साठ, एक सौ, एक सौ चार अक्षरों वाला **वृद्ध** कहलाता है। प्रौढ मंत्र अपनी तेजस्विता में प्रखर होते हैं, युवा मंत्रों में दर्प रहा करता है और वृद्ध मंत्र क्षुद्र कर्मों में प्रयोग करने योग्य होते हैं।

१९. **निस्त्रिंश** मंत्र नौ अक्षर वाला होता है और इन नौ अक्षरों में प्रणव मंत्र आदि अथवा अन्त में जुड़ा होता है।

२०. **निर्बीज** मंत्र मध्य में 'वषट्' 'वौषट्' 'हुम्' 'फट्' में से कोई एक, अन्त में 'नमः' अथवा स्वाहा हो तथा हं सः से रहित होता है।

२१. **सिद्धिहीन** मंत्र में 'फट्' का छः बार प्रयोग होता है।

२२. दश अक्षरवाला मंत्र **मंद** अथवा **निस्तेज** होता है।

२३. एक-एक अक्षर वाला मंत्र **कूट** अथवा निरंश कहलाता है।

२४. दो अक्षर वाला मंत्र **सत्वहीन** होता है।

२५. किसी भी वीज मंत्र से रहित हो और चार अक्षर का हो वह **केकर** कहलाता है।

२६. छः अक्षर का मंत्र **बीजहीन** होता है।

२७. साढ़े सात या साढ़ें वारह अक्षर वाला मंत्र **धूमित** कहलाता है।

२८. **दृप्त** मंत्र में कोई पद धातु-क्रिया-पद के अर्थ को वाधित किया करता है अथवा उसको किसी विशिष्ट अर्थ का वोधक वना देता है या कोई निरर्थक शब्द प्रयुक्त हो जाता है।

ग्यारह, तेईस या पच्चीस अक्षरवाला मंत्र भी **दृप्त** कहलाता है।

२९. साढ़े तीन, वीस, इक्कीस और तीस अक्षर का मंत्र **आलिंगित** कहा जाता है।

३०. बत्तीस अक्षर के मंत्र की **मोहित** संज्ञा होती है।

३१. चौबीस अथवा सत्ताईस अक्षर के मंत्र को **क्षुधार्त** कहते हैं।

३२. छब्वीस, उन्तीस और छत्तीस अक्षरवाले मंत्र को **अंगहीन** कहा जाता है।

३३. अट्ठाईस और इकतीस अक्षरवाला मंत्र **अतिक्रुद्ध** कहलाता है।

३४. तीस और तैंतीस अक्षरवाले मंत्र को **अतिक्रूर** कहते हैं।

३५. चौवालीस से लेकर तिरेसठ तक के अक्षरवाला मंत्र **सव्रीड** होता है।

३६. छप्पन अक्षरवाला मंत्र **शान्त मानस** होता है।

३७. छप्पन से निन्यानवे अक्षर तक का मंत्र **स्थानभ्रष्ट** कहा जाता है।

३८. तेरह अथवा पन्द्रह अक्षर के मंत्र **विकल** कहलाते हैं।

३९. नवासी, इक्यानवे, एक सौ, डेढ़ सौ, एक सौ अस्सी, दो सौ और तीन सौ अक्षरों वाले मंत्र **निःस्नेह** कहे जाते हैं।

४०. चार सौ से एक हज़ार तक अक्षरों वाले मंत्र अतिवृद्ध कहलाते हैं।

४१. एक हज़ार से अधिक अक्षर वाले मंत्र पीड़ित कहे जाते हैं।

४२. दो हज़ार सेअधिक अक्षरवाले मंत्रों को स्तोत्र अथवा विद्या कहते हैं।

मंत्रों के इन दोषों की समीक्षा करने पर इस निष्कर्ष को प्राप्त करते है कि ३,४,५,६,१२,१४,२२,२७,३४,३५ तथा ३८ से ४३ तक अक्षर वाले मंत्र निर्दोष होते हैं। इनमें यदि बीजाक्षर व पल्लव के कारण होने वाले दोप न रहें तो ये सर्वथा निर्दोष बन जाते हैं।

ये दोष अहितकर ही होते हों ऐसी वात नहीं है इनमें भी कई दोष इस प्रकार के होते हैं जो विशिष्ट प्रयोजनों में उपयुक्त रहते हैं जैसे मारण कर्म में अतिक्रूर, दृप्त व निःस्नेह मंत्र तथा विद्वेषण में अतिक्रुद्ध व निःस्नेह मंत्र अधिक अनुकूल रहते हैं। क्षुद्र कर्मों में वृद्ध मंत्र, सम्मोहन में सव्रीड व मोहित, वशीकरण में युवा मंत्र अधिक अच्छा काम करते हैं—यह मेरा मत है, जिसे मेरी अल्पज्ञता भी कहा जा सकता है किन्तु यह असंगत एवं निराधार नहीं है।

इसी विवेचन से यह तथ्य भी प्रकट होता है कि किन्हीं मंत्रों में विशेषकर नवार्ण जैसे मंत्रों में प्रणव जोड़ने से उसका स्वरूप वदल जाता है और वह दशार्ण हो जाता है, दशार्ण का परिणाम मन्दता दोष होता है अर्थात् जहाँ नवार्ण भास्वर और वली था वहीं वह मन्द हो गया। हमारे शास्त्रकारों ने मन्त्र का ग्रन्थन करते समय इन आधारों को दृष्टिगत रखा था क्योंकि इन दोषों के द्रष्टा और उपदेष्टा वे रहे थे इसलिये वीज और प्रणव के संयोजन में उन्होंने आवश्यकता एवं उपयोगिता को दृष्टिगत रखा ही था।

जिस प्रकार सर्वशुद्ध मंत्र किसी भी प्रयोजन के लिये ग्रथित हैं तथा अपनी निर्दोष रचना के कारण वे शीघ्र फल देने वाले होते हैं उसी प्रकार दग्ध, मलिन, हत-वीर्य, मूर्छित जैसे मंत्र प्रकृत्या दूषित हैं और उनकी अर्थहीनता के साथ ही संभव है, साधक के लिये भी प्रतिकूल प्रभाव देने वाले सिद्ध हों। कुछ मंत्र ऐसे होते हैं जिनमें दो या तीन तरह के दोष एक साथ हों जैसे तीस अक्षर वाला मंत्र आलिंगित भी है, वृद्ध भी है और अतिक्रूर भी है पर यह त्रिंशाक्षर मंत्र अपने दोषों के कारण क्षुद्र अभिचारादि कर्मों में उपयुक्त है। अठारह अक्षरवाला मंत्र हीन भी है और मदोन्मत्त भी और ये दोनों दोष ऐसे हैं जो इस प्रकार के मंत्र को निरर्थक सिद्ध करते हैं।

मंत्र साधना करने के लिये मंत्र और साधक के बीच बनने वाले संबंधों को जान लेना भी आवश्यक रहता है। मित्र, शत्रु, उदासीन और स्व भावों का विवेचन करने से सुविधा रहती है अन्यथा हम उस मंत्र की साधना करते रहें जिसके हमारे साथ रिपुभाव है तो वह मंत्र सिद्ध नहीं होगा। इस पर पहले हम तत्त्वगत वर्गीकरण के आधार पर विचार करेंगे। देखने की विधि यह है कि साधक अपने प्रचलित नाम का पहला अक्षर और मंत्र के पहले अक्षर के तत्त्व को देखकर आगे वाली सारणी में देख लें कि उनके बीच कैसा संबंध बन रहा है। इसमें पहले साधक के नामाक्षर का तत्त्व देखा जायगा। नाम जन्म के अक्षर (जन्म नक्षत्र के चरण) के अनुसार नहीं लिया जायगा बल्कि बोलता नाम ही ग्रहण किया जायगा। बोलते नाम के लिये शास्त्र ने स्पष्ट किया है कि जिस

नाम से व्यक्ति सोया हुआ हो तो जग जाय, दूर रहने पर बोल पड़े, तथा अन्यमनस्क रहने पर भी जिस नाम से बोल पड़े वह बोलता नाम होता है।

अक्षरों का तत्त्वानुसार वर्गीकरण

आकाश तत्त्व के अक्षर—अ, ए, ह, ङ, ञ, ण, न, म, श।

वायु तत्त्व के अक्षर—इ, ऐ, य, क, च, ट, त, प, ष।

तेजस् तत्त्व के अक्षर—उ, ओ व, ख, छ, ठ, थ, फ, स।

जल तत्त्व के अक्षर—ऋ, औ, र, घ, झ, ढ, ध, भ।

पृथ्वी तत्त्व के अक्षर—लृ, ल, ग, ज, ड़, द, ब।

इनकी मित्रता का संबंध इस प्रकार है—

वायु तत्त्व पर किसी साधक का नाम है और उसके द्वारा सिद्ध किये जाने वाले मंत्र का प्रथम अक्षर भी इसी तत्त्व में निर्दिष्ट वर्णों में से किसी वर्ण से प्रारंभ होता है तो दोंनों का एक ही कुल हुआ। अग्नि तत्त्व के साथ इसकी मित्रता रही। जल तत्त्व उदासीन और पृथ्वी तत्त्व के साथ शत्रुभाव रहा। इसी तरह अग्नि तत्त्व के लिये अग्नि स्वकुल, वायु मित्र, पृथ्वी उदासीन और जल शत्रु रहा। जलतत्त्व के लिये जल स्वकुल, पृथ्वी मित्र, वायु उदासीन और अग्नि शत्रु है। पृथ्वी तत्त्व के लिये पृथ्वी स्वकुल, जल मित्र, वायु उदासीन और जल मित्र रहा।

ज्योतिष में जिस प्रकार ग्रहों के संवंध होते हैं—कुछ ग्रहों में परस्पर शत्रुता, कुछ में परस्पर मित्रता कुछ में एक की दूसरे के प्रति मित्रता किन्तु दूसरे की उदासीनता रहा करती है उसी तरह यहाँ भी है। जैसे वायु और अग्नि में परस्पर मित्रता है तो पृथ्वी और जल में परस्पर मित्रता है, अग्नि और जल परस्पर शत्रु है किन्तु पृथ्वी तत्त्व की तेजस् तत्त्व के साथ शत्रुता है पर तेजस् तत्त्व पृथ्वी तत्त्व के प्रति उदासीन भाव रखता है।

आकाश तत्त्व का शेष तत्त्वों के साथ सामान्य भाव है। साधना के लिये स्वकुल और मित्रभाव उपयुक्त रहता है उदासीन संवंधों में सफलता की संभावना क्षीण रहती है और रिपुभाव में प्रतिकूल प्रभाव रहता है। उदाहरण के लिये गोपीकृष्ण एक मंत्र की साधना करना चाहते हैं जिसका प्रथम अक्षर स है। गोपी का प्रथमाक्षर ग पृथ्वी तत्त्व है और स तेजस् तत्त्व इसलिये दोनों में रिपुभाव रहा, यही स्थिति परिवर्तित होकर अर्थात् सत्य नारायण 'ग' अक्षर से प्रारंभ होने वाला कोई मंत्र सिद्ध करना चाहेंगे तो इनमें उदासीनता का संवंध वनेगा।

जिस प्रकार विवाह में गण, नाड़ी, तारा आदि का विचार किया जाता है उसी तरह यदि गण विरोध मिलाकर उनके गुणों को देख लिया जाय तो अच्छा रहे। पंचांग में इसके लिये वड़ी-सी सारणी होती है जिसमें एक तरफ वर के नक्षत्र दिये जाते हैं

दूसरी तरफ कन्या के, वर में साधक अपने नक्षत्र को देखे और कन्या वाले पक्ष में मंत्र के नक्षत्र का विचार करे। इस सारणी में गण, योनि, नाड़ी, तारा, भकूट, वर्ण आदि का पूरा हिसाब करके गुणांकों का योग दिया रहता है। यह योग सोलह से कम रहने पर निन्दित, सोलह से बीस तक मध्य और इससे अधिक उत्तम रहता है।

अक्षरों का नक्षत्रानुसार वर्गीकरण

अ, आ, अश्विनी; इ, भरणी; ई, उ, ऊ कृतिका; ऋ, ॠ, लृ, लॄ रोहिणी; ए मृगशिरा; ऐ आर्द्रा; ओ, औ पुनर्वसु; क पुष्य; ख, ग आश्लेषा; घ, ङ, मघा; च पूर्वा फाल्गुनी; छ, ज उत्तरा फाल्गुनी; झ हस्त; ट ठ चित्रा; ड स्वाति; ढ, ण विशाखा; त, थ, द अनुराधा; ध ज्येष्ठा; न, प, फ मूल; व पूर्वाषाढ़; भ उत्तराषाढ़; म श्रवणा; य, र धनिष्ठा; ल शतभिषा; व, श पूर्वा भाद्रपदा; ष, स, ह, क्ष उत्तरा-भाद्रपदा; अं, अः, ञ रेवती।

राशि के अनुसार साधक और मंत्र के रशीश का परस्पर संवंध भी देख लेना चाहिए। जो थोड़ा-सा भी ज्योतिष का ज्ञान रखते हैं वे जानते हैं कि सूर्य और चन्द्र को छोड़ कर शेष ग्रह दो-दो राशियों के स्वामी माने जाते हैं। राशियां क्रमशः मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ और मीन होती हैं जिनके स्वामी (राशीश) क्रमशः मंगल, शुक्र, बुध, चन्द्र, सूर्य, बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, शनि और बृहस्पति हैं।

	सूर्य	चन्द्र	मंगल	बुध	बृहस्पति	शुक्र	शनि
मित्र	च., म., गु.	बु., सू.	सू., चं., गु.	शु. सू.	सू. च. म.	बु. श.	बु. शु.
सम	बु	मं., गु. शु., श.	श., शु.	मं., श., गु.	श	मं., गु.	गु
शत्रु	श., शु	–	बु	चं.	बु., शु.	सू., चं	सू. चं. मं

अक्षरानुसार राशि वर्गीकरण

अ, आ, इ, ई, मेष; उ, ऊ, ऋ वृष; ॠ लृ, लॄ मिथुन; ए, ऐ, कर्क; ओ, औ सिंह; अं, अः, श, ष, स, ह, क कन्या; क, ख, ग, घ ङ तुला; च, छ, ज झ, ञ वृश्चिक; ट, ठ, ड़, द, ण धनु; त, थ, द, द, ध, न मकर; प, फ, ब, भ, म कुम्भ; य, र, ल, व, स मीन।

वर्णों का नक्षत्रानुसार वर्गीकरण शारदा तिलक की पदार्थादर्श टीका के अनुसार तथा राशियों का वर्गीकरण प्रपंचसार तंत्र के अनुसार किया गया है। यह विभाजन ज्योतिष के अनुसार न होकर तांत्रिक दृष्टि से निर्धारित है। हाँ, इनके संबंध-संयोजन की पद्धति ज्योतिष के अनुसार ही है।

काकणी विचार

काकणी ज्योतिष का अति प्रचलित सिद्धान्त है। तंत्र शास्त्र में काकणी की दृष्टि से भी मंत्र और साधक के ऋण-धन शोधन का विचार है। इस गणित में जिसके अंक अधिक होते हैं वह ऋणी कहलाता है इसलिए ऋणी मंत्र ही ग्राह्य है क्योंकि ऋणी मंत्र साधक को फलप्रद होता है। कोई भी मंत्र ऋणी क्यों रहता है इस संबंध में तंत्र का स्पष्टीकरण है—"मनुष्य का जन्म, कर्म और विपाक की एक लम्बी श्रृंखला है, इसमें पूर्व जन्म में व्यक्ति ने किसी मंत्र का जाप किया हो और किसी प्रकार की कमी या पाप के कारण मंत्र ने अपना फल न दिया हो वे मंत्र ऋणी होते हैं और ऐसे मंत्रों की साधना करने पर वे इस जन्म में सिद्धिदायी हुआ करते हैं।"

प्रत्यक्ष विश्वासी अपने अल्पज्ञान की विवशता के कारण इस तथ्य से सहमत न हो सकें किन्तु इसमें सन्देह नहीं है। हम व्यावहारिक जीवन में भी ऐसी घटनायें देखते हैं जिनमें कोई व्यक्ति हमें अकारण, अयाचित रूप में कुछ धन दे जाता है या हम कहीं पर गड़ा हुआ धन पा लेते हैं अथवा कई लोग हमारे साथ उपकार कर जाते हैं। इस तथ्य को भगवान् कृष्ण भी कहते हैं।

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन,
तान्यहं वेद्मि सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप",

हमारा जीवन वास्तव में एक सुदीर्घ कर्मयात्रा है जिसमें विभिन्न देह धारण के पड़ाव आए हुए रहते हैं तथा यह क्रम अभी और निरन्तर रहेगा। ऐसी स्थिति में यह शिकायत करना मूर्खता ही है कि हमारे द्वारा किये गए मंत्रजप का कोई फल नहीं मिला। किसी भी मंत्र को जप करना एक क्रिया है और क्रिया कर्म (फल) के रूप में परिणमित होती ही है इसलिये हमारे किये मंत्रजप का फल तो हमें निश्चय से मिलेगा ही, यह दूसरी वात है कि वह फल हमें अभी मिल जाये या किसी पाप-शाप के कारण देर से मिले, यह देर जन्मान्तर तक की भी हो सकती है। शुद्ध विधि, पर्याप्त मात्रा, शुद्ध सत् आचरण पूर्वक करने पर मंत्र फलीभूत होता ही है, इसके विपरीत मंत्र के उच्चारण में या अन्य विधि विधान में त्रुटि रहने से हम दोषभागी बनते हैं और मंत्र का शाप हमें मिलता है। इस रहस्य से वही परिचित हो सकता है जो इस संसार और अपने जीवन को प्रकृति का सुनियोजित एवं नियमवद्ध व्यवहार मानता है तथा इस सारे क्रिया व्यापार में एक चेतन सत्ता का अनुभव करता है और देवत्व एवं दानत्व के प्रति अत्यन्त संवेदनशील वन गया है। प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार स्वाभाविक है कि हमारा जीवन अनेक ऋणों को लेने व निपटाने के निमित्त हुआ करता है। यह भिन्न वात है कि इनमें कुछ अनायास एवं आवश्यक होते हैं तो कुछ को हमें ढूंढना पड़ता है और प्रयास करना पड़ता है।

काकणी पद्धति में अ, आ, इ, ई आदि सोलह स्वरों (मातृकाओं) का एक, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ) का दो, चवर्ग का तीन, टवर्ग का चार, तवर्ग का पांच, य वर्ग

का छह, य र ल व का सात, श, ष, स ह का का आठ ध्रुवांक मानते हैं। साधक और मंत्र की काकणी देखने के लिए पहले साधक के वर्ग का ध्रुवांक देखेंगे उसे दो से गुणा करके उसमें मंत्रका ध्रुवांक जोड़ देंगे यह साधक की काकणी हुई मंत्र के वर्ग से मंत्र ध्रुवांक को दो से गुणा करके साधक का ध्रुवांक जोड़ देंगे। इनमें जिसके अंक अधिक होंगे वह ऋणी रहेगा और मंत्र का ऋणी रहना ही उत्तम रहा करता है। जब मंत्र और साधक एक ही वर्ग के हों तो बराबर रहते हैं इसप्रकार के मंत्र की साधना करने में जपादि अधिक मात्रा में किए जाते हैं तब वह मंत्र ऋणी बनता है। उदाहरण के लिए श्यामसुन्दर ह से प्रारम्भ होने वाला हनुमान् मंत्र साधना करना चाहते हैं इसमें श्याम के श का सातवां वर्ग होने से ध्रुवांक सात हुआ और हनुमान का ह आठवां वर्ग रहने से उसका ध्रुवांक आठ हुआ इन दोनों के योग से श्यामजी की काकणी—सात गुणा दो—चौदह हुए उनमें मंत्र के ध्रुवांक आठ जोड़ देने पर बाईस हुए। मंत्र की काकणी में मंत्र के ध्रुवांक आठ को दो से गुणा करके श्याम जी के ध्रुवांक सात जोड़ देने से तेईस हुए। इस काकणी में हनुमान् मंत्र ऋणी हुआ। आठ से अधिक हो जाने पर आठ का भाग दे देते हैं।

मंत्र का सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध व अरि विचार

अ, क, थ	आ, ख, द	इ, ग, ध	ई, घ, न
उ, ङ, प	ऊ च फ	ऋ छ ब	ॠ ज भ
ऌ झ म	ॡ ञ यं	ए ट र	ऐ ठ ल
ओ ड व	औ ढ श	अं ण ष	अः त स ह

उपर्युक्त चक्र को देखने की विधि यह है कि इन कोष्ठकों में क्रमशः सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरि भाव माना जाता है। साधक के अक्षर वाले कोष्ठक से मंत्र के प्रथमाक्षर-वाला कोष्ठक जिस क्रम में आये मंत्र के साथ वही भाव जुड़ता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि किसी का नाम चौथी पंक्ति के कोष्ठक में है और मंत्र का प्रथमाक्षर तीसरी में है तो उससे गिनने पर वह चौथा रहेगा। उदाहरण के लिए श्याम सुन्दर 'हम् पवननन्दनाय स्वाहा' यह मंत्र सिद्ध करना चाहते हैं। श्याम का श दूसरे कोष्ठक में है और ह उससे तीसरे कोष्ठक में इसलिए यह मंत्र उनके लिए सुसिद्ध रहा सुसिद्ध का अर्थ होता है उत्तम, सुसाध्य उत्तम, सिद्ध अति उत्तम, साध्य माध्यम और अरि निन्दित होता है।

सिद्ध-साध्य देखने का दूसरा तरीका

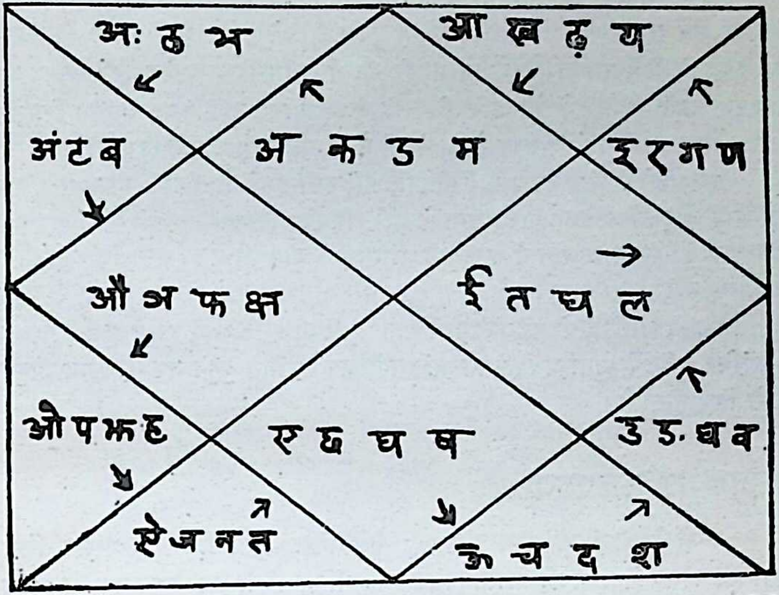

इस चक्र में साधक अपने नाम के प्रथमाक्षर से मन्त्र के प्रथमाक्षर तक गिनें। गिनने में वह कोष्ठक भी गिना जाएगा जिसमें वह अक्षर है गिनने का क्रम दक्षिणावर्त (एण्टीक्लाक वाइज्) रहेगा। मन्त्र का प्रथमाक्षर यदि (एक ही) पहले, पाँचवें और नवें स्थान (कोष्ठक) में आये तो सिद्ध। दूसरे, छठे, दसवें स्थान में आये तो साध्य। तीसरे, सातवें, ग्यारहवें स्थान में आने पर सुसिद्ध और चौथे, आठवें, बारहवें स्थान में आने से अरि कहलाता है। इनके फल पहले वाले प्रकार में लिख दिये हैं। इस चक्र को अकडम चक्र भी कहा जाता है। उदाहरण के लिये श्याम के लिये हनुमान् मन्त्र दसवें स्थान में होने से साध्य है। यह गणितीय मिलान आज के व्यक्ति के लिये जटिल है और इसे पढ़ने के पश्चात् यह शंका होना भी स्वाभाविक है कि दोषों से मुक्त मन्त्र का इन ऋण-धन व सिद्ध, साध्यादि कसौटियों से पार पाना असंभव प्राय है किन्तु ऐसा नहीं है। जिस व्यक्ति को हम गुरु मानने जा रहे हैं, वह इन सारे विधानों में निष्णात है, उसकी दृष्टि से ये दोष ओझल नहीं हो सकते तथा मन्त्र शास्त्र की विशालता को देखते हुए यह सहज रूप से कहा जा सकता हैं कि उसमें व्यक्ति के लिये निर्दोष रूप से सर्वशुद्ध मन्त्रों की कमी नहीं है। इस गणना में प्रणव को नहीं लेंगे।

इन मन्त्रों में ऋण धनादि शोधन की आवश्यकता नहीं है—प्रणव, हं सः, दो या तीन बीजाक्षर वाला, पाँच अक्षर का, तथा आठ अक्षर का मन्त्र ऋण-धन व सिद्ध-साध्य आदि के अनुसार विचारणीय नहीं होता अर्थात् इन मन्त्रों में उपर्युक्त मिलान नहीं किया जाता। कूट मन्त्र (एकाक्षर) तीन, पाँच, सात, नौ और बारह अक्षर वाले

मन्त्रों में भी यह विचार नहीं किया जाता।

गरूड, सूर्य, विष्णु, बुद्ध, जैन और महाकूट मन्त्रों में इनका विचार नहीं करते। जो मन्त्र गुरु द्वारा उपदिष्ट हैं, जो योगिनी प्रदत्त हैं, जो स्वप्न में निर्दिष्ट हैं, जिस व्यक्ति की किसी देवता विशेष के मन्त्र विशेष में स्वाभाविक भक्ति है वे मन्त्र भी सिद्धिप्रद रहते हैं, उनमें भी अरि मित्रादि का विचार नहीं किया जाता। त्रिपुरा, नरसिंह, वाराह के मन्त्रों में तथा माला मन्त्रों में भी यह विचार नहीं किया जाता।

इन दोषों के निराकरण के लिये ह्रीं, श्रीं, क्लीं इनमें से किसी वीज मन्त्र को प्रारम्भ में जोड़ने से अथवा इनको अन्त में और श्रीं को प्रारम्भ में लगाने से दोष शान्त हो जाता है। प्रारम्भ व अन्त में लगाने से भी मन्त्र के दोष शान्त हो जाते हैं। ह्रीं वीज युक्त मन्त्र शीघ्र फल प्रदान करने वाला होता है। वीज मन्त्रों में विपर्यय करके भी ऋण धन, सिद्ध-अरि आदि दोषों को दूर किया जाता है किन्तु इसके लिये मर्मज्ञ गुरु ही सक्षम है। तांत्रिक दृष्टि से सुसाध्य निश्चित संख्या के जप से, सिद्ध दुगुने जप से, साध्य चौगुने जप से सिद्ध होता है।

मन्त्र का स्वरूप

मन्त्रों मे वीज ही प्राण होता है, शेष पिण्ड होता है और पल्लव लिंग होता है। पल्लव से मन्त्र की जाति (लिंग) निर्धारित होती है। मुख्य रूप से मन्त्र दो प्रकार के होते हैं—सौम्य और सौर। सौम्य और सौर को अग्नीषोमात्मक भी कहते हैं। जिन मन्त्रों के देवता स्त्री रूप होते हैं वे सौम्य तथा जिनके देवता पुरुष रूप होते हैं वे सौर होते हैं। ये ही मन्त्र स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग के रूप में तीन प्रकार के होते हैं। जिन मन्त्रों के अन्त में हुम्, फट् (पल्लव) लगा होता है वे पुल्लिंग, जिनमें स्वाहा होता है वे स्त्रीलिंग तथा जिनमें नमः लगा होता है वे नपुंसक लिंग होते हैं। वशीकरण, उच्चाटन स्तंभन अभिचार में पुल्लिगी मन्त्र, शान्ति-पुष्टि में स्त्रीलिंगी तथा शेष कर्मों में नपुंसकलिंगी मन्त्र सिद्धिप्रद रहा करते हैं।

मन्त्रों के अग्नीषोमात्मक दृष्टि से विचार करने पर ओम्, ह, क्ष इन अक्षरों की अधिकता रहने से वह मन्त्र आग्नेय कहलाता है, स, व अथवा अन्य अक्षरों की बहुलता रहने से सौम मन्त्र कहलाते हैं। इन्हीं सौम्य मन्त्रों में यदि पुल्लिगी पल्लव जोड़ दिया जाय तो वे रूद्ररूप हो जाते हैं तथा सौर या रौद्र मन्त्र में सौम्य पल्लव जोड़ दिया जाय तो वे शान्त या सौम्य हो जाते हैं इसलिये अन्वर्थकता यही रहती है कि सौम्य मन्त्रों में शान्त या स्त्रीलिंगी पल्लव और सौर मन्त्रों में पुल्लिगी या रौद्र पल्लव जोड़ना चाहिए।

स्वरों को अथवा केवल स्वरों से वनने वाले वीज मन्त्रों को सौम्य, क वर्ग से लेकर प वर्गान्त तक के व्यंजन सौर और य से क्ष तक नपुंसक या व्यापक कहते हैं। सौम्य मन्त्र कामप्रद, सौर मन्त्र अर्थप्रद, नपुंसक मन्त्र धर्म व मुक्तिप्रद रहा करते हैं।

इन आग्नेय, सौम्य और नपुंसक मन्त्रों के जपने के संवंध में तंत्र शास्त्र कहता है जिस समय हमारी बांयीं नाक से श्वास चलती है तव सौम्य मन्त्रों का जप उचित

रहता है क्योंकि चन्द्र स्वर के चलने पर सौम तत्त्व जागृत और सौर तत्त्व सुप्त रहा करता है। इसी प्रकार जब दाहिना स्वर अर्थात् नासिका के दाहिने छिद्र से श्वास अधिक आने पर सौर मन्त्र का जप करना चाहिए क्योंकि आग्नेय स्वर चलने पर सौम्य स्वर सुप्त रहता है। जिस समय दोनों नासिका छिद्रों से स्वर चलता है उस समय मुक्तिप्रद मन्त्रों का जप करना ठीक रहता है। वैसे शास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार सुषुम्णा स्वर (दोनों छिद्रों में समान श्वास) चलने पर ईश्वर स्मरण मुक्तिप्रद रहता है। मन्त्र ग्रहण अथवा किसी निमित्त से किये जाने वाले मन्त्रों का प्रारंभ करने के लिये ज्योतिषीय दृष्टि भी मान्य रहती है। इस विचार के पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा है कि हमारे पर चन्द्रमा और सूर्य का बहुत प्रबल प्रभाव पड़ता है, वह प्रभाव किस प्रयोजन के लिये तथा कार्यविशेष के लिये साधना योग्य मन्त्र के शब्द संयोजन के लिये इन ग्रहों का प्रभाव अनुकूल रहेगा या प्रतिकूल यह विचार ही प्रमुख रहा है। यह तथ्य हम जानते ही हैं कि मोहन वशीकरणादि कर्मों के लिये निर्धारित मन्त्रों के संयोजन का सिद्धान्त तथा सूत्र है तथा उसके अनुसार उन वर्णों की आवृत्ति से हमारे मानस शरीर पर एवं प्रासंगिक रूप से हमारे भौतिक शरीर पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इसका सूक्ष्मज्ञान मन्त्रोपदेष्टा ऋषियों को रहा था। इस निर्देश में महीना—सूर्य की स्थिति, नक्षत्र— चन्द्रमा की स्थिति, पक्ष एवं तिथि, सूर्य और चन्द्रमा की परस्पर तुलनात्मक दूरी एवं वार, सूर्योदय के समय ग्रह की वारवेला का सूचक है।

मासों के फल

वैशाख—धनप्रद; **ज्येष्ठ**—मृत्यु; **आषाढ**—पुत्रः; **श्रावण**—शुभ; **भाद्रपद**—ज्ञान-हानि; **आश्विन**—सर्वसिद्धिः; **कार्तिक**—ज्ञानसिद्धि; **मार्गशीर्ष**—शुभ; **पौष**—दु:ख; **माघ**—मेधावृद्धि; **फाल्गुन**—वशीकरण; **चैत्र**—दु:सह कारक होता है। ऐश्वर्य, शान्ति, पुष्टिकर मन्त्रों की साधना शुक्ल पक्ष में और मुक्तिप्रद मन्त्रों की साधना कृष्ण पक्ष में प्रारंभ की जाती है।

तिथि विचार

दूज, पंचमी, सप्तमी, दशमी, त्रयोदशी और पूर्णिमा अनुकूल रहती हैं। यों लक्ष्मी के मन्त्रों के लिये दूज, गौरी या शक्ति मन्त्रों के लिये तीज, अष्टमी व चतुर्दशी (नवमी भी) सरस्वती मन्त्रों के लिये तेरस, गणपति मन्त्रों के लिये चतुर्थी, सूर्य मन्त्रों के लिये सप्तमी, विष्णु मन्त्रों के लिये द्वादशी, शिव मन्त्रों के लिये चतुर्दशी औरब्रह्मा के मन्त्रों लिये अमावास्या अनुकूल रहती है।

नक्षत्रों में रोहिणी, रेवती, पुष्य, तीनों उत्तरा, ज्येष्ठा, मघा, स्वाति, अनुराधा, अश्विनी, मूल, श्रवणा, चित्रा, हस्त, घनिष्ठा, पुनर्वसु, मृगशिरा अनुकूल माने जाते हैं।

एकम तिथि को पूर्वाषाढा नक्षत्र हो, पंचमी को कृतिका, षष्ठी को पूर्वभाद्रपदा, दशमी को रोहिणी, द्वादशी को सार्प और त्रयोदशी को अर्यमा हो तो त्याज्य रहती हैं। सामान्यतया शनि और मंगलवार ग्राह्य नहीं हैं।

षट्कर्मानुसार ऋतु-कालादि विचार

ऋतु—शान्ति पुष्टि के अनुष्ठान हेमन्त ऋतु में, वशीकरण-वसन्त में, स्तंभन-शिशिर में, विद्वेषण (मारण भी) ग्रीष्म में, उच्चाटन-वर्षा में, मारणा-शरद् ऋतु में किया जाता है।

समय—वशीकरण-पूर्वाह्न, विद्वेषण-उच्चाटन-मध्याह्न, शान्ति-पुष्टि-तीसरे प्रहर, मारण-संध्या, स्तंभन-अर्धरात्रि, आकर्षण-भोर में किया जाना चाहिए।

तिथिवार—शान्ति कर्मों में दूज, तीज, पंचमी, सप्तमी तिथि व बुध, गुरुवार पुष्टिकर कर्मों में चतुर्थी, षष्ठी, सप्तमी, त्रयोदशी तिथि तथा सोमवार, गुरुवार, आकर्षण कर्म में अष्टमी, नवमी, दशमी, एकादशी तिथि और विद्वेषण कर्म में एकम्, नवमी, पूर्णिमा, अमावस्या तिथि और रविवार, शनिवार, उच्चाटन में कृष्णपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी तिथि शनिवार, रविवार मारण कर्म में कृष्णपक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी अमावस्या तिथि एवं शनिवार, रविवार ग्राह्य होते हैं।

मंत्रोपासना में मन्त्र महत्त्वपूर्ण एवं केन्द्र विन्दु होता है। प्रत्येक मन्त्र में ऋषि, छन्द और देवता (वीज, शक्ति) अनिवार्य रूप से रहते हैं। **ऋषि** के लिये तंत्र शास्त्र कहता है कि सारे मन्त्र परमेश्वर शंकर द्वारा उपदिष्ट हैं इसलिये परात्पर गुरु तो परम शिव हैं किन्तु जिन प्रातः स्मरणीयजनों ने मन्त्रों को साधित व शक्ति सम्पन्न किया, आविष्कृत किया, जिसने मन्त्र का दर्शन किया, साधना करके उसकी शक्ति को प्रकट किया व सिद्धि प्राप्त की वे **ऋषि** कहलाते हैं।

छन्द—एक निश्चित यति को कहते हैं किन्तु जिस प्रकार वस्त्र हमारे शरीर को ढाँपे रहते हैं, रक्षित रखते हैं उसी तरह यह (यति, लय) भी देवता को छादित रखते हैं। छादनाद् छन्दः। कहते हैं पुराने समय में मरणधर्मा संसार को देख कर मृत्यु मे भयभीत देवताओं ने अपने को एक यति-राग-से ढंक लिया था। मन्त्र मूलतः देवता का स्वरूप होता है और छन्द उसका नैसर्गिक विन्यास होता है इसलिये देवता की भव्यता छन्द से आवृत एवं भूषित होती है।

देवता—मन्त्र का आकार होता है। मन्त्र के वोलने से जो कंपन होते हैं उन निरन्तर कम्पनों से कई प्रकार की आकृतियाँ (विभिन्न मन्त्रों से विभिन्न प्रकार की) वना करती हैं। वे वास्तव में मन्त्र के स्वरूप हैं जिनको दिव्यता के कारण देवता कहा

जाता है। यही एक कारण है कि देवताओं के विचित्र एवं विविध रूपाकार, अनेक मुख, अनेक नेत्र, अनेक हाथ आदि स्वरूपों मे भी शक्ति एवं ईशत्व रहा करता है। प्रारंभ में ये रेखायें ही बनती हैं जो हमारी चेतनवादिता के कारण मांसल बन कर सशरीरी देवता हो जाते हैं।

बीज—मन्त्र का प्राण होता है। प्रत्येक मन्त्र में, चाहे उसमें कोई वीज मन्त्र हो ही नहीं तदपि प्रच्छन्न रूप में वीज रहा ही करता है। किसी भी मन्त्र के प्रारंभ के अक्षर के अनुस्वार लगा देने पर वीज वन जाया करता है। अन्यथा सारा मन्त्र केवल पिण्ड, शरीर होता है।

शक्ति—उस मन्त्र रूप देवता की महिमा है। यह भी देवता के साथ अनिवार्य रूप से रहती है। कई मन्त्रों में शक्ति के साथ कीलक भी जुड़ा रहता है। मन्त्र के ये पंचांग या षडंग हुआ करते हैं इनको विनियोग वोलते समय काम में लाते हैं तथा सृष्टि क्रम से किये जाने वाले न्यास में इनका प्रयोग किया जाता है।

मंत्रों की अक्षरानुसार संज्ञा :—

दो अक्षरवाला मन्त्र कर्तरी, तीन अक्षर का सूची, चार का मुग्दर, पाँच अक्षर का मुशल, छह अक्षर का श्रृंखला, सात का कवच, आठ और नौ का पर, दस का शक्ति, ग्यारह का परशु, वारह का चक्र, तेरह का कुलिश, चौदह का नाराच, पन्द्रह अक्षर का भुशुण्डी, तथा सोलह का पद्म कहलाता है।

उपर्युक्त प्रकार के मन्त्रों में छेदन कर्म में कर्तरी, भेदन में सूची, भंजन में मुग्दर, क्षोभण में मुशल, वंधन में श्रृंखला, छेदन में क्रकच, रक्षा में कवच, आकर्षण में शक्ति, विद्वेषण में पर, गए हुए को या किसी को प्राप्त करने (संधान) में कुलिश, सैन्य भेदन में नाराच, मारण में भुशुण्डी मन्त्र उपयुक्त रहता है।

साधना विधि

मन्त्र को जागृत करने के लिए दस प्रकार के संस्कार करने का विधान है। ये संस्कारगुरु द्वारा सम्पन्न हों तो अधिक अच्छा रहे वैसे भी ये जानकार व्यक्ति से समझने पड़ते हैं। इन सबसे अधिक महत्त्व दिया है मुद्रा को। तन्त्र का मत है कि कोई मन्त्र कैसा भी हो, उसके और साधक के बीच कैसा भी संवंध जुड़ रहा हो, योनिमुद्रा से साधना करने पर वे सारे दोष शान्त हो जाते हैं और मन्त्र चेतन हो जाता है।

योनिमुद्रा में पालथी जैसे मारकर वैठा जाता है जिसमें एक पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के बीच योनि स्थान पर दवा कर तथा दूसरे पैर को उसके ऊपर रख कर वैठा जाता है। अन्यत्र **योनिमुद्रासन** के लिए लिखा है कि हाथों से दोनों घुटनुओं को पकड़ कर नासिका को घुटनों तक ले जायें और पूरक व कुंभक प्राणायाम करके मन्त्र का जप करें फिर सीधा होकर रेचक करे।

मन्त्र जप में, मन्त्र के मूल रूप के साथ ही पल्लव जोड़ने की व्यवस्था रहती

है। मारण, उच्चाटन, विद्वेषण, विषनिवारण, ग्रहारिष्ट एवं भूतबाधा निवारण जैसे कार्यों में पल्लवयुक्त मन्त्र अधिक उपयुक्त रहते हैं।

योग—मन्त्र के प्रारंभ में कर्म का ज्ञापन करना योग कहलाता है शान्ति, वशीकरण, पुष्टि, मोहन, दीपन, प्रायश्चित के निमित्त जो काम किए जाते हैं उनमें योगयुक्त मन्त्र प्रशस्त रहते हैं।

रोध—व्यक्ति के नाम के आदि मध्य व अन्त में मन्त्र को रखना रोध कहलाता है। मन्त्र के अभिमुखीकरण, व्याधिनिवारण ज्वरमुक्ति, ग्रह शान्ति, सम्मोहन व विषापहरण के निमित्त किये जाने वाले प्रयोगों में रोधयुक्त मन्त्र अच्छे रहते हैं।

ग्रथन—नाम के प्रत्येक अक्षर के बाद एक मन्त्राक्षर हो उसे ग्रथन कहते हैं अथवा नाम, फिर मन्त्र फिर नाम इस प्रकार के मन्त्र को ग्रथन कहते हैं। शान्ति कम में ग्रथन युक्त मन्त्र ठीक रहते हैं।

संपुटित—किसी व्यक्ति विशेष या मन्त्र विशेष के पहले व बाद में मन्त्र जोड़ने की प्रक्रिया को संपुट कहते हैं, यह प्रक्रिया बहुत प्रचलित है। जिस प्रकार संपुट का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार ग्रथन रोध आदि होते हैं। इसमे व्यक्ति विशेष का नाम अथवा देवता का नाम जहाँ कहा गया है वहाँ मन्त्र व संपुट देने योग्य मंत्र को पृथक्शः समझ लें। स्तम्भन, मृत्युंजय, रक्षा, तथा अन्य दिव्य कर्मों में संपुट विधि का प्रयोग किया जाता है।

विदर्भ—साध्य के नाम के प्रत्येक अक्षर के साथ मन्त्र के अक्षर को जोड़ने को विदर्भ कहते हैं। वशीकरण एवं पौष्टिक कर्मों में यह पद्धति काम में ली जाती है।

पल्लव—मंत्र के अन्त में हुम् का प्रयोग बंधन, उच्चाटन एवं विद्वेषण कर्मों में, फट् छेदन में, हुम् फट् विघ्न और ग्रहबाधानिवारण के निमित्त, वौषट् पुष्टि कर कर्मों के लिए स्वाहा पल्लव का प्रयोग बोधन कर्म के लिए किये जाने वाले मन्त्रों में किया जाता है, शान्ति, देवता प्रसन्नता में नमः, सम्मोहन, मृत्युंजय, पुष्टि में वषट् पल्लव लगाया जाता है।

जागतिक षट्कर्मों की साधना के लिए जो अनुष्ठान किए जाँय उनसे पहले रति, वाणी, रमा, ज्येष्ठा, दुर्गा, काली के मन्त्रों का जप कर लेना चाहिए। ये सम्मोहन, वशीकरण, आकर्षण, स्तंभन, विद्वेषण, मारण (उच्चाटन) की देवियाँ हैं। पुरश्चरण में पहले जिन मन्त्रों को पहले जपने के लिए लिखा गया है वहाँ सात्विक राजस एवं तामसिक रूप से वर्गीकरण किया गया है तथा गायत्री कामाख्या व काली के मन्त्रों का जप करने का परामर्श दिया गया है। यदि हम हमारे कर्म व मन्त्र का विश्लेषण न कर सकें और मारण, मोहन जैसे प्रयोजन के निमित्त कर रहे हैं तो इनमें से जो उस निमित्त निर्दिष्ट है उसी का जप कर लिया जाये।

मन्त्र के देवता का ध्यान—शान्ति, वशीकरण, पौष्टिक कर्म के लिए किये जाने वाले प्रयोगों के लिए अभीष्ट देवता का ध्यान दिया रहता है, जो इस कर्म के लिए उपयुक्त रहता है तदपि सामान्यतया सुन्दर, श्रेष्ठ आभूषणों से सज्जित, प्रसन्न वदन, वरप्रद रूप का, आकर्षण में भी देवता का रूप यही होगा किन्तु जिसका आकर्षण करना हो उसकी कल्पना इस तरह की जाये कि उक्त देवता के आगे वह जाल में फंसी मछली

की तरह हो गया है। विद्वेषण में अभीष्ट व्यक्ति की इस प्रकार कल्पना की जाँय जैसे वह भूना जा रहा है। उच्चाटन के प्रयोग में जिस व्यक्ति का उच्चाटन किया जाये उसकी कल्पना ऐसे की जाँय जैसे उल्लू कौवों से घिर जाता है। स्तंभन में उस व्यक्ति का ऐसा कल्पना चित्र वनाया जाँय जैसे तिनका किसी शिला के नीचे दब रहा है, मारण में जिस व्यक्ति पर यह कर्म किया जाना है उसकी कल्पना उस व्यक्ति की तरह की जाँय जिसे राज पुरुष वध करने के लिए पकड़ कर ले जाया करते हैं अथवा उसे शेर खा रहा है। मन्त्र जप करने से पहले मन्त्र के देवता का ध्यान दिया रहता है, ऐसा ध्यान मन्त्र जप करते समय बनाये रखने से मन्त्र का प्रभाव शीघ्र होता है।

माला—कर्मों के अनुसार माला का विधान है—शान्ति कर्म के लिए किये जाने वाले प्रयोग में मोती या स्फटिक की माला, वशीकरण या पुष्टि कर कर्म में मूंगे अथवा वज्रमणि की माला, आकर्षण में हाथी दांत की माला मारण कर्म में मरे हुए वीर के दांतों की या गधे के दाँत की, विद्वेषण व उच्चाटन में घोड़े के दाँत की, धर्म काम की सिद्धि के लिए शंख मणि की माला प्रयुक्त होती है। कमल गट्टे एवं रूद्राक्ष की माला सर्वकर्मसिद्धिप्रद मानी जाती है।

धागा—शान्ति पुष्टि के प्रयोगों में कमल नाल के रेशे, आकर्षण उच्चाटन में घोड़े की पूंछ के वाल, मारण प्रयोग में मनुष्य की स्नायु शेष कार्यों के लिए किये जाने वाले प्रयोगों में कपास या रेशम का धागा प्रयुक्त होता है।

मुख—वशीकरण में पूर्व दिशा की तरफ, अभिचार कर्म में दक्षिण (उच्चाटन, विद्वषण, मारण, स्तंभन अभिचार कहे जाते हैं) धन प्राप्ति के प्रयोगों में पश्चिम एवं शान्ति, पुष्टि तथा आयुष्यप्रद व रक्षाकर प्रयोगों में उत्तर की तरफ मुख करके बैठना चाहिए।

माला के मणियें—मुक्तिप्रद प्रयोग में सत्ताईस, अभिचार कर्म में पन्द्रह मणियों की माला बनाई जाती है, एक सौ आठ मणियों की माला सभी कामों में ठीक मानी जाती है।

माला जपने के लिए आकर्षण में मध्यमा और अंगुष्ठ, विद्वेषण व उच्चाटन में अंगूठा व तर्जनी, मारण में ज्येष्ठा और कनिष्ठा अंगुलियों (शेष कर्मों में अंगुष्ठ और अनामिका) से जप किया जाता है। विना अंगूठे के कोई भी जप नहीं किया जाता है।

करमाला—उपयुक्त माला न मिलने पर हाथ से भी माला जपी जाती है। इसमें शक्ति के मन्त्रों में अनामिका (तीसरी) अंगुली के दूसरे पोर से नीचे की तरफ चलने पर दो पोर हो गए, कनिष्ठा अंगुली से नीचे से ऊपर की तरफ गिना जाता है तब तीन पोर कनिष्ठा के हुए, आगे अनामिका का ऊपर का पोर फिर मध्यमा या ज्येष्ठा अंगुली के ऊपर के पोर से नीचे की तरफ उतरना पड़ेगा इस तरह नौ हो गए दसवाँ तर्जनी अंगुली के नीचे वाला पोर होगा इस तरह तर्जनी के दो पोर छूट जायेंगे, इन दशकों की संख्या वाँयें हाथ की अंगुलियों पर गिनी जाएगी।

आसन—रेशमी कपड़े का, चर्म, वेंत, ताडपत्र, कंवल और कुशा के होते हैं वाँस, पत्थर, काठ, धरती, तिनके और पत्तों का आसन दरिद्रता, दुःख एवं रोग देने वाले

होते हैं इसलिए इनको आसन के रूप में प्रयोग न करे। मिट्टी का, गोवर या गोवर लिपा, टूटा हुआ, पलाश का, पीपल का और लोहे से छिदा हुआ आसन त्याज्य है। यति लोग चिकना और कछवे के आकार का शेष व्यक्ति चौकोर आसन काम में लें। भोजन, भजन विना आसन के न करने चाहियें।

आसन या वस्त्र का रंग—स्तंभन वशीकरण आकर्षण में लाल रंग, शान्ति पुष्टि व तुष्टिकर कर्मों में सफेद, उच्चाटन में धूंये जैसा, स्तंभन में पीला, उन्मादन में गहरा लाल और मारण में काला रंग प्रशस्त है, वैसे सात्विक प्रयोगों में सफेद, राजसी प्रयोगों मे पीला और तामसी प्रयोगों में काले रंग का आसन व वस्त्र काम में लिया जाता है।

स्याही—शास्त्रीय प्रयोगों में साधना करते समय यंत्र बनाकर अथवा मूलमन्त्र को ही लिखकर पूजित करके सामने रखने की व्यवस्था दी गई है, आजकल चित्र को साक्षी वनाकर पूजा करने की परंपरा चल रही है किन्तु मन्त्र विशेष एवं उनके स्वरूप देवताओं के चित्र साधारणतया नहीं मिलते इसलिये यंत्र या मन्त्र को ही हाथ से लिखकर रख लेना चाहिए। ये लिखने के लिये कार्यों के अनुसार स्याहियाँ इस तरह हैं—वशीकरण में कुंकुम, कपूर, गोरोचन, स्तंभन में हल्दी, आकर्षण में आलता या मेंहदी, विद्वेषण में साधक का अपना रक्त, उच्चाटन में ऊँट का रक्त प्रयोग किया जाता है। जिन प्रयोगों में विशेष प्रकार के उपकरणों, स्याही आदि के वारे में उल्लेख किया गया हो वहाँ वे ही ग्राह्य हैं पर जहाँ ऐसा नहीं किया गया है वहाँ यही व्यवस्था मान्य रहेगी।

पत्र—यंत्र या मन्त्र लिखने के लिये कागज-वशीकरण आकर्षण में भोजपत्र, उच्चाटन में वगूले में उड़ा हुआ कपड़ा, विद्वेषण में गधे की खाल, स्तंभन में हाथी का चमड़ा, सम्मोहन में शिला प्रस्तर, मारण व ज्वर ग्रस्त करने में शव का कपड़ा प्रयुक्त होता है।

लेखनी का निर्देश यथा स्थान किया गया है, जहाँ नहीं किया गया वहाँ अनार या चमेली की लेनी चाहिए।

पूजन में काम आनेवाले पदार्थों के लिये शास्त्रीय व्यवस्था इस प्रकार है—

(इन देवताओं के पूजन में वर्णित पदार्थ प्रयोग में न लाये जांय)

विष्णु के चावल, गणपति के तुलसी, देवी के दूर्वा, सूर्य के विल्वपत्र, विष्णु के आक व धतूरा, देवी के धत्तूर और मन्दार तथा सूर्य के तगर अर्पित न करे।

सूखे पत्ते, (तुलसी को छोड़) फूल और फलों से विष्णु का पूजन न करे। शिवजी के कमल और चंपा के फूल नहीं चढ़ाये जाते। सूर्य को लाल फूल अत्यन्त प्रिय हैं किन्तु मालती और लाल कनेर के फूल नहीं चढ़ाये जाते। शिव की पूजा पुष्प की कलिका से भी की जाती है।

जहाँ फल-फूल-पत्ते चढ़ाने की वात आती है वहाँ फूलों के संवंध में ऊपर लिख दिया गया है, **पत्ते** में नागरखेल के पान, दूर्वा, कुशा (डाभ) अगस्त्य और धात्री वृक्ष के पत्ते माने गये हैं। तुलसी का पत्ता भी पत्ता ही है पर वह विष्णु और शालिग्राम के ही अर्पित किया जाता है। **फल** में आमला, वेर, इमली, अनार, मीठा नीबू, नारंगी, केला, आम, जामुन माना जाता है।

पाद्य का अर्थ होता है पैरों का अर्थात् आये हुए देवता को पैर धोने के लिये दिया जानेवाला जल, पाद्य कहलाता है इस जल में श्यामाक, दूर्वा, कमल, विष्णुक्रान्ता मिली रहती है।

अर्घ्य में गंध, पुष्प, अक्षत, जौ, कुशा, तिल, सरसों और दूर्वा पानी में मिलाया करते हैं।

आचमनीय के लिये जल में जायफल, लौंग और कंकोल मिलाया जाता है।

गंध में चन्दन, कपूर और अगर घिसकर लगाया जाता है।

अष्टगंध भी गंध में ही माना जाता है इसका प्रयोग यंत्र लेखन एवं देवता के पूजन में किया जाता है—शक्ति के प्रयोगों में अष्टगंध-चन्दन, अगर, कुंकुम, गौरोचन, जटामांसी, कपूर, कस्तूरी, कपि माने जाते हैं। शिव के पूजन में चन्दन, अगर, कुंकुम, कपूर, तमाल, कूठ, कुशीत और कस्तूरी तथा विष्णु के पूजन में चन्दन, अगर, कपूर, ह्रीवेर, कूठ, जटामाँसी, खश, मुर का प्रयोग किया जाता है। यंत्र लेखन के लिये सर्व-सुलभ अष्टगंध में—दोनों चन्दन, अगर, केशर, कस्तूरी, कुंकुम, गौरोचन, कपूर ग्राह्य होते हैं।

धूप में अगर, खस, गूगल, शक्कर, शहद, चन्दन, घी में मिलाकर जलाये जाते हैं।

मधुपर्क में घी, दूध दही आते हैं। कपास, हड्डी या बाल इस धूप में न रहें।

पंचामृत में घी, दूध, दही, चीनी और शहद माने जाते हैं।

उद्वर्तन—उबटन में हल्दी, सहदेई, शिरीष, लक्ष्मणा माने जाते हैं।

फूल—रात्रि में उपासना करनी हो तो संध्या समय अथवा रात में खिलनेवाले फूल और दिन में करनी हो तो दिन में खिलनेवाले फूलों को ग्रहण करना चाहिए। पूरी तरह खिले हुए फूल अथवा पूर्णतया अविकसित डोडियाँ न लेनी चाहिए। तेज गंधवाले, गंधहीन, कीड़े और बालों से दूषित, अपवित्र बर्तन में रखे हुए, गन्दे हाथों से छूये हुए, नास्तिक या गन्दे व्यक्तियों द्वारा छूये गये, दूसरे के निमित्त लाये गये या दूसरे के लिये उपयोग किये गये, मांगे हुए, धरती पर गिरे, स्नान किये हुए व्यक्ति के द्वारा लाये गये फूल त्याज्य हैं। फूल कभी भी नीचे की तरफ मुख किये हुए अर्पित न करे, पुष्पांजलि में फूल अधोमुख भी हों तो कोई आपत्ति नहीं है। पुष्प न मिले तो पत्तों से ही पूजा कर लेनी चाहिए। विष्णु को तुलसी और शिव को विल्वपत्र अतिप्रिय हैं। लता और वृक्ष के फल उत्तम रहते हैं। पत्ते मध्यम और फल (पुष्पों के अभाव में प्रयोग करने पर) अधम माने जाते हैं।

कोई भी वस्तु सुलभ न हो तो धुले हुए चावल और ये भी न हों तो भावना से ही पूजन करनी चाहिए।

दीप—हमारे कर्म साक्षी के रूप में स्थापित किया जाता है, यह फूल बत्ती या सीधी बत्ती का हो। वह अगर तेल का है तो साधक के दाहिने (सम्मुख स्थित देवता के बाँये)हाथ और घी का है तो साधक के बाँये(देवता के दाँये) हाथ रखा जायगा। जितनी देर उपासना में लगनी है उतनी देर वह जलता रह सके, इतनी व्यवस्था बाती व घी की

कर ली जाय।

पुरश्चरण में हवन भी आवश्यक रूप से किया जाता है। हवन कुण्ड या वेदिका पर किया जाता है। यद्यपि हवन का विधान बहुत विस्तृत है किन्तु साधक एक दिन में अधिक से अधिक सौ माला जप सकता है और सौ माला का दशांश दश माला हुई, एक हजार आहुति के लिये एक हाथ की लंबाई चौड़ाई की वेदिका या कुण्ड बना लेना चाहिए। श्रुचा (घी की आहुति देने के लिये लकड़ी की चम्मच) श्रीपर्णी, शिशपा, अथवा किसी दूधवाले वृक्ष की बना लेनी चाहिए। कुण्ड बनाने पर उसका शिर पूर्व में उत्तर दक्षिण में हाथ और पश्चिम में योनि रहती है तथा मध्य में उदर होता है। चौकोर कुण्ड सर्वसिद्धिप्रद, अर्धचन्द्र के समान योनि के आकारवाला पुत्रप्रद, त्रिकोणाकृति शत्रुहन्ता, गोल शान्ति पुष्टि कर, छेदन-मारण में षट्कोण की आकृतिवाला, अष्टकोण वाला वृष्टिकर एवं ग्रह रोगादि के अरिष्ट को शान्त करने के निमित्त बनाया जाता है।

हवन में समिधा, पीपल, शमी, (खेजड़ा या जाँट) खैर, अपामार्ग, पलाश, गूलर ग्राह्य होता है। किसी विशेष वृक्ष का उल्लेख न हो तो इनमें से जो सुलभ हो उसी का उपयोग कर लिया जाय। जो हवनीय द्रव्य हाथ से आहुति दिये जायेंगे उनको बीच की दो अंगुलियों मध्यमा एवं अनामिका पर रखकर अंगूठे से अग्नि में खिसका देना आहुति देने का तरीका है। श्रुचा से—तरल पदार्थ की—आहुति देनी हो तो श्रुचा को कलम की तरह पकड़ना चाहिए, आहुति फैंक कर नहीं देनी चाहिए। जो लोग काठ का श्रुचा प्राप्त नहीं कर सकते वे तांबे या चान्दी की चम्मच प्रयोग में ले सकते हैं, स्टील की नहीं। पाद्य आदि से पूजा करने पर पाद्य यंत्र या देवमूर्ति के पैरों में, अर्घ्य शिर पर आचमनीय मुख में, पुष्प शिर पर, दीपक कमर से ऊपर तक उठाकर दिखाना चाहिए।

हवनद्रव्यों का प्रयोजन के अनुसार वर्गीकरण इस प्रकार है—

राज्य प्राप्ति के लिये—विल्व या जायफल (फूल), पत्नी प्राप्ति के लिये लाजा, लक्ष्मी प्राप्ति के लिये—कमल या दही, अन्न प्राप्ति के निमित्त घी में डुबोकर अन्न, वस्त्र प्राप्ति के लिये पाँच रंग के फूल, समृद्धि व सम्पन्नता के लिये—घी, दूध या शहद युक्त कमल, निधि प्राप्ति के लिये—घी, विल्व, तिल आकर्षण कर्म में नमक, उच्चाटन के लिये—कौवे के पंख, तिल, जौ या रोही के बीज, मोहन के लिये धतूरे के बीज, उच्चाटन के लिये—कपास, नीम, नये केश, मारण के लिये बकरी का घी, दूध, मनुष्य की हड्डी तथा जिसका मारण करना हो उस व्यक्ति के नाखून एवं बालों को एकत्रित करके, सभी अभिचार कर्मों के लिये कड़वा तेल, तुष, सरसों, बिनौला, कण्टक, काली मिर्च आकड़े का दूध, कटुकी, चिरायता, थूहर का दूध, आयुष्य रक्षा के लिये—घी, तिल, दूब, आम के पत्ते, ज्वर नाश के लिये—खीर सहित आम के पत्ते, रोग नाश के लिये—सफेद सरसों, वर्षा के लिये—बेंत, पुत्र प्राप्ति के लिये—पोता जीवा, वाणी के विकास के लिये—घी-गूगल, सरस्वती की कृपा प्राप्त करने के लिये—जूही, जाति, पुन्नाग के फूल, वृष्टि दूर करने के लिये—दूध एवं नमक, वशीकरण के लिये—लाल पुष्प, अपामार्ग, अंकोल की समिधा शहद के साथ, उच्चाटन में—आंधी में उड़े सूखे पत्ते, बिजली से जले वृक्ष की लकड़ी, ऊँट की हड्डी, कूठ, शान्ति कर्म—में दूब,

गाय का घी, दूध, दही, तिल, चावल, अन्न घी और तिल सर्वार्थ साधक माने जाते हैं। जहाँ अन्य द्रव्यों को मिलाकर हवन किया जाता है वहाँ घी और शक्कर के लिए यथेच्छ मात्रा कही गई है।

हवन की पद्धति का आविष्कार संसार में (वायोकेमिक) जैव रसायन पद्धति का पहला आविष्कार है और इस पद्धति के आविष्कार करने का श्रेय भारत को दिया जाता है। यथार्थ में हवन में जलाये जाने वाले पदार्थों के सूक्ष्मकण व्यक्ति के शरीर में जाकर क्या प्रभाव डालते हैं इसका परिणाम भारतीय भली प्रकार से जानते थे इसीलिए रोगमुक्ति, ग्रहवाधानिवारण और ज्वरादि रोगों की शान्ति के लिए विविध द्रव्यों का हवन करने की विधि प्रयोग में लाई जाती थी। चचेक निकलने पर नीम की वन्दनवार बाँधने जैसी परम्परा प्राकृतिक (एण्टी-सैप्टिक) रोगाणुनाशक विधि है कई साधारण व्याधियों के लिए बालकों के घूणी देने की विधि से भारत की अशिक्षित स्त्रियाँ भी परिचित हैं तथा बफारा देने का रिवाज भी प्राचीन (बूढ़ी) महिलाओं में खूब है। विष्णु को तुलसी प्रिय कहने के पीछे क्या यह व्यावहारिक विज्ञान नहीं है कि पानी में पनपने वाले मच्छर मलेरिया का कारण बनते हैं तथा तुलसी मलेरिया की अच्छी औषधि है। आमला नवमी का व्रत करने वाली स्त्रियाँ तथा आमले की पूजा करने वाली स्त्रियाँ भले ही आमले खाने का महत्त्व न समझें पर आमले की गुणवत्ता से भारत परिचित रहा है।

गुरु—मन्त्र साधन के लिए गुरु एक अनिवार्य तत्त्व है। भारतीय परम्परा में गुरू को सर्वोच्च स्थान व महत्त्व दिया गया है, ब्रह्मा, विष्णु और महेश से भी पावन एवं दायित्वपूर्ण पद गुरू का है। गुरू की सन्तुष्टि सकल कामनाओं की सिद्धि करती है तो उसका कोप या दुराशीष् सत्यानाश कर देती है। कहा है—

शिवे रूष्टे गुरू: त्राता गुरौ रूष्टे न कश्चन

गुरू को प्रसन्न करना जितना दुष्कर है उससे अधिक दुष्कर है इन सम्बन्धों को अक्षुण्ण बनाये रखना। वास्तव में हम हमारे लोभ-मोह से ग्रस्त होकर गुरू कह लेते हैं किन्तु इस भावनापूर्ण सम्बन्ध का अर्थ नहीं समझते और कृतघ्नता अथवा उपेक्षा जैसे आचरण के दोषी बन जाते हैं। यह सम्बन्ध स्वार्थ व लोक व्यवहार से ऊपर है, इसमें व्यावसायिक गणित लगाने वाला हारता है। यदि हम पिता से अधिक पवित्र, दृढ़ और उत्सर्गमय सम्बन्धों को निभा सकते हैं तो हमें गुरू की तलाश करनी चाहिए अन्यथा सोचना भी नहीं चाहिए। जो लोग निश्छल बालक की तरह हैं और राजा हरिश्चन्द्र की तरह अपना सर्वस्व गुरू चरणों में अर्पित कर सकते हैं उनको ही किसी के साथ ऐसे सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए। अपनी कामना, अपने आग्रह, अपने सिद्धांत और अपना अहं रखकर किसी को गुरू बनाया जाएगा तो कालांतर में वह गुरू के दोष ढूंढने लगेगा, आलोचना करने लगेगा, गुरूद्रोही बनेगा। प्रत्यक्षत: गुरू इसके लिए उसे शाप न दे किन्तु व्यवस्था का हनन करने का अपराध तो वह कर ही डालेगा और उसके जो कुफल हैं, उनको देर-अबेर उसी को भोगना होगा। यह यथार्थ है कि यह व्यवस्था केवल शिष्य के लिए ही नहीं है, गुरू के लिए भी संहिता और मर्यादायें हैं किन्तु हम पहले अपने आपको

देख लें। मेरा अपना विश्वास है कि शिष्य की पात्रता गुरू को वाध्य कर देती है और शिष्य अनेक बार उन गूढ़ रहस्यों को गुरू से प्राप्त कर लेता है जो गुरू ने अपने पुत्र को भी नहीं वतलाये।

हमारे व्यावहारिक जीवन में भी हम देखते हैं कि आजतक या जीवन पर्यन्त हम जो कुछ सीखते हैं वह सव गुरू के ही माध्यम से। माँ, पिता, मामा आदि हमारे प्राकृत गुरू होते हैं। प्रायोगिक विषय तो गुरू के बिना चलते ही नहीं, इसलिए शिष्यत्व का विकास हमारी पात्रता है तथा सत्पात्र को गुरू आज या कल मिल ही जाता है। हमारी परम्परा में गुरूहीन व्यक्ति अपूर्ण-निगुरा माना जाता है। खेद का विषय यह है कि जिस वर्ग में नैसर्गिक रूप से गुरुता होनी चाहिए थी वह भी सामजिक आग्रहों से इतना पराजित हो गया कि अपने स्वरूप और स्वभाव को भूल कर लोभी हो गया। खाने के लिए अन्न, पहनने को वस्त्र और रहने को मकान—ये सव सरल, सामान्य स्तर के मिल जायें, इससे अधिक क्या चाहिए? जितना अर्थ का विस्तार होगा उतना ही अनर्थ और अशान्ति का विस्तार होगा। मैं अच्छी तरह देख जान चुका हूँ कि जिनके पास अपरिमित शक्ति और सम्पन्नता है, वे घोर-अशान्त और तनावपूर्ण जीवन जीते हैं, शान्ति और निश्चिन्तता के दो दिन भी उनके भाग्य में नहीं हैं। समाज की दृष्टि में सर्वसुख सम्पन्न वे लोग वास्तव में कितने दुखी और भाग्यहीन हैं—यह वही जानता है जिसने एक वार भी अपने भीतर छुपे आत्मानन्द को प्राप्त किया है। सम्पत्ति का जहाँ तक प्रश्न है—ब्राह्मण के लिए तपस्या, शूद्र के लिए सेवा, क्षत्रिय के लिए सम्पत्ति (कोष) और वैश्य के लिए वाणिज्य ही सबसे वड़ी पूंजी है। जो ब्राह्मण पैसे की चमक में चुंधिया गया वह अपने स्वाभाविक स्तर से पतित हो गया। वैभव-विहीन लोगों के पास चिन्तन होता है, वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे व्यक्ति ही युग-युगों का मार्गदर्शन करने वाले राम जैसे प्रतीक पुरुष को अवतार वना संकते हैं। मेरा आशय यह नहीं है कि ब्राह्मण अपने जीवन में सुविधा से वंचित रहे या वनवासी हो जाये पर सुविधाओं व प्रदर्शनकारी साधनों को जुटाने के लिए अपने ब्राह्मणत्व की हत्या न करे, जिस दिन मनस्वी व्यक्ति को महलों में रख दिया जाएगा, उसके जुलूस निकाले जायेंगे उस दिन उसका ब्राह्म तैजस क्षीण हो जाएगा। ऐसा व्यक्ति भूखा न मरे यह समाज का दायित्व है और ऐसे आयोजनों से दूर रहे—यह उस आत्मनिष्ठ साधक-ब्राह्मण का धर्म है। अस्तु—

शास्त्रों ने गुरू के सम्बन्ध में क्या कहा है—यह भी देख लें—

गुरू—माता और पिता से शुद्ध, जितेन्द्रिय, आगमशास्त्रों के रहस्य का ज्ञाता, परोपकारी, शास्त्रों का मर्म जानने वाला, जप और पूजा करने वाला, सत्यवादी, शान्त, वेदों का अर्थ जानने वाला, देवता हृदयंगम (जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होगा उसी के हृदय में देवत्व प्रकट होगा अन्यथा देवता उससे पराङ्मुख रहेंगे) अत्यन्त वृद्ध न हो, अत्यन्त वालक न हो, गंजा और दुवला न हो, पैर से लँगड़ा, दँतुल, अधिक या कम अंग वाला न हो, गृहस्थ गुरू में कृतज्ञता, वचनचातुरी, विद्याध्यन का अभ्यास, साहस, भूमिशल्य का निराकाण करने की क्षमता, गृहनिर्माणशास्त्र (वास्तु) का ज्ञान, कर्मकाण्ड में निपु-

णता, मुद्रा और तन्त्र की मर्मज्ञता, पवित्रता, स्वच्छ वस्त्र पहनने का स्वभाव हो तथा जो युवा हो, बुद्धिमान्, कृपालु, श्रद्धाशीलसम्पन्न हो और ईर्ष्यालु न हो।

आचार्य, मामा, श्वसुर, चाचा, राजा, नित्य हवन करने वाला—ये सब हमारे व्यवस्थाकृत गुरू हैं। पिता, माता, बड़ा भाई ये हमारे प्राकृत गुरू हैं।

गुरू के लिए अवान्तर लक्षण यह भी बताया है—जिस प्रकार किसी देवता की प्रतिमा देखने से हमें सन्तुष्टि होती है तथा जिसकी संगति से हमें आन्तरिक आश्वस्ति मिलती है वह भी गुरू होता है, उससे लिया मन्त्र सिद्धिप्रद रहता है। जिस व्यक्ति को गुरू रूप में मान लेने पर, जिसके मिलने से हमारे में प्रसन्नता होती है उससे लिये हुए मन्त्र या विद्या से हमारा अभ्युदय होता है।

शिष्य—अच्छे कुल परम्परा में उत्पन्न, पवित्रात्मा, पुरुषार्थी, वेदों का ज्ञाता, चतुर, काम-वासनाओं का परित्याग किया हुआ, आस्तिक, नास्तिकों की संगति से दूर रहने वाला, जीवों का हित चाहने वाला, पिता और माता का भक्त, अपने धर्म में रत रहने वाला, मन, वचन, काया और धन से गुरू की सेवा करने के लिए तत्पर, जाति, विद्या और धन के अहंकार से रहित, गुरू की आज्ञा का पालन करने के लिए अपने आपको उत्सर्ग कर देने वाला, अपने को दास की तरह और अबोध शिशु की तरह (गुरू के समक्ष) समझने वाला, अपने काम को छोड़कर गुरू के काम करने के लिए तैयार, मन्त्र का जप और पूजन करने वाला, रहस्यों की रक्षा (दूसरों के सामने प्रकट न) करने वाला, त्रिकाल प्रणाम करने वाला, शिष्य होता है।

शिष्य के आचरण—गुरू के समक्ष अधिक बोलना, गप हाँकना, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मजाक, व्यर्थ की प्रशंसा, कुटिलता, गुरू को ऋण देना या ऋण लेना, गुरू के साथ क्रय-विक्रय, गुरू की वस्तुओं का लेन-देन, गुरू की निन्दा (दूसरे करते हों तो उनको रोकना, न रोक सके तो उस स्थान से हट जाना) गुरू के आगे अलग से पूजा, व्याख्या, दीक्षा तथा अपनी प्रभुता का प्रदर्शन न करे। गुरू के आसन शैय्या, गहने, जूते का उपयोग न करे। गुरू की ओर मुख करके, प्रणत भाव से बैठा रहे। जिस प्रकार गुरू से व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार गुरू पत्नी से करना चाहिए।

भक्तिक्रम इस प्रकार बतलाया है—जिस प्रकार का भाव देवता में होता है, उसी प्रकार का मन्त्र में, और मन्त्र के जैसा ही भाव गुरू में और गुरू जैसा ही भाव आत्मा अपने प्रति रखना चाहिए।

विशेष—व्यक्ति एक बार जिस व्यक्ति को गुरू मान लेता है तथा बाद में वह किसी अन्य व्यक्ति से कोई प्रयोग सीख कर कोई दुष्कर्म करता है तो उसका दोष मूल गुरू को लगता है जैसे मन्त्री का दोष राजा को, पत्नी का दोष पति को और पुत्र का दोष पिता को लगता है। गुरू के प्रति अनन्य भक्ति रखने से देवता प्रसन्न होते हैं और देवता की प्रसन्नता से मन्त्र सिद्ध होता है किन्तु इस सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन है कि गुरू की शपथ या उसके नामस्मरण का अधिक उपयोग किया जाएगा, सांसारिक कर्मों के निमित्त इन सम्बन्धों का अनर्गल उपयोग किया जाएगा तो इससे गुरू के तपस्या कोष में अनजानी हानि होगी। गुरू संचित करता जाएगा और शिष्य उसमें से चुपचाप

खर्च करते जायेंगे—यह अशोभन आचरण है, इसका फल गुरू की यथार्थ हानि है इसलिए जहाँ गुरू स्मरण एवं उसकी साक्षी आवश्यक है तथा जिसके लिए गुरू की आज्ञा है एवं शास्त्रीय व्यवस्था है वहीं उनका उपयोग किया जाये, अनिवार्य स्थिति में ऐसा कर दिया जाये तो उसकी सूचना आवश्यक रूप से दे दी जाये।

मन्त्र साधक के आचरण—इमली, शलजम, विल्व, (वेल) कलौंजी, लहसुन, तेल में बने पदार्थ, पिण्याक, सिंघाड़े और वासी भोजन उन साधकों को नहीं खाने चाहिएँ जो सरस्वती के मन्त्र की उपासना करते हैं। इसके साथ रात में पान खना, दिन में स्त्री सम्पर्क, संध्या समय सोना, अपवित्र स्थिति (दीर्घ शंका और लघु शंका करते समय तथा अशौच मुख) में बोलना, स्त्रियों की निन्दा करना, रजस्वला से समागम करना, नग्न स्त्री को देखना, असत्य भाषण करना, पुस्तक को लांघना, प्रतिपत् (एकम) अष्टमी, चतुर्दशी, ग्रहण, सूर्य संक्रान्ति एवं पर्व दिवसों में अध्ययन करना, अध्ययन के समय निद्रा आलस्य व जम्हुआई आदि का परित्याग कर देना चाहिए।

अध्ययन करते समय क्रोध, थूकना आदि न करे, गुप्तांगों का स्पर्श भी नहीं करना चाहिए। यदि कोई पापी मनुष्य, सर्प, विल्ली, मैंढक या नेवला पाठ करते समय आ जाये और रात्रि में दीपक बुझ जाये तो पाठ बन्द कर देना चाहिए। इन विघ्नों के दूर चले जाने पर फिर प्रारम्भ किया जा सकता है। लक्ष्मी मन्त्र की उपासना करने वाले व्यक्ति को सदा प्रसन्न मुख रहना चाहिए। भोजन करते समय पश्चिम की तरफ मुख करना चाहिए। इत्र-फुलेल-फूलों की माला औरस्वच्छ-दिव्य वस्त्र धारणकरने चाहिए। स्वच्छ शैय्या पर युवती स्त्री के साथ सोना चाहिए, किसी पराई स्त्री के साथ नहीं, तेल की मालिश करके भोजन करना, नंगा होकर पानी में उतरना, मुंह पर हल्दी को लीपना, अपवित्र अवस्था में बोलना, धरती पर लिखना, केवल नमक व तेल खाना वर्जित है। विल्व पत्र, कमल पुष्प, द्रोण को शिर पर धारण करना अच्छा है, गन्दे कपड़े पहनना, गन्दा रहना, खराव अन्न खाना मना है। द्रोण, कमल और विल्व को लांघना वर्जित है। सहदेई, इन्द्रवल्ली, श्री वल्ली, अंवुज और मूंगे को शिर पर धारण करना चाहिए। कमल को सूंघना या लांघना और कमल वीजो को खाना निषिद्ध है। सत्यभाषी और विष्णु की भक्ति करने वाला रहे, गन्दा न रहे, तिनके न तोड़े, धरती पर न लिखे तथा धरती पर न सोये, पंचमी तिथि को नमक और सप्तमी तिथि को आमला न खाये, पंचमी तिथि और उत्तरा नक्षत्र में स्त्री संग न करे, पश्चिम दिशा की तरफ मुख करके भोजन करे, विल्व की लकड़ी से दान्तुन न करे, प्रातःकाल तिलों का सेवन करे, शुक्ल पक्ष में विल्व वीज और खीर न खाये, चौलाई का शाक, गूलर का फल, श्राद्ध का अन्न और नया अन्न न खाये, कमल और आक के पत्ते में भोजन न करे, तुष और विनौले को न छुये, विल, गोबर और ब्राह्मण की छाया न लाँघे।

साधक को **हविष्यान्न** खाने का निर्देश है। हविष्यान्न में साठी चावल, मौसमी साग-सब्जियां, जड़ें, जमीकन्द के अलावा कन्द, सैंधा और समुद्री नमक, गाय के घी, दूध, आम, हल्डे, इमली, जीरा, नारंगी, केला, गुड़ की नहीं—गन्ने के रस से वनी वस्तुयें तथा तेल में न पकी वस्तुयें मानी जाती हैं।

जप करने का योग्य स्थान—नास्तिक, दुष्ट, हरिण आदि से रहित तथा आशंका और भय से विमुक्त वन में अथवा भक्ति भावना से युक्त, निन्दा रहित, सम्पन्न, धार्मिक, भौतिक व दैविक उपद्रवों से रहित जहाँ भक्तों का समागम होता है वहाँ अत्यन्त रमणीक प्राकृतिक स्थान में, जप करना चाहिए। दूसरे के अधीन स्थान में, जहाँ राजा, मंत्री एवं राज्याधिकारियों का आवागमन होता हो, पुराना देव मन्दिर, सार्वजनिक बाग, जीर्ण घर, पेड़ के नीचे, नदी के किनारे, पहाड़ी कुंज और धरती में बने छिद्रों में न रहे।

तान्त्रिक पीठ—इनसे भिन्न विपरीत भी हुआ करते हैं। काली,तारा, मातंगी, आदि उग्र रूपों की साधना करने वाले साधक शव, श्मशान और श्यामा पीठ पर उपासना करते हैं। अरण्यपीठ भी तांत्रिक साधकों के लिये मनोरम स्थान हुआ करता है। वस्तुतः इन मंत्रों के साधक को भय व घृणा जैसे भावों पर विजय प्राप्त करनी होती है। तंत्र ने अरण्य वा निर्जन प्रदेश के जो लक्षण बताये हैं उनके अनुसार भयावह स्थान ही अरण्य-पीठ होता है। भयावह होने के पीछे हिंस्र जन्तुओं का होना कारण नहीं होता पर जिन स्थानों पर जाते हुए एक सामान्य व्यक्ति को भय लगे। कई मंत्रों की साधना के लिये वे एकान्त स्थान चुने जाते हैं जो जन संचार से रहित होते हैं, इनमें वे पुराने मकान भी आते हैं, जिनकी गन्दगी व शून्यता को देखकर हम भूतवास कह देते हैं। श्मशान पीठ हम जानते ही हैं, शव पीठ में मुर्दे को आसन बनाकर उस पर बैठकर साधना करते हैं, श्यामा पीठ में सुन्दर युवती साधना का आधार बनती है। वात्स्यायन ने रमणीय स्त्रियों के अन्य आयामों के आधार पर वर्गीकरण किए हैं तंत्रशास्त्र ने अपनी दृष्टि से। कामशास्त्र ने पद्मिनी स्त्री के रूपाकार के जो आयाम बताये हैं वे तंत्र में भी मान्य हैं। उग्र मंत्रों के साधन करते समय भय को विजय करने से व्यक्ति की पात्रता-शक्ति के आवेश हो सकने की योग्यता विकसित होती है तो श्यामा साधना में परम रूप लावण्यवती स्त्री को माध्यम बनाने से काम के पाशविक एवं प्रबल आवेश पर नियंत्रण पाकर पात्रता अर्जित करनी होती है। वास्तव में ये वीराचार के स्तर के साधन हैं, सामन्य स्तर पर इनका उपयोग नहीं किया जाता।

उत्तम पूजा अथवा अनुष्टान करने का स्थान—वह शिव मन्दिर जिसमें वृषभ या नन्दिकेश्वर की मूर्ति नहीं है तथा जिसका मुख पश्चिम दिशा में है अथवा जिस प्रदेश में पीपल या बिल्व के वृक्षों का कुंज हो अथवा जहाँ विविध पुष्पित वृक्षों का झुरमुट हो। घर पर पूजा करने पर मंत्र जप का सामान फल होता है, गायों के बांधने बाड़े में सौ गुना, बगीचे अथवा जंगल में हजार गुना, पर्वत पर दस हजार गुना, नदी में—विशेष कर समुद्र में जाकर मिलने वाली नदी में लाख गुना, देवालय में करोड़ गुना फल होता है। आज के युग में देव मन्दिरों की भीड़ और एकान्त देव मन्दिरों के सुलभ न होने के कारण घर पर ही मंत्र जप करना संभव और सुविधाजनक रहता है। सुविधा हो तो किसी घर में अनेक देवताओं की मूर्तियाँ, चित्र या यंत्रादि स्थापित करके उसे ही देवालय का रूप दे दिया जाना चाहिए। उसमें पवित्रता और शान्तिमय वातावरण बनाए रखना चाहिए। गृहस्थों के यहाँ बनाए जाने वाले मन्दिर में कोई भी एक—अकेले

देवता की मूर्ति या चित्र स्थापित नहीं करना चाहिए। इस विविधता में भी यह ध्यान रखना चाहिए कि परस्पर विरुद्ध गुण धर्मा देवताओं को एकत्र नहीं करना चाहिए जैसे विष्णु और कालिका, शालिग्राम और भैरव, हनुमान और गणपति अथवा भैरव। मूर्ति अगर स्थापित की जाती है तो वह नौ अंगुल से अधिक वड़ी गृहस्थ के घर में स्थापित नहीं की जानी चाहिए। चित्रों वा मूर्तियों में समग्र परिवार न भी हो तो भी युगल तो स्थापित किया ही जाना चाहिए। विशेषतया देवी के स्वरूपों में, महा विद्याओं में इसका ध्यान रखना आवश्यक है। शक्ति के सहचर शिव स्वरूपों का विवरण इस प्रकार है— इनको देवी स्वरूप के दाहिनी ओर स्थापित किया जाय जिससे ये शक्तियाँ वाम भाग में आ जाँय। इनमें धूमावती विधवा है इसका दाहिना भाग रिक्त रहता है, दक्षिणा कालिका के महाकाल, तारा के अक्षोभ्य, त्रिपुर सुन्दरी के पंचमुखी त्रिनेत्र शिव, भुवन सुन्दरी के त्रिनेत्र-त्र्यंबक, छिन्न मस्ता के कवंध, बगलामुखी के एकमुख महारुद्र, मातंगी के मतंग, कमला के विष्णुरूप सदाशिव, अन्नपूर्णा के दशमुख ब्रह्मा, दुर्गा के नारद दक्षिण भाग में विराजमान रहते हैं। जिन मंत्रों में किसी देव स्वरूप का निर्देश नहीं किया गया है वहाँ ऋषि ही अनेक भर्ता होते हैं तथा उन शक्ति रूपों के दाहिने भाग में उन ऋषियों की स्थापना कर लेनी चाहिए।

अनुष्ठानों में क्षेत्रपाल, दिक्पाल, दिक्पतियों के आयुध, वाहन आदि का उल्लेख आता है अतः यहाँ जानकारी के लिए इनका विवरण दिया जा रहा है।

क्षेत्रपाल—अमृत, वृषभ, शैलराज, वासुकि, अर्थकृत, शक्तिपूः पद्मयोनि, महाशंख।

दिक्पाल—क्रमशः पूर्व से दक्षिण होते हुए—इन्द्र, अग्नि, यम, रक्षः वरुण, वायु, चन्द्र, निर्ऋति, अनन्त, ब्रह्मा। दश दिशाओं में चार दिशायें, चार विदिशायें, ऊपर और नीचे इस प्रकार दस होती हैं।

आयुध— वज्र, शक्ति, दंड, खड्ग, पाश, अंकुश, गदा, त्रिशूल, पद्म, चक्र क्रमशः पूर्वादि दिशा के स्वामियों से माने जाते हैं।

पूजोपचार—(कम से कम) पंचोपचार— धूप, दीप, गंध, पुष्प, नैवेद्य।

षोडशोपचार—आसन, स्वागत, अर्घ्य, पादत, आचमनीय, मधुपर्क, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेदय, नमस्कार।

अष्टादशोपचार—आसान, आवाहन, अर्घ्य, पादय, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, आभूषण, गंध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेदय, माल्य, अनुलेप, नमस्कार, विसर्जन।

षट्त्रिंशदुपचार— (छत्तीस उपचार) आसान, आवाहन (उपस्थापन) सन्निधि, अभिमुख, स्थिरीकरण, प्रसाधन, अर्घ्य, पाद्य, आचमन, मधुपर्क, स्नान, नीराजन, वस्त्र आचमनीय, उपवीत, आचमनीय, भूषण, दर्पण, गंध, पुष्प, धूप, नैवेदय, पानीय, आचम, हस्तवास, तांबूल, अनुलेप, पुष्पहार, गीत, वादय, नृत्य, स्तुति, प्रदक्षिणा, पुष्पांजलि नमस्कार।

साधना किये बिना कोई भी मंत्र कार्यक्षम नहीं होता। इस साधना से मंत्र एक

यंत्र (मशीन) की तरह काम करने लायक हो जाता है, जिसे किसी भी समय किसी भी स्थान पर काम में लिया जा सकता है। इस साधना को पुरश्चरण कहा जाना है पुरश्चरण एक नियतकालिक अनुष्ठान है जिसमें सभी नियमों का कठोरता पूर्वक पालन करते हुए साधना की जाती है। पुरश्चरण करने के लिये विभिन्न मंत्रों की भिन्न-भिन्न संख्या निर्धारित की गई है। साबर मंत्र इस कलियुग के लिये रचे गए हैं इसलिए इनकी संख्या अपेक्षया कम रहती है. शास्त्रीय मंत्रों में भी अनेक मंत्र ऐसे हैं जिनका पुरश्चरण पचास बार जपने से भी हो सकता है तो कई ऐसे हैं जिनका पुरश्चरण कई लाख जप करने पर सम्पन्न होता है।

पुरश्चरण पवित्र अनुष्ठान है, इसमें मंत्र ग्रहण —दीक्षा— करके विधिपूर्वक अनुष्ठान समाप्ति तक नित्य जप करना होता है। जो मंत्र बिना दीक्षा के भी फलप्रद हो सकते हैं उनमें स्वप्न में उपदिष्ट, योगिनी प्रदत्त, अनायास रूप से प्राप्त और जिस देवता या मंत्र के प्रति अबोध अवस्था से ही रूझान हो—माने जाते हैं। मंत्रोपासना में गुरु अनिवार्य रूप से मान्य होता है। ऊपर गुरु के लक्षण लिखे जा चुके हैं, इस प्रकार का गुरु भी मिल ही जाता है पर जो लोग न पा सकें वे तांत्रिक गंत्रों की साधना के लिए एकलव्य की तरह देवादि देव भगवान् सदाशिव को गुरु के रूप में मानकर अपना अनुष्ठान कर सकते हैं। एक वात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि किसी भी व्यक्ति को गुरु मानने से पहले चाहे जितने शंका-विकल्प कर लेने चाहिएँ किन्तु गुरु रूप में मान लेने के वाद उसे निभाना चाहिए। यदि हम उसके दोषों को देखने लगेंगे अथवा उसके चरित्र में संभव कमियों को गिनने लगेंगे और उसके अज्ञान का लेखा-जोखा करने लगेंगे तो इससे हमारी वृत्ति कलुषित होगी, गुरु को अपने किये का फल मिलेगा पर उसके दोषों पर विचार करके हम भी उनमें भागीदार बन जाएंगे इसलिए निर्णय करने के बाद उस पर सोच-विचार करना अनुचित रहता है। दूसरी बात यह भी है कि गुरु को पहचानने में हमारे ज्ञान के अनुसार हम कभी नहीं रखते किन्तु गुरु के रहस्यों को प्राप्त करने के लिए हमारे में पात्रता होनी ही चाहिए। गुरु की कृपालता तक पहुंचने के लिए श्रद्धा, धैर्य, सेवा और निष्ठा आवश्यक है। हमारे पौराणिक उपाख्यानों में गुरु की कठोरता पर विजय पाने वाले शिष्यों के धैर्य एवं अविचल निष्ठा एवं निश्छल सेवा के कई उदाहरण हैं, इस प्रकार से शिष्य गुरु से जो चाहे सो ले सकते हैं, वे सामान्य सांसारिक व्यक्ति को भी गुरुत्व से भूषित करके महनीय बना सकते हैं, इसलिए मेरी दृष्टि में शिष्य महान् होता है। हम जिन ऋषियों के ग्रंथ पढ़कर ज्ञान प्राप्त करते हैं वे तो आज नहीं हैं, किन्तु हमारी पात्रता के कारण ही उन शास्त्रों का रहस्य प्राप्त करते चलते हैं, उनकी प्रच्छन्न कृपा से हमारा अज्ञान कषाय धुलता चला जाता है और ज्ञान का भास्वर प्रकाश हमारे इतस्ततः फैलता चला जाता है। शास्त्र कहते हैं—

गुरुं न मर्त्यं बुध्येत, यदि बुध्येत तस्य तु
कदापि न भवेत्सिद्धिः न मन्त्रैः देव पूजनैः

गुरु को कभी भी मनुष्य न समझे, यदि उसे मनुष्य समझा जाएगा तो मंत्रों से

या देवपूजन से कोई भी सिद्धि कभी भी नहीं मिलेगी। जो लोग शारीरिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए शरीरश्रेष्ठ गुरुकी आवश्यकता रहती है अन्यथा गुरु से हमारा तात्पर्य उसके बौद्धिक स्तर एवं गुणालंकृत व्यक्तित्व से होता है आज तक विश्व में जितने प्रसिद्ध लोक शिक्षक हुए हैं उनमें अधिकांश—अष्टावक्र,चाणक्य, सुकरात जैसे लोग वाह्य दृष्टि से मोहक व्यक्तित्व वाले नहीं हुए। शिष्य की उच्चता और पात्रता का वर्णन करते हुए शास्त्र कहते हैं—

"यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः"

अर्थात् जिस व्यक्ति की देवता में अचल निष्ठा है और जैसी निष्ठा देवता में है वैसी ही गुरु में है उसी पर यह गूढ रहस्य प्रकाशित होते हैं। अस्तु। पुरश्चरण के निमित्त किये जाने वाले अनुष्ठान में चतुरंगी, पंचांगी या षडंगी साधना की जाती है— ध्यानं पूजा जपः होमः ये चार अंग हैं, पंचांग में ब्राह्मण भोजन और षडंग में तर्पण भी गिना जाता है। चतुरंगिणी सेना जिस प्रकार सम्पूर्ण विजय वाहिनी मानी जाती है, उस प्रकार पूजा के भी चार अंग संपूर्णता को द्योतित करते हैं। जो लोग ब्राह्मण भोजन और तर्पण नहीं कर सकते उनके लिए उसकी मात्रा के अनुसार जप कर लेने का विधान है।

यहाँ हम पुरश्चरण क्रिया पर विस्तार से विवेचन करते हैं। यद्यपि पुरश्चरण करने वाले के उठने से लेकर रात्रि में सोने तक के सारे आचार-व्यवहार के संबंध में शास्त्र के स्पष्ट निर्देश हैं किन्तु आज के युग की जटिलता को देखते हुए यह संभव नहीं कि उनका अविकल रूप से पालन कर लिया जाय इसलिए संक्षेप में आचार संहिता में यही ध्यान रखा जाय कि कोई भी ऐसा काम न किया जाय जिससे किसी को कष्ट हो, भावनात्मक ठेस भी लगे, वाक् संयम—असत्य भाषण, आत्म प्रशंसा, अनावश्यक वार्तालाप, कामुकता के प्रसंग का परित्याग करना है, भोजन में हविष्यान्न अच्छा धान्य या शाक फलादि, शुद्धता पूर्वक वनाया गया, वनाने वाला वनाते समय पवित्र विचार धारा रखे, चर्चा में किसी भी प्रकार की निन्दा, ईर्ष्या आदि न रहे, देवता एवं साधना किए जा रहे तंत्र का चिन्तन करते रहना श्रेयस्कर रहता है, इससे व्यक्ति का वाह्य एवं आन्तरिक वातावरण निर्मल रहता है और इस निर्मलता से सिद्धि मिलती है जप स्थान के संबंध में विचार किया जा चुका है। प्रयोग प्रारंभ करने से पूर्व प्रतिदिन पाप पुरुष का ध्यान करके प्राणायाम में 'सं' इस वायु वीज का जप करते हुए शोषण करे तथा रं बीज का जप करके जलाये। हमारे पूर्वजन्मों के पाप व शाप हमारी साधना के फलीभूत होने में वाधक वनते हैं इसलिए पाप पुरुष का ध्यान करके उसका शोषण करना अच्छा रहता है। पाप पुरुप का ध्यान इस प्रकार है—

ब्रह्महत्याशिरस्कं च स्वर्णस्तेयं भुजद्वयं, सुरापानहृदा प्रोक्तं गुरूतल्प कटिद्वयम्
तत्संयोगि पदद्वन्द्वं अंग प्रत्यंग पातकं, उपपातक रोमाणं रक्तश्मश्रु विलोचनम्।
खड्गचर्मधरं पापं अंगुष्ठ परिणामकम् अधोमुखं कृष्णवर्णं दक्षपार्श्वे विचिन्तयेत्।

अर्थात् हमारे अंगुष्ठ जितने परिणाम के शरीर वाला यह पाप पुरूष कालेरंग

का अधोमुख, खड्ग और चर्म को धारण किये हुए लाल दाढी व आँख वाला है—ब्राह्मण की हत्या के दुष्कर्म से इसका शिर, सोने की चोरी से हाथ, मदिरा पान से हृदय, गुरु पत्नी गमन से कमर, इस जैसे अन्य कर्मों से दोनों पैर और उप पापों से रोम वने हुए है और यह हमारे दाहिने पार्श्व भाग में रहा करता हैं इस पाप पुरुष को कल्पना में रख कर तीन प्राणायाम करे, पूरक प्राणायाम करते समथ 'यं' वीज का जप करते हुए यह भावना करे, कि इससे वह पाप पुरुष शोषित हो रहा है फिर कुंभक में 'रं' इस अग्नि वीज का जप करते हुए यह सोचे कि इससे पाप पुरुष जल रहा है। जिस दिन से पुरश्चरण करना हो उससे पहले, सात्विक देवता की या मंत्र की साधना करती हो तो दस हजार (अथवा जैसी गुरु की आज्ञा हो), गायत्री (ब्रह्म गायत्री या उसी मंत्र की गायत्री) का जप करना चाहिए। राजसी-वशीकरण, सम्मोहनादि के प्रयोगों में कामाख्या के मंत्र का और तामसी प्रयोगों में काली के मन्त्र का जप करना श्रेयस्कर रहता है।

एक शास्त्रीय वचन के अनुसार—

"सुतीर्थे प्रजपेन्मन्त्रं पूर्वं पाप विमुक्तये, शुद्धदेहाय मंत्रोऽसौ ततः सिद्धिं प्रयच्छति"

अर्थात् किसी भी मंत्र का पुरश्चरण करने से पूर्व किसी पवित्र स्थान पर रहकर पाप मोचन के लिये उपर्युक्त में से किसी भी मंत्र का या उसी मंत्र का या गुरु द्वारा निर्दिष्ट किसी मंत्र का जप करने से साधक पाप मुक्त हो जाता है और इससे पुरश्चरण में सफलता मिल जाती है। पुरश्चरण में अपने पहले से किये जा रहे नित्य कर्म को करने के पश्चात् यह नैमित्तिक कर्म किया जाता है। पुरश्चरण की परिभाषा करते हुए तंत्र कहता है—

"साधनं मूलमंत्रस्य पुरश्चरण मुच्यते
पुरश्चरणीयत्वा विनियोगादि कर्मणाम् ॥

मूल मंत्र की साधना ही पुरश्चरण है विनियोगादि कर्म इसके पूर्ववर्ती होते हैं इस लिये पुरश्चरण कहा जाता है। किसी भी पुरश्चरण निमित्त किये जाने वाले जप में सवसे पहले तिथिवार, नक्षत्रादि का विचार करके, कार्यारंभ किया जाता है। इष्टदेव, गुरु-चरण कुलदेवता, स्थान देवता को नमस्कार करके संकल्प लिया जाता है। संकल्प में देश काल (तिथि, वार) का उल्लेख करते हुए अपने गोत्र व नाम का उच्चारण करते हुए मन्त्र का नाम व संख्या के साथ अहं करिष्ये यह कहकर हाथ में लिए हुए जल को धरती पर छोड़ दिया जाता है। इसके वाद विनियोग किया जाता है। विनियोग का अर्थ होता है इन्वेस्टमैंट। तंत्र विनयोग की परिभाषा देता है—

"धर्मार्थ काममोक्षेषु शास्त्र मार्गेण योजनम् सिद्धमंत्रस्य संप्रोक्त विनियोगः"

सिद्ध मंत्र का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में शास्त्रीय विधि के अनुसार लगाना ही विनियोग कहा जाता है। विनियोग में मंत्र का नाम, ऋषि, छन्द, देवता, बीज और शक्ति का विवरण दिया रहता है इसलिसे उनका उच्चारण करते हुए प्रयोजन को वोलना होता है, फिर जपे विनियोगः कहकर जल को धरती पर छोड़ दिया जाता है। विनियोग के पश्चात् ध्यान किया जाता है, ध्यान के लिये मंत्र या श्लोक संबंधित प्रयोग में दिया

गया रहता है, जहां ऐसा श्लोक नहीं होता वहाँ मूलमंत्र से ही ध्यान किया जाता है। मंत्र जिस प्रकार का होता है तदनुसार देवता का स्वरूप इसी अध्याय में पहले लिखा जा चुका है। पुरश्चरण कर्ता को करणीय और त्याज्य कर्मों का ज्ञान होना चाहिए।

भोजन एक बार किया जाए, भोजन में हविष्यान्न प्रयोग किया जाए यदि एक बार के आहार से तृप्ति न हो तो शाम के समय दूध या फल ले लिये जाँय।

त्याज्य पदार्थों में भील का नमक, मांस, कांसी के वर्तन में भोजन, शलजम, गाजर, उड़द, मसूर, चना, और पान एवं उत्तेजक पदार्थ। दुर्जनों की संगति और लापरवाही छोड़ देनी चाहिए। मन का संयम, पवित्रता, मौन पालन करने उतावल-उत्सुकता व व्याग्रता, हीनता, दुःख से प्रभावित न होने से मंत्र का सामर्थ्य बढ़ता है इसे मंत्र संपत् कहा जाता है। मंत्र साधना में निश्चित व शीघ्र सफलता के लिये भूमि शयन, ब्रह्मचर्य, मौन, ईर्ष्याद्वेष से दूर रहना, नित्यस्नान, ओछे काम न करना, नित्य पूजन, नित्यदान, देवता की स्तुति व कीर्तन करना, नैमित्तिक पूजा गुरुऔर देवता पर विश्वास, निष्ठा पूर्वक जप।

वर्जित कार्य—स्त्रियों, शूद्रों, पतितों, और नास्तिकों के साथ संभाषण, असत्य कुटिल और जूंठे मुँह वोलना, अधिक वोलना, किसी अन्य देवता का पूजन, वाणी-काया और मन से स्त्रियों के प्रति निःस्पृह भाव रखना, गीत, वादय नृत्य (देवता की पूजा में किया जाने वाला नहीं) उबटन, पान, मालिश (सुगंधित द्रव्यों का लेप या सुगंधित तेल की मालिश) फूल या फूल माला धारण करना, अनिवेदित भोजन (देवता को अर्पित न किया गया भोजन) गर्म पानी से स्नान, इत्र आदि का प्रयोग न किया जाय। स्नान पंचगव्य से या आमले से किया जाना चाहिए।

जप करते समय गन्दे हाथ से, नग्न, शिर ढंके हुए, व्यर्थ की वात करते हुए जप करने से वह जप निष्फल जाता है। जप के वीच में एक शब्द वोलने पर प्रणव मंत्र वोलकर, असंस्कृत शब्द वोलने पर प्राणायाम करके, अधिक वोलने, छींक आने, अस्पृश्य अंग को छूने पर मंत्र का न्यास करके फिर जप करना चाहिए। मंत्र जप करते समय शिर पर पगड़ी या अन्य आवरण न रहे नग्न, बिना संवारे वाल, स्त्रियों से घिरा, खुले हाथ वाला (माला को गौमुखी में रखकर) चिन्ताकुल चित्त, भूखा, क्रोधाविष्ट, विना आसन, सोया हुआ, चलता हुआ, खड़ा होकर, गली में स्थित, जूते पहने हुए, अपवित्र स्थान में, पलंग (विस्तर) पर वैठा हुआ, किसी पशु की सवारी करते हुए (अन्य सवारियों में भी जप करना इसलिये वर्जित है कि उनकी भीड़-भाड़ में किसी का स्पर्श, वीड़ी-सिग्रेट का धुंआ जैसे संसर्ग से मन की एकाग्रता भंग होती है मानसिक जप में ये व्यवस्थायें शिथिल रहती हैं। पैर फेलाकर, उत्कट आसन लगाये हुए, जप नहीं करना चाहिए। पतित आचरण करने वाले लोगों, शूद्रों, को देखने व उनसे वात करने पर, जम्हुआई आने पर अपन्त वायु निकलने पर जप को छोड़कर आचमन, प्राणायाम और न्यास करके जप प्रारंभ करना चाहिए। जप करते समय मुर्गा, विल्ली, कुत्ता, गधा, वानर को देखकर अथवा अपना रूप दर्पण में देखने पर आचमन करके (संभव हो तो स्नान करके) न्यास करके

जप प्रारंभ करना चाहिए।

स्मरण रहे भैरव की उपसना में कुत्ते को, हनुमान की उपासना में वानर का, ताम्रचूड की उपासना में मुर्गे का, शीतला की उपसना में गधे को देखना अशुभ नहीं माना जाता इसलिए जप छोड़ा नहीं जाता। जप छोड़ने का अर्थं है माला में जितने मंत्र जपे जा चुके उनको छोड़ दिया जाए तथा फिर से उस माला को प्रारंभ किया जाए। मंत्र जप में मंत्र का उच्चारण बहुत धीमे या तेज नहीं करना चाहिए। पुरश्चरण में जितनी मात्रा प्रतिदिन के लिए नियत जाती है उतनी की जानी चाहिए मात्रा को घटाना वढ़ाना ठीक नहीं न्यूनाधिक करने से जप भ्रष्ट हो जाताहै। निरन्तरता का पालन किया जाए, दिन का उल्लंघन न किया जाए, शिव, सूर्य, अग्नि, गुरु अथवा दीपक (या मंत्र देवता के यंत्र चित्र) की साक्षी में जप करना चाहिए। कुश की शैय्या या अन्य पवित्र आस्तरण पर शयन करना है, पवित्र वस्त्र धारण करे, पहने वस्त्रों को नित्य धोवे—एक ही वस्त्र पहन कर अथवा वहुत सारे वस्त्र पहन कर जप न करे। रोग या अन्य कारण से किसी दिन जप न कर सके तो किसी सदाचारी व्राह्मण से अपने निमित्त करा ले या अगले दिन उससे दुगुना, तीसरे दिन चौगुना जप करना चाहिए उससे अधिक विक्षेप पड़ने पर अनुष्ठान फिर से प्रारंभ करना पड़ता है।

सूतक के संबंध में शास्त्रों का मत है कि व्रत, यज्ञ, विवाह, होम, पूजा, और जप के प्रारंभ कर देने के वाद सूतक नहीं लगता, प्रारंभ करने से पहले सूतक और आशौच लगते हैं। सूतक में प्रचलित लोकाचार मान्य है।

जप की परिभाषा कहते हुए तंत्र कहता है—**जपः स्यादक्षरावृत्तिः**—

अक्षरों की वारंवार आवृत्ति को ही जप कहते हैं।

जप तीन प्रकार का होता है—वाचिक: उपांशु और मानसिक। ऊंचे स्वर में श्रवणीय ध्वनि से किया गया जप **वाचिक** कहलाता है थोड़े ओंठ चलाते हुए फुसफुसाहट के रूप में किया गया जप **उपांशु** होता है। सिर, गर्दन को विना हिलाये जीभ और ओंठ को न चलाये तथा मन से चिन्तित बीज को दान्तों से दवाये (चलायें) विना किया गया जप **मानस** कहलाता है।

पुरश्चरण के लिए सर्वोत्तम समय ग्रहण का है, ग्रहण के पहले दिन निराहार रहकर ग्रहण के समय नदी में नाभिमात्र जल में खड़ा रह कर जव तक ग्रहण रहे तव तक मंत्र जप करता रहे फिर जितना मंत्र जप किया उसका दशांश हवन आदि करके मंत्र की सिद्धि के निमित्त गुरु की अर्चा करके उसे प्रसन्न करे ऐसा करने से देवता प्रसन्न होते हैं और पुरश्चरण के विना भी मंत्र सिद्ध होता है। विनियोग के वाद मंत्र के देवता की पूजा की जाती है। पूजा दो प्रकार की होती है सनिर्माल्य और अनिर्माल्य। अनिर्माल्य मानसी पूजा उत्तम पूजा होती है क्योंकि उसमें वाह्य उपकरण नहीं रहते, षट् चक्रों को पंच तत्त्वों का प्रतिनिधि वनाकर पूजा की जाती है। यह पूजा साधारण स्तर में समान्य जन के लिए संभव नहीं रहा करती पूजा में पंचोपचार के नाम पर जिन उपकरणों को पूजा में आवश्यक माना जाता है उनका कारण यह है कि हम जप अन्त:करण

से करेंगे अन्तःकरण से एक रूपता तब तक नहीं हो सकती जब तक बाह्य अर्थात् स्थूल से ऊपर न उठ जाए इसलिए पाँच तत्त्वों के प्रतीक रूप में इन पदार्थों को हम उपास्य देवता के आगे इसलिए अर्पित करते हैं कि इनके स्तर से ऊपर उठने की क्षमता और आज्ञा हमें मिल जाए। जो पूजा इन प्रतीक द्रव्यों के बिना की जाती है वह उच्च स्तर की होती है, उसमें मुद्रा का महत्व होता है। धूप, दीप, गन्ध, पुष्प आदि का काम उसमें मुद्रा से ही सम्पादित होता है। दूसरे प्रकार की सनिर्माल्य पूजा में मनोरम उपकरण काम में लाये जाते हैं। सनिर्माल्य पूजा उत्तम, मध्यम कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार की होती है। ऊपर-इसी अध्याय में वर्णित उपयुक्त द्रव्यों से की गई पूजा उत्तम होती है, मध्यम पूजा में सुलभ उपकरणों से की पूजा मानी जाती है और कनिष्ठ पूजा में पत्र, पुष्प, जल से की गई पूजा होती है। पूजा के तीन भेद सात्विकी, राजसी, तामसी भी होते हैं। निर्मल अन्तःकरण वाले, शास्त्रों के मर्मज्ञ ऋषिकल्प लोग जो पूजा करते हैं वह **सात्विकी** पूजा होती है इससे मुक्ति प्राप्त होती हैं, सुख एवं राज्यादि लाभ के लिए की गई पूजा **राजसी** होती है तपोनिष्ठ, भगवत् तत्त्व के ज्ञाताओं द्वारा की गई पूजा राजसी होती है। स्त्रियां, बालक, वृद्ध, अल्पज्ञ लोग भक्तिभावना से जो पूजा करते हैं वह **तामसी** कहलाती है। यहाँ तामसी का अर्थ तमोगुणवती नहीं बल्कि पूजोपचारों के स्थूलरूप होने से तामसी कहा गया है पुरश्चरण के समय अनेक प्रकार के प्रत्वाय एवं व्यतिक्रम आ जाने पर विविध प्रकार की पूजा और की जाती है जिनमें **आतुरी** पूजा तब की जाती है जब साधक बीच में बीमार हो जाए, स्नान, दान्तुन, आदि न कर पाये तब सूर्य भगवान् के अथवा प्रतिमा के दर्शन करके मूल मंत्र को एक बार जप करके पुष्पाक्षत इनके अर्पित कर दे। थका हुआ बीमार और उपसावादि से क्लान्त होने पर देवता, अग्नि, गुरु, और ब्राह्मण की पूजा करके देव प्रतिमा से **'न मे दोषोस्ति किंचन'** अर्थात् विवशतावश मैं पूजा नही कर सका हूं इसमें मेरा कोई भी दोप नहीं है इसलिए कृपा करके मुझे क्षमा कीजिए ऐसी प्रार्थना करके जप कर लेना चाहिए। **त्रासिनी**—पूजा वह होती है जब हमें पूजा के कुछ उपचार मिलें, कुछ न मिलें और केवल पानी या भावना से ही पूजन करनी पड़े। **दुर्बोधिनी** पूजा तामसी पूंजा जैसी ही होती है इसमें मूल मूर्ति के अंगों की पूजा की जाती है।

आराधना करते समय यदि पंचोपचार से भी पूजा करने का सामर्थ्य नहीं है तो केवल भावना से ही पूजा कर लेनी चाहिए। पूजा के निमित्त आवश्यक वस्तु अपने ही व्यय से मंगानी चाहिए दूसरे के धन से लाये गये उपकरणों से की गई पूजा का आधा ही फल मिलता है। पूजा में पुष्प देवता के मस्तक पर चढ़ाने चाहिएं, देवता का मस्तक पुष्पों से ढंका रहना चाहिए, पूजा के समय देवता के ऊपर हाथ नहीं घुमाना चाहिए। पूजा के पश्चात् जप करना होता है। जप के संबंध में आवश्यक विवरण दियाजा चुका है तदपि न्यास जैसी विधियों का निर्वाह अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिए। न्यास को आत्मयज्ञ कहते हैं। न्याय से हम उन केन्द्रों को हाथ की विसर्जनशील विदयुत् के स्पर्श से जागृत किया करते हैं जिनका हमारी देह व्यापार के संचालन में महत्त्वपूर्ण योग है। यह तथ्य सभी लोग जानते हैं कि हमारा देह पंचकोशिक है और षडंग है। पांच कोशों

में अन्न, प्राण, मन, ज्ञान और आनन्द आते हैं। अन्नमय कोश से हमें घर्षणशील विदयुत् मिलती है, प्राणमयकोश दोनों प्रकार की विदयुत्—घार्षणिक एवं चुंबकीय —का संग्रह एवं विनियोग करने वाला केन्द्रक है। योग एवं शरीरशास्त्र में प्राण, वायु के एक स्वरूप का वोधक है जो हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका को सम्हालता है, संज्ञावाही (सैन्सेसनल नर्वस्) नाड़ियों में क्रियाशील रहता है तथा शरीर को सड़ने से रोकता है एवं स्वच्छ रखता है, इसे ऋषि कहा जाता है। ऋषि अत्यन्त पवित्र सत्ता को कहते हैं। विज्ञान की दृष्टि से हम इसे शक्तिमय देह भी कह सकते हैं। व्यक्ति के साहस और सामर्थ्य का आधार यही देह बनता है · मनोमय कोश अनुभूति का केन्द्र है तथा विचारों के रूप में यह चुम्बकीय विदयुत् का निर्माण करता है। संज्ञा वाहिनियों एवं इन्द्रियों का यह अधिष्ठाता है। ज्ञानमय कोश बुद्धि का क्षेत्र है इन सबसे आगे आनन्दमय कोश है। आनन्द सबका अभीष्ट विषय है क्योंकि उसका कोई विल्कप या विपरीत स्थिति नहीं है। अनाहार या मूर्च्छा या व्याधिग्रस्त अवस्था में प्रारंभिक कोश निःसंज्ञ हो जाते हैं इसलिए परतर कोशों की अवस्था का ग्रहण नहीं करते वैसे भी आनन्दमय कोश प्रायः सकुचित अवस्था में ही रहा करता है, साधना एवं अभ्यास के वल पर इसे विकसित करने का वातावरण वनाया जाता है।

सामान्यतया तीन प्रकार के न्यास किये जाते हैं पहला विनियोग में वर्णित विवरणों का उच्चारण करके उनके आगे नमः जोड़कर किया जाता है, दूसरा करन्यास होता है जिसमें दोनों हाथों को आमने सामने करके उन मंत्र पदों या वर्णों के आगे अंगुष्ठाभ्यां नमः, तर्जनीभ्यां नमः, मध्यामाभ्यां नमः इस प्रकार बोलते हुए दोनों अंगूठों, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका एवं कनिष्ठा को मिलाया जाता है फिर करतलकरपृष्ठाभ्यां कहकर दोनों हाथों को मिलाकर हाथ धोने जैसी मुद्रा की जाती है। तीसरा षडंग न्यास होता है जिसमें हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय, अस्त्र पर किया जाता है। हृदय के साथ नमः (हृदयाम नमः), शिर के साथ स्वाहा (शिर से स्वाहा), शिखा के साथ वषट् (शिखायै वषट्), कवच के साथ हुम् (कवचाय हुम्), नेत्रत्रय के साथ वौषटू (नेत्रत्रयाय वौषट्), अस्त्राय के साथ फट् (अपने दाहिने हाथ को मस्तक पर से गुमाते हुए ताली देना तथा ताली वजाने के साथ अस्त्राय फट्) का प्रयोग होता है।

न्यास सृष्टि, स्थिति एवं संहारक्रम के भेद से तीन प्रकार का होता है। शिर, आंख, मुख, हृदय, नाभि, गुह्य पाद के क्रम से किया जाने वाला न्यास सृष्टि न्यास होता है। ऋष्यादि न्यास करने की परम्परा सृष्टि न्यास ही है। नाभि से प्रारंभ करके हृदय पर समाप्त किया जाने वाला न्यास स्थिति न्यास होता है। पैरों से प्रारंभ करके शिर पर समाप्त होने वाला न्यास संहार न्यास कहलाता है।

शिर पर जहाँ हाथ रखने का है वहाँ-शिर पर एक अकेली मध्यमा अंगुलि ही रखी जाएगी। शिखा पर हाथ की मूट्ठी बांध कर रखी जाएगी आंखों पर मध्यमा ललाट मध्य में तीसरे स्थान पर तथा तर्जनी अनामिका दाहिनी-बांयी आंख पर, मुख में अंगुष्ठ और अनामिका, हृदय में अंगुष्ठ और कनिष्टिका, नाभि में अंगुष्ठ और अनामिका गुह्य

में केवल अंगुलियां ही पैरों और घुटनुओं में सारी अंगुलियाँ एवं अंगूठा। इनमें इन अंगुलियों से इन स्थानों को छूया जाता है, गुह्यांग को बिना छूये केवल संकेत किया जाता है। गृहस्थ लोगों को सृष्टि एवं स्थिति क्रम का न्यास करना चाहिए। यतियों एवं वन वासियों को संहार क्रम का, विरक्त किन्तु गृहस्थी को संहार क्रम का, सपत्नीक किन्तु वनवासी को स्थिति क्रम का तथा विद्यार्थी को सृष्टि एवं स्थिति क्रम का न्यास करना चाहिए। मानसी पूजा में उच्चतर स्थिति प्राप्त न हो तथा ऐसी परिस्थिति में फंस जाए जहां उपकरण न मिल सकें तो '**यं, रं, लं, वं, हं पंचतत्वात्मकं पंचोपचारं समर्पयामि**' कहकर ध्यानस्थ देवता का अर्चन करके मानसिक जप कर लेना चाहिए मानसिक जप में वाह्य शुद्धि एवं स्थान शुद्धि की आवश्यकता नहीं रहती, यह कहीं भी कैसी भी स्थिति में किया जा सकता है।

पुरश्चरण

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी भी मंत्र को कार्यक्षम करने के लिये पुरश्चरण किया जाता है। पुरश्चरण से मंत्र सिद्ध हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं शास्त्रोक्त विधान भी अपने स्थान पर सही है फिर भी अनेक बार मंत्र जागृत नहीं होता जिसका कारण होता है—हमारे में पात्रता का नहीं होना। किसी भी मंत्र विशेष का पुरश्चरण करने के लिये षट्कर्मों के देवता या उस देवता के गायत्री मंत्र का जप करने का विधान है इससे साधक की पात्रता का विकास होता है। इस पर भी मंत्र सिद्ध नहीं हो तो तंत्र शास्त्र का परामर्श है कि एक ही प्रयोग को वार-वार करता जाय, तीन वर्ष में मंत्र सिद्ध होगा ही। इसके बावजूद भी यदि कदाचित् सिद्धि न मिले तो उसके दस संस्कार करके प्रयोग करना चाहिए तव मंत्र की सिद्धि होती ही है। कुछ लोग इन संस्कारों से मंत्र को पहले ही संस्कारित कर लेना चाहते हैं मेरा अनुभव यह कहता है कि साधक पहले उस मंत्र को जपे, यथोक्त पुरश्चरण कर ले तभी ये संस्कार करने चाहिएँ। पुरश्चरण तीन प्रकार के होते हैं—कालिक, मात्रिक और उभयात्मक। कालिक पुरश्चरण वे होते हैं जिनमें एक नियत समयावधि में जितने जप हो जायें, मात्रिक पुरश्चरण वह होता है जिसमें समयावधि को प्रमुखता न देकर मात्रा की गणना की जाती है। उभयात्मक में निश्चित समयावधि में निश्चित मात्रा में जप करने होते हैं।

कालिक पुरश्चरण ग्रहण स्पर्श से ग्रहण मोक्ष तक जप करने से पुरश्चरण सम्पन्न होता है। सूर्योदय से लेकर अगले सूर्योदय तक जपादि करने से भी कालिक पुरश्चरण होता है।

मात्रिक पुरश्चरण में जितनी मात्रा में जप करने से पुरश्चरण होता है उसे समान संख्या में प्रतिदिन करने से मात्रा को आधार माना जाता है।

उभयात्मक पुरश्चरण मृतक के आशौच काल में तथा सूतिका काल में। आशौच

और स्यावड़ दस दिन तक माने जाते हैं इसलिये जहाँ मृत्यु हुई है अथवा जन्म (पुत्र का) हुआ है उस घर में दस दिन तक एक हजार प्रतिदिन जप करने से पुरश्चरण होता है। किसी भी मास की कृष्ण पक्ष की अष्टमी से प्रारंभ करके अगले मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी तक ग्यारह माला प्रतिदिन जपने से, कृष्ण अथवा शुक्ल पक्ष की अष्टमी अथवा चतुर्दशी को सूर्योदय से प्रारंभ करके सूर्यास्त तक, ग्यारह दिन का पुरश्चरण कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी से प्रारंभ करके शुक्ल पक्ष की नवमी तक, (इसमें अष्टमी और नवमी की रात्री में विशेष पूजा की जाती है तथा दशमी को पारणा की जाती है) अष्टमी से प्रारंभ करके चतुर्दशी तक सात दिन का पुरश्चरण होता है।

वैष्णव मंत्रों का पुरश्चरण कार्तिक, फाल्गुन अथवा वैशाख के महीने में शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारंभ करके एकादशी पर्यन्त ग्यारह दिन का पुरश्चरण किया जाता है। किसी भी चतुर्दशी से प्रारंभ करके अगली चतुर्दशी तक पन्द्रह दिन का पुरश्चरण शिव के मंत्रों का किया जाता है। गणपति के मंत्रों का पुरश्चरण भाद्रपद, मार्गशीर्ष, माघ माह के प्रथम बुधवार से अथवा नव रात्रों में (आश्विन और चैत्र शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से नवमी तक) शक्ति के मंत्रों का नवरात्र में, अथवा मंगल या शनिवार को नर-मुण्ड लाकर उसे पंचगव्य से शुद्ध करके चन्दनादि पदार्थों से सुवासित करके अपने से डेढ़ हाथ की दूरी पर रखकर रात्रि में एकान्त स्थान में बैठकर रात्रि के दूसरे प्रहर से प्रारंभ करके (मंत्र बड़ा हो तो अन्यथा मध्यरात्रि से) एक हजार जप करने से पुरश्चरण सम्पन्न हो जाता है। प्रायः सूर्योदय से प्रारंभ करके मध्याह्न तक जप करके, संध्या समय से रात्रि के पहले प्रहर में जप करना ठीक रहता है, रात्रि के दूसरे प्रहर में जप करने का विधान है। दिन का तीसरा और चौथा प्रहर अवकाश का रहता है। यह व्यवस्था है, नियम नहीं है, जिन प्रयोगों में मंत्र छोटा होता है अथवा दिन-रात में प्रवर्तमान ऋतु के अनुसार साधक ने अपने जप का समय निश्चित कर लिया है, उनके लिये यह व्यवस्था शिथिल रहती है। हवन भी रोज का रोज करना ही ठीक रहता है इसलिये अपनी सुविधा के अनुसार यदि प्रातःकाल ही हवन भी करलिया जाता है तो कोई आपत्ति नहीं। शरद् ऋतु के प्रारंभ में चतुर्थी से नवमी तक छः दिनों का पुरश्चरण भी किया जाता है।

मांत्रिकप्राणप्रतिष्ठा की संक्षिप्त एवं सामान्य विधि

जिस किसी यंत्र या मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा करनी हो उसे स्नानादि करा कर आसन पर स्थापित करके विनियोग करे—

[अस्य श्री प्राणप्रतिष्ठामंत्रस्य ब्रह्म विष्णु महेश्वराः ऋषयः ऋग्यजुः सामानि छन्दांसि क्रियामय वपुः प्राणाख्या देवता आँ बीजम् ह्रीं शक्तिः क्रों कीलकम् अस्मिन् ंत्रे, चित्रे, मूर्तौ (जिसमें भी करनी हो उसका नाम लें) प्राणप्रतिष्ठापने विनियोगः]

तब उस यंत्र को दोनों हाथों से ढंक कर "ओम् आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः सोहम्—यंत्रस्य प्राणाः इह प्राणाः" बोले एवं यह भावना करे कि इस मंत्र के प्रभाव से उसमें प्राथा आ गये हैं ऐसे ही आगे भी।

"ओम् आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः सोहम्" अस्य जीवः इह स्थितः"

फिर इसी मंत्र को बोलकर—अस्य सर्वेन्द्रियाणि इह स्थितानि। फिर इसी मंत्र (ओम् आँ ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हं सः सोहम्) से "अस्य वाङ्मनः त्वक् चक्षु श्रोत्र जिह्वा घ्राण पाणि पाद पायूपस्थानि इहैव आगत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा" कहकर हाथों को हटा लें।

इसके पश्चात् पन्द्रह प्रणव मंत्रों से इसके पन्द्रह संस्कार कर देने चाहिएँ।

कीलन— कील होने को साधारण एवं स्वाभाविक स्थिति है किन्तु कहीं-कहीं यह अस्वाभाविक, विरूपताजनक और बाधक बन जाती है। तंत्र कहता है—"दुष्टोर्णः कीलको ज्ञेयः सिद्धेस्तु प्रतिबंधकः" अर्थात् मंत्र में कोई दूषित बीज ही कील हुआ करता है तथा यह मंत्र के सिद्ध होने में अवरोध उत्पन्न करता है। अनेक मंत्र इस प्रकार के होते हैं जिनमें कील सहज रूप में आ जाता है। कुछ ऐसे भी मंत्र हैं जिनमें ऋषियों ने जान-बूझकर कीलक वर्ण जोड़ दिया है इसके पीछे उनका एक ही विचार रहा कि वे मंत्र तुरन्त सिद्धि देने वाले थे, उनसे अहित अधिक हो सकता था अथवा वे बहु उपयोगी एवं क्षिप्र सिद्धि दाता रहे थे तथा मनुष्य की चंचल वृत्तियों का उनको ज्ञान था इसलिये उन्होंने कीलित कर दिया। त्वरिता मंत्र की विधि इसमें दे रहा था किन्तु वह शापित भी था और कीलित भी, उसके उत्कीलन की विधि अनेक सम्प्रदायों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में दी गई थी इसलिये साधना में सरल तथा नाम के अनुसार (त्वरित याने शीघ्र) सिद्धि-प्रद भी था किन्तु यही देखकर नहीं दिया। किस मंत्र में कौन-सा अक्षर कीलक है तथा उसे निरस्त करने के लिये क्या विधि हो—यह स्वतंत्र विषय है और इतना विशद् एवं विस्तृत विवेचन यहाँ दे पाना संभव नहीं है। अनेक मंत्र इस प्रकार के होते हैं जिनमें कीलक शुभ एवं सिद्धिदायक माना जाता है जैसे और पेड़ों में पड़ी गाँठ उसके उपयोगी बनने में बाधक होती है, मूर्ति बनाने वाले, किवाड़ एवं अन्य वस्तु बनाने वाले शिल्पी भली प्रकार जानते हैं कि किस लकड़ी की गाँठ कोई अप्रियता या हानि नहीं पहुंचायेगी तथा किस लकड़ी की गाँठ शोभा बढ़ायेगी। तंत्र ने एक उदाहरण दे दिया है "चन्दनेषु त्रयः श्रेष्ठाः ग्रन्थिकर्पटकोटराः" व्यवहार में हम देखते हैं कि सभी लोगों में कोई न कोई खोट रहता है किन्तु वही खोट किसी में अन्दाज बन जाता है, किसी में विशेषता और किसी में शैली जब कि किसी में वह सारे गुणों को ढाँप देता है जैसे दूध में खटाई की हल्की-सी बूंद।

इस पुस्तक में जहाँ प्रत्येक बीज का विवरण दिया है, उसका सूक्ष्म अध्ययन करने पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि किस मंत्र में कौन-सा बीज वातावरण के विपरीत पड़ता है वही कीलक होता है। वैसे ऋषियों ने इन कीलकों का दोष परिहार करने के लिये उपायान्तर रच दिये हैं जिनसे उनका दोष, दोष नहीं रहता। उदाहरण के लिये

जिस मंत्र में 'ह्रीं' का दो वार प्रयोग हो उसमें कीलक रहते हुए भी असिद्धिप्रद नहीं रहता। 'हुम्' प्रारंभ में और 'ओम्' अन्त में हो, उसमें भी 'ह्रीं' जोड़ देने से कीलक दोष नहीं रहता। 'ओम्' एवं 'फट्' जिसके आदि एवं अन्त में हों उसमें भी 'ह्रीं' वीज जोड़ देने से कीलक दोष शान्त हो जाता है। कीलक निराकरण की पद्धति अनेक संप्रदायों की अपनी-अपनी है, कोई उस कीलक वीज को मंत्र से निकालकर उसके स्थान पर दूसरा बीज जोड़ देते हैं, कोई उस कीलक का दोष परिहार करने के लिये अन्य बीज लगा देते हैं और कीलक को रहने देते हैं। अनेक मंत्रों में विनियोग में ही कीलक का उल्लेख किया रहता है। अधिकतर न्यास करते समय कीलक को नाभि में क्षेपित करते हैं और हमारी शरीर रचना में नाभि एक कील की तरह है जो व्यवस्थित रहने पर सारे शरीर को व्यवस्थित रखती है, न्यास से हम इसी व्यवस्था को संगत करते हैं।

उत्कीलन की सामान्य विधि—

शक्ति सम्पन्न मंत्र कीलित हैं, कई शापित भी। ब्रह्म गायत्री में और सप्तशती के प्रयोग में शाप विमोचन अनिवार्य है तो अन्य मंत्रों में उत्कीलन एक अनिवार्य विधि है। सिद्ध पुरुष अथवा जिसमें श्रद्धा हो उससे दीक्षा लेने के पश्चात् ग्रहण किया हुआ मंत्र स्वतः उत्कीलित हो जाता है जिनको ऐसी सुविधा नहीं मिलती वे प्रस्तुत विधियों से उत्कीलित कर सकते हैं। स्मरण रहे जिन मंत्रों के उत्कीलन की विशेष पद्धति दी गई है उनका उत्कीलन उस विधि से अवश्य किया जाय। जिस मंत्र या विद्या की साधना करनी हो उसके आदि और अन्त में 'ह्रीं ओम्' को लगाकर एक माला जपने से उत्कीलन हो जाता है। अथवा गौरोचन, कपूर, कस्तूरी, गजमद, अगर, केसर, लाल व सफेद चन्दन से साधना किये जाने वाले मंत्र को भोजपत्र पर एक सौ आठ वार लिखे। अच्छा रहे एक सौ आठ टुकड़े अलग-अलग करके लिखे, एक ही पत्ते पर एक सौ आठ वार लिखने में कोई आपत्ति नहीं है। इनकी पंचोपचार से पूजन करके ब्राह्मण भोजन और उनका आशीर्वाद लेकर किसी तांवे के पात्र में उन्हें रखकर नदी में ले जाकर उन्हें एक एक कर प्रवाहित कर दे। उत्कीलन अथवा साधना करने वाले में ये छ गुण आवश्यक हैं, मैं सफल होऊंगा यह विश्वास सिद्धि का प्रथम लक्षण है, श्रद्धा दूसरा, गुरु का पूजन एवं उसमें अटूट आस्था तीसरा, सबके प्रति समान भाव चौथा, इन्द्रियों को संयम में रखना पाँचवाँ, कम भोजन (हित, मित, पथ्य, हविष्य) छठा लक्षण है, ये साधना के षडंग हैं।

मन्त्र त्याग की पद्धति—

कई वार भ्रम अथवा अज्ञानवश ऐसे मंत्र को जपने लगते हैं जो हमारे प्रतिकूल होता है ' मंत्र की प्रतिकूलता का यही चिह्न है कि उसे जपने से हमें मानसिक अशान्ति, भौतिक सन्ताप और विषमतायें अकल्पित रूप से मिलने लगती हैं—ऐसे मन्त्र का जप या अनुष्ठान यों ही वन्द कर देने से व्यक्ति दोष भागी बनता है इसलिए जिस प्रकार मंत्र का अनुष्ठान प्रारंभ किया था उसका विसर्जन भी विधि पूर्वक ही किया जाय। यों प्रत्येक अनुष्ठान में विविध प्रकार के उपद्रव और विघ्न आते हैं। किन्तु प्रतिकूल मंत्र में आने वाले विघ्नों और इन विघ्नों में अन्तर होता है जिसे मर्मज्ञ व्यक्ति पहचानता है।

परित्याग करने का इच्छुक व्यक्ति किसी विद्वान् तंत्रज्ञ के पास प्रातः काल जाकर अपनी विपत्ति का निवेदन करते हुए उनसे प्रार्थना करे कि अमुक मंत्र का विसर्जन करना चाहता हूँ अतः आप कृपा करके यह विधि संपन्न कराइये।

शुभ दिन देखकर उनके निर्देशन में (ऐसा संभव न हो तो स्वयं ही) विसर्जन विधि संपन्न करे। सुन्दर शुद्ध किये घर में मण्डल वनाकर (मंडल सात, पाँच या एक जैसा हो—अनाज से बनाया जाता है) मंडल वनाना संभव न हो तो षोडशमातृका, पंच देव, नवग्रहों की प्रतीक ढेरियाँ अक्षत से वना ले और अष्टदल कमल अक्षतों से वना उसमें गणपति को स्थापित कर इनका पूजन करे। इस मण्डल में एक घड़े में गंगाजल अथवा तीर्थजल भरके उसमें इष्ट देव का विलोम जप करके देवता का पूजन करे। यदि देवता का परिवार रहा हो तो उसका भी पूजन करे। यंत्र हो तो उसके आवारण का पूजन करे। फिर विलोम मंत्र से एक हजार आहुतियाँ गाय के घी से दे। आहुति में मंत्र ही विलोम जपा जाएगा स्वाहा का विलोम 'हास्वा' नहीं वोला जाएगा। इसके बाद एक सौ आठ बार तर्पण किया जाएगा। तर्पण में मूल मंत्र विलोम विधि से वोलकर **'तर्पयामि नमः'** वोलते हुए अंजलि से जल छोड़ा जाएगा (अंजलि से अर्थ दाहिने हाथ से व्रह्मतीर्थ से है) हवन तर्पण के पश्चात् देवताओं को वलि दी जायगी। वलि में खीर गंध पुष्प पत्र में रखकर उन देवताओं का मंत्र वोल दिया जायगा। प्रथम वलि का मंत्र है—**"ओम् तत्सत् प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकार जाग्रत्स्वप्न सुषुप्त्यवस्थासु मनसा वाचा कर्मणान्यतरा यच्चोदरेण शिश्ना वायच्च स्मृतं यदुक्तं यच्च कृतं तत्सर्वं ब्रह्मार्पणं भवेद् भूः स्वाहा।'** इस मंत्र को सर्वत्र वोलकर पूर्वादि दिशाओं के स्वामी देवों को क्रमशः पृथक्-पृथक् पत्रों में वलि दे। पूर्व दिशा में इन्द्र को ऊपर वाला मंत्र वोलकर—**"आयाहीन्द्र सुराधीश शतमन्यो शचीपते नमस्तुभ्यं गृहाणेमं पुष्पधूपादिक बलिम्"** से वलि दे। आग्नेय कोण में **"ओम् तत्सत् ....."** मंत्र के वाद **"आयाहि तेजसां नाथ हव्यवाह वर प्रद। गृहाण पुष्प धूपादि बलिमेनं प्रयोजितम्"** वोल कर अग्नि को वलि दे। दक्षिण में मंत्र के साथ (यह मूल मंत्र सर्वत्र जोड़ा जाएगा) **"प्रेतनाथ त्वमायाहि भिन्नांजन समद्युते। बलिम् दत्तं गृहाणेमं सुप्रीतो वरदो भव"** से यमराज को, नैऋत्य कोण में **"नमस्ते रक्षसां नाथ निर्ऋते त्वमिहागतः। गृहाण बलि-पूजादि मया भक्त्या निवेदितम्"** से निर्ऋति देवता को, पश्चिम वरुण को **"एहि पश्चिम दिक्पाल जलनाथ नमोस्तुते। भक्त्या निवेदितां पूजां गृहीत्वा सुखमाप्नुहि"** इस मंत्र से। वायव्य कोण में **"प्रभजन प्राणपते त्वमेहि सपरिच्छदः। मया प्रयुक्तं विधिवद् गृहाण बलिमादरात्"** वायु देव को उत्तर में **'कुवेर तारकाधीशा वागच्छेतां सुरोत्तमौ पुष्प धूपादिभिः प्रीतौ भवतां वरदौ मम"** से कुवेर और चन्द्रमा को ईशान कोण में **"ईश त्वमेहि भगवन्सर्वविद्याश्रय प्रभो पूजितः पुष्पधूपाद्यैः प्रीतो भव विभूतये"** ईशान देव को। ऊर्ध्व में **"आयाहि सर्व लोकानां नाथ ब्रह्मन्समर्चनम्। गृहाण सर्व विप्राध्य जगत्कर्त्रे नमोस्तु ते"** व्रह्मा को अधः प्रदेश में **" आगच्छत वरद श्रेष्ठ विष्णो विश्वस्य नायक। पूजितः परया भक्त्या भवत्वं सुखदो मम"** विष्णु को वलि प्रदान करे।

इसके बाद मंत्र के देवता की पूजा विलोम मंत्र से करे, देवता के परिवार हो तो उसकी भी पूजा करे। तब उससे प्रार्थना करे "अनुकल्पादिनालोच्य मया तरलबुद्धिना, उपात्तो दुःखमंत्रस्त द्दोषं विनिनर्तय पापं प्रतिहतं मेस्तु भूयाच्छ्रेयः सनातनम्। तनोतु मम कल्याणं पावनी भक्तिरेव तु" यदि अभीष्ट मंत्र का यंत्र सहित आराधन किया हो तो भोजपत्र पर कपूर, आमला एवं चन्दन से चमेली या अनार की कलम से लिखकर घड़े पर रख दे। स्मरण रहे जिस घड़े में तीर्थजल भरकर इष्ट देवता की पूजा की गई थी वे इष्ट देव थे और यह मंत्र के देव हैं इष्ट का परित्याग नहीं किया जाता, यदि यही इष्ट है तो फिर इसी के समर्पित किया जाएगा। समर्पण एवं पूजन के पश्चात् इस यंत्र को सिर में बांधकर घड़े के पानी से स्नान करे। तदनन्तर दूसरे घड़े में पवित्र जल भरकर सिर पर बांधे पत्र को रख दे और इस घड़े को नदी या अन्य जलाशय में विसर्जित कर आये।

शाबर मंत्रों को जागृत करने की विधि

यों तो शाबर मंत्र इस युग के मंत्र हैं और वे सरलता से सिद्ध हो जाते हैं तदपि अनेक बार उनको सिद्ध करने का प्रयत्न करने पर भी यदि वे कार्यक्षम नहीं हो तो जागृत करने का अनुष्ठान करे। रविवार की रात में कांसी की थाली राख से साफ करके उसे सामने रखकर प्रत्येक प्रहर के प्रारंभ में अभीष्ट मंत्र को एक सौ आठ बार जपे। चौथे प्रहर में मंत्र जप के पश्चात् खैर की डण्डी से हिन्दी अथवा अपनी मातृभाषा में यह कहे "हे मंत्रदेव जागृत हो" और थाली को बजावे। रात-भर में चार प्रहर माने माने जाते हैं अपनी तरफ से अथवा किसी से पूछकर समय निर्धारित कर ले और प्रहर के प्रारंभ में यह विधि संपन्न कर ले।

पुत्तलिका प्रयोग

आज का व्यवहार हमारे उस सुदूर अतीत की सामायिक अभिव्यक्ति है जिसके रहस्य को और विधि को हम नहीं जानते। आज के आन्दोलनकारी किसी व्यक्ति का पुतला जो जलाते हैं वह हमारी प्राचीन तांत्रिक क्रिया है। अभिचार कर्म-मारण, आकर्षण, वशीकरण, सम्मोहन के लिए पुत्तलिका प्रयोग करने का विधान है। पुत्तलिका बनाने में विविध प्रकार की वस्तुयें प्रयोग में ली जाती हैं, यह भी एक विस्तृत विधा है। जिसे तंत्र शास्त्र में देख, समझकर ही इन प्रयोगों को करना चाहिए। यहाँ केवल इस विषय का परिच्चयमात्र इसलिए दिया जा रहा है कि तंत्र शास्त्र की विविध-विधाओं का परिच्चय मिल जाय इसके साथ ही यदि कोई पाठक किसी ग्रंथ में पुत्तलिका संबंधी अध्याय देखे तो उसे इस संबंध में आवश्यक जानकारी पहले ही

सुलभ रहे। मारणादि कर्म के लिए प्रयोग देना अभीष्ट नहीं है क्योंकि ये कर्म कोई निपुण व्यक्ति ही निरापद रूप से संपन्न कर या करा सकता है, अल्पज्ञ व्यक्ति इन कर्मों को करने के लिये प्रवृत्त हो जाएगा तो वह कृत्या साधक को ही खा जाएगी सूई वाण जैसे प्रयोग या मूठ जैसे शावर प्रयोग अपना प्रभाव तुरन्त दिखाते हैं किन्तु इनमें उतनी सामर्थ्य नहीं रहा करती। स्वानुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि शक्ति की उपासना करने वाले व्यक्ति की साधना के अनुसार उसके चारों ओर एक अलक्षित रक्षा कवच उत्पन्न हो जाता है और ये छोटे प्रयोग उससे टकरा कर नष्ट हो जाते हैं। इन पंक्तियों का लेखक भी एक वार ऐसे प्रयोग का शिकार बना था किन्तु परांबा की कृपा से पाँच घण्टे का मरणान्तक कष्ट भोगकर निवृत्त हो गया। यद्यपि ऐसे प्रयोगों को वापस कर्ता पर ही फेंक देने की विधियां हैं पर धीर व्यक्ति स्वयं ही सहन कर लेता है, उनके दुष्कर्म में स्वयं नहीं उलझता। राजपद पर आसीन व्यक्ति पर ये कर्म प्रभाव नहीं कर पाते। पुत्तलिका प्रयोग इतना उत्कष्ट होता है कि राजपद पर आसीन और एक सीमा तक तपस्वी व्यक्ति पर भी प्रभाव करता है। पुत्त-लिका वनाने में उस व्यक्ति के नख, रोम, विष्ठा, पैर की धूल दूसरे प्राणियों का रक्त-विष्ठा आदि का उपयोग किया जाता है, जिस व्यक्ति पर प्रयोग किया जाता है उसके नाम से वनने वाले नक्षत्र के वृक्ष (के काठ) से पुतली वनाई जाती है।

पुतली के संबंध में एक व्यवस्था यह है कि छियानवे अंगुल की वनाई जाए अथवा वारह अंगुल की वनाई जाए। छियानवे अंगुल की में पूरी आकृति वनती है किन्तु वारह अंगुल की में पैर चार अंगुल के, पैर से पेट तक पौने दो अंगुल का, पेट से कन्धे तक पौने दो अंगुल का, गले से मुँह तक दो अंगुल और शेष शिर ढाई अंगुल का। मारण में इस पुतली का अंग छेद करके क्रमशः हवन करना पड़ता है। वांये हाथ से पुत्तलिका को काटकर होमे जाते हैं उसका क्रम है—पहले दाहिना हाथ, फिर दाहिना हाथ, तीसरे क्रम में शिर, चौथे में वांया हाथ, पांचवें में कवंध (धड़) का आधा हिस्सा नाभि से ऊपर छठे में नाभि से कटि तक, सातवें में वांयी टांग—इस प्रकार सात वार में छेदन करके होमा जाता है। यह पुत्तलिका छेदन और हवन केवल मारण कर्म में किया जाता है। सम्मोहन, आकर्षण में ऐसा कुछ नहीं होता। तंत्र कहता है कि पुत्तलिका प्रयोग से व्यक्ति की मृत्यु पेड़, मकान की दीवार गिरने से, किसी व्यक्ति के द्वारा घातक अस्त्र के वार से सर्प के काटने से प्रेत या पिशाच के आवेश से मृत्यु होती है। इसमें अधिक समय नहीं लगता कुछ प्रयोग इस प्रकार के होते हैं जिनमें व्यक्ति धीरे-धीरे क्षीण होता चला जाता है और अधिक से अधिक छः माह में मृत्यु हो जाती है। इस क्षीणता की चिकि-त्सा किसी भी औषधि से संभव नहीं हो सकता एवं इससे मुक्त होने के लिए अन्य उग्र रक्षा कर प्रयोग किये जाते हैं। पुत्तलिका प्रयोग जिस पण्डित या आचार्य या गुरु की उपस्थिति में किया जाए अथवा व्यक्ति स्वयं ही करे उसे पहले आत्मरक्षार्थ उसी नेत्र की एक या ग्यारह माला जप कर अथवा किसी अन्य मंत्र से आत्मरक्षा कर लेनी चाहिए तथा प्रयोग जब तक चले तब तक सुदृढ़ पुरुष प्रयोग को विधिवत्संपन्न करने तथा किसी

बाह्य विपत्ति से रक्षा करने के लिऐ सन्नद्ध रहने चाहिए। यदि किसी कारण से प्रयोग प्रारंभ करने के पश्चात् किसी विघ्नके कारण बीच में रुक जाता है तो उससे कर्त्ता को अनेक विपत्तियों तथा कई वार तो मृत्यु तक को भोगना पड़ता है। दूसरी वात यह है कि इस अपकर्म के प्रायाश्चित के लिए रत्न जटित स्वर्ण गौ दान की जानी चाहिए। यह गाय त्रिलोह और रत्न जटित होती है। इसकी पीठ तांवे की, खुर चान्दी के, सींग सोने के और पूंछ में मोती जड़े होने चाहिए यद्यपि आज के युग में स्वर्ण और मोती वहुत मंहगे हैं फिर भी यथाशक्ति इनका दान गौ वना कर करना ही चाहिए।

नक्षत्रवृक्ष—अश्विनी-**कुचीला**, भरणी-**आमला**-, कृतिका-**गूलर**, रोहिणी-**जामुन** मृगशिरा-**सफेद खं र**, आर्द्र-**कृष्ण सार** खैर, पुनर्वसु-वांस, पुष्प-पीवल, अश्लेषा,-नाग **केसर**, मघा-**वड**, पूर्वाफाल्गुनी-**पलाश**, उत्तरा फाल्गुनी-**पल्क्ष या पर्कटी-पाकडी**, हस्त-**आग्रात या अंबष्ठ या कलमी आम**, चित्रा-**बिल्व**, स्वाति-अर्जुन, विशाखा-**श्रुत्रा या विकंकित गंभारा**, अनुराधा-**वकुल** ज्येष्ठा-**सरल देबदार**, मूल-**शाल**,, पूर्वाषाढा-**अशोक**, उत्तराषाढा-**पनस कटहल**, श्र वण-**आक**, घनिष्ठा-**शमी या खेजड़ा**, शतमिषा-**कदम्ब**, पूर्वा भाद्रपद-**नीम**, उत्तराभाद्रपदा-**आम**, रेवती-**महुआ**।

आकर्षण, वशीकरण, सम्मोहनादि कार्यो में जिस व्यक्ति पर ये प्रयोग किए जाने हैं उसके नाम के पहले अक्षर से जो नक्षत्र वनाता है उस नक्षत्र वृक्ष के काष्ठ से पुत्तली बनानी चाहिए। जैसे लाभ चन्द्र पर आकर्षण प्रयोग करना है, लाभ चन्द के ला से अश्विनी नक्षत्र रहा और अश्विनी का वृक्ष कुचीला है इसलिए कुचीला की लकड़ी से पुतली बनाई जाएगी। ज्योतिष एवं तंत्र का निर्देश है कि व्यक्ति को कभी भी अपने नाम वाले नक्षत्र वृक्ष को नहीं काटना चाहिए।

वशीकरण

मृदु अभिचार है। किसी व्यक्ति की सहज स्थिति में वलात् परिवर्तन करना अप्राकृतिक बात है क्योंकि जिन लोगों से हमारे पूर्व जन्मों के सद्भाव स्नेह हुए रहते हैं वे तो स्वतः प्रकट हो ही जाते हैं. इन प्रयोगों द्वारा हम नये संबंघ स्थापित करते हैं जिनमें अभौतिक शक्ति काम करती है। जो लोग सदाचारी हैं अथवा जो स्त्रियाँ अपने धर्म में स्थित हैं उन पर ऐसा प्रयोग करके व्यक्ति पापभाजन होता है अतः वचना चाहिए किन्तु किसी दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति के अन्तर्गत काम करना हो, पति के दुराचरण से संवंध विच्छेद की स्थिति आ रही हो, सास के अत्याचार से वहूपीडित हो अथवा ऐसे ही अन्य प्रसंग हों तो ये प्रयोग हितकर रहते हैं। विशेष प्रयोजनों के लिए वर्गीकृत प्रयोजनों भी हैं तो ऐसे प्रयोग भी हैं जो सव जगह काम करते हैं। स्वाभाविक है, इतने शक्ति संपन्न प्रयोग, करने में भी श्रम साध्य रहा करते हैं। अनेक ऐसे प्रसंग देखने में आये हैं जहाँ किसी महिला ने मात्र इस आशंका से कि उसका पति किसी अन्य स्त्री के चक्कर में फँस कर उसे उजाड़ न दे और वह अपने पति को वशीकरण की कोई वस्तु खिला

देती है। परिणाम यह होता है कि वह पति पागल हो जाता है कारण कि वह वशीकरण इनना उग्र हो जाता है कि वह सीधे नवीं स्थिति पर पहुँच जाता है। शेष में मृत्यु ही रह जाती है। "जिस पर प्रयोग किया जाए यह मानसिक रूप से दुर्बल हो या प्रयोग अत्यन्त उग्र हो।" ऐसी परिस्थितियों में अति मात्रा हो जाने से वशीकरण ही उन्मादन के स्तर पर हो जाता है और इनकी चिकित्सा करना कठिन होता है इसलिए बहुत सोच समझ कर या विद्वान् व्यक्ति के परामर्श से करने चाहिएँ किसी द्रव्य के प्रयोग से अथवा खिलाने पिलाने वाले प्रयोग से ऐसी परिस्थिति अधिकतर हो जाया करती है। देखने में ऐसे अनेक विषम प्रसंग आये हैं जहाँ वशीकरण घातक बन गया है। एक संपन्न परिवार के युवक को अपनी ओर आकृष्ट करने के प्रयत्न करके हारी हुई युवती ने किसी से कुछ लेकर वशीकरण के लिए खिला दिया और वह युवक पागल-सा हो गया। ऐसा ही एक अत्यन्त दुःखद प्रसंग और आया था जहाँ एक युवक ने अपनी माँ जितनी उम्र की महिला को जिसके भरी पूरी गृहस्थी थी और जो अपने घर संसार में रची बसी थी—कोई उग्रवशीकरण की वस्तु खिलाकर उनके सुखी संसार में आग लगा बैठा।

वत्स्यायन ने वशीकरण को आंख लगने से प्रारंभ माना है फिर मन में बसना, नौंवी स्थिति उन्माद और दसवीं मृत्यु बताई है। मेरा आग्रह है कि यदि आवश्यक हो तो मंत्र द्वारा वशीकरण ही उत्तम रहता है क्योंकि यह शनैः-शनैः प्राकृतिक रूप में करता है। कम से कम पांच घटनायें ऐसी अनुभव में आई हैं जहाँ आकर्षण-वशीकरण के प्रयोग ने विकर्षण का काम किया। हुआ यों कि ये सभी युवक थे आस्तिक और होनहार भी किन्तु दुर्भाग्यवश प्रेम प्रसंग में फँस गये और जीवन मरण का प्रश्न बना बैठे। इन सारी घटनाओं में पहले अत्यन्न घनिष्ठता थी फिर एक तरफ से घृणा हो गई और ये उससे जुड़े ही रहे। इनको जो प्रयोग बताया गया वह मेरी विवशता थी और मन से यही प्रार्थना कर रहा था—"परांबा ! यह क्या किया ये अपना भविष्यत् बिगाड़ने के लिए क्यों तुल रहे हैं ?" आश्चर्य, वह आकर्षण का मंत्र विकर्षण में फलित हुआ। हो सकता है, वे शाक्त या वैष्णय रहे थे और उनको शैतानी मंत्र बताया था इसलिए विपरीत फल देने वाला सिद्ध रहा हो या परांबा ने अपनी कृपा से उनको सन्मार्ग दिखा दिया हो।

पूजा रहस्य

मंत्रोपासना में पूजा एक अनिवार्य अंग रहती है। ध्यान के पश्चात् पूजा की जाती है। पूजा वस्तुतः क्यों की जाती है कैसे की जानी चाहिए इन प्रश्नों का उत्तर साधक को मिलना ही चाहिए। पूजा का अभिप्राय यन्त्र रचना और पूजा में अधिक प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट हो जाता है। यह हम जानते हैं कि हम शक्ति के साम्राज्य में रहते हैं, हमारा अणु-अणु शक्तिमय है शक्ति से दोलित-प्रेरित एवं क्रियामय है किन्तु इस

अनन्त शक्ति को हम हमारे अभीष्ट की पूर्ति के लिए प्रयुक्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह है कि हम नियत उद्देश्य के लिए उस अनन्त शक्ति को विशेष रूप में प्रस्तुत अथवा रूपायित करना चाहते हैं जैसे व्यवहार में हम पृथ्वी से प्राप्त पदार्थों को इच्छानुसार पात्र, अस्त्र, यंत्र एवं अन्य उपकरण बना लेते हैं उसी प्रकार मानसिक जगत् में इच्छित कामनाओं की पूर्ति के लिए विविध उपकरण वना लिए जाते हैं ये उपकरण ही मंत्र हैं, ये ऐसे सूत्र हैं जो स्वयं ही कार्यक्षम होते हैं तथा मानवीय चेतना का आश्रय लेकर एक स्वतंत्र, शक्ति संपन्न अलक्षित पुरुष वन जाते हैं। शक्ति के अनंत विस्तार में से हमारे उपयोग एवं आवश्यकता के अनुरूप शक्ति प्राप्त करने के लिए ही यह अनुष्ठान किया जाता है। यंत्र पूजा में यंत्र के वाहर की ओर वनाया जानेवाला चतुष्कोण अर्थात् भूपुर हमारे सौर मंडल (कम से कम) का सूचक है, क्योंकि ग्रहों की पूजा इस भूपुर के अन्दर की तरफ की जाती है अर्थात् हम शक्ति के अनन्त विस्तार में से एक नया निर्माण करना चाहते हैं और उस निर्माण को शक्ति के विराट् स्रोत से जोड़कर शक्ति सम्पन्न बनाये रखना चाहते हैं जैसे किसी ट्रांसफार्मर को हाट लाइन से जोड़े रखा जाता है। हम अपनी व्यक्तिगत शक्ति को उसकी सीमित क्षमता को, मंत्र की रूपता एवं शक्ति का उस विराट् से तारतम्य एवं संगति वनाये रखने के लिए ही साधना की जाती है। इसका प्राण वह मंत्र है जो यंत्र के मध्य में स्थापित किया जाता है, उसके कोण अथवा दलों में उसी प्राण की विकसित शक्तियों एवं स्वरूपों को स्थापित किया जाता है। इस सवका आशय यह कि हम हमारे निर्माण को, जिसकी विधि तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने बताई है, सचेतन करके अपने आपको उसमें ढालते हैं अथवा उसके सामर्थ्य को अपने में अवतरित करते हैं, दोनों ही स्थितियों गें हम यंत्रमय होकर एक प्रतीक को अनुप्राणित करते हैं। पंचोपचार में प्रयुक्त होने वाले पांच पदार्थ पांच तत्त्वों के प्रतीक हैं जिनको हम बहिरंगिणी पूजा में अनुलोम विधि से सजाते-समर्पित करते हैं अनुलोम विधि में इसलिए कि हम निर्माण कर रहे हैं और निर्माण में ये तत्त्व अनुकम से विकसित संघनित एवं आयाम संपन्न होते हैं अर्थात् आकाश से वायु होता है, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी इसी क्रम का निर्वाह करने के लिए आकाश का प्रतीक गंध, वायु का प्रतीक पुष्प, तेजस् का प्रतीक दीपक, जल का प्रतीक धूप और पृथ्वी का प्रतीक नैवेदय् चढ़ाते हैं। इन सवको अर्पित करके हम एक अलक्षित किन्तु अनुभव एवं विश्वास गम्य मंत्र पुरुष किंवा मंत्ररूप देवता से प्रार्थना करते हैं कि अव आप हमें इस तत्त्वमय स्तर से ऊपर उठने की अनुज्ञा दीजिए। इस प्रकार के वाह्य आचार एवं कर्मकाण्ड से हमारा निजत्व भौतिक सीमाओं से ऊपर उठकर शक्ति के अनन्त का साक्षात्कार करता है, वह इच्छित मात्रा में शक्ति को संग्रहीत एवं विसर्जित करने के लिए सुसंवाही पात्र वन जाता है।

सामान्य पूजा पद्धति

आज के व्यस्त व्यक्ति के लिये यह संभव नहीं है कि वह पूजा-पाठ के लिये यथेच्छ समय निकाल सके तदपि संक्षिप्त विधि इसलिये दी जा रही है कि जो लोग चाहते हैं उनको अन्यत्र ढूंढ़ने की आवश्यकता न रहे। वैसे भी इस सारे आयोजन में अधिक समय नहीं लगता इसलिये अभ्यास कर लेने में कोई आपत्ति नहीं।

देव मूर्ति के समक्ष नित्य पूजा करने के नियत स्थान पर बैठकर

१. स्थान को—**'पृथ्वी त्वया धृता लोकाः देवि त्वं विष्णुना धृता
त्वं च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम्'**

इस मंत्र से अभिमंत्रित करके, आसन बिछाकर अनन्तासनाय नमः, विमलासनाय नमः, कमलासनाय नमः बोलकर संकेत या अक्षत द्वारा या आसन के नीचे कुशा रखकर बैठ जाय।

२. **'ओम् सुदर्शनायास्त्राय फट्'** इस मंत्र से तीन ताल देकर दिग्बंध करे।

३. आत्मशुद्धि के लिये जिस मंत्र का जप करना है उससे तीन प्राणायाम करे। एक प्राणायाम (श्वास खैंचने) पूरक, (श्वास रोकने) कुंभक, (श्वास निकालने) रेचक से माना जाता है। मंत्र या मातृका का न्यास करने से पूर्ण आत्मशुद्धि हो जाती है।

४. भूत शुद्धि के निमित्त—**सूर्यः सोमो यमः कालः संध्या भूतामि पंच च एते शुभाशुभस्येह कर्मणो मम साक्षिणः। भो देवि प्राकृतं चित्तं पापाक्रान्तमभून्मम। तन्निःसारय चित्तान्मे पापं नेऽस्तु नमो ममः।** इन मंत्रों को बोले।

देव पूजन के निमित्त रखे दीपक की लौ को दोनों हाथों से छूकर **'घोराय घोरतमाय महारौद्राय वीरभद्राय ज्वालामालिने सर्वदुष्ट संहर्त्रे हुम् फट् स्वाह'** यह मंत्र बोले और इस भावना के साथ कि दीपक का तेज मुझमें प्रवेश कर रहा है—हाथों को सारे शरीर पर फेर ले।

५. पापपुरुष के उत्सादन के लिये ध्यान करे—

"वाम कुक्षि स्थितं कृष्णं अगुष्ठपरिणामकं, ब्रह्महत्याशिरोयुक्तं कनकस्तेय बाहुकम्। मदिरापान हृदयकं गुरुतल्प कटियुतं, तत्संसर्गि पदद्वन्द्वं उपपातक मस्तकम्। खगचर्मधरं दुष्टमधोवक्त्रं सुदुः सहम्"।

इस प्रकार के पाप पुरुष को जो हमारे बाँये पार्श्व में अन्तःस्थ है उसे 'यं' इस वायु वीज को बत्तीस वार वोलता हुआ श्वास खैंचे (पूरक) मंत्रोच्चारण के साथ यह भावना करे कि पाप पुरुष शोषित हो रहा है, श्वास को फैंफड़ों में भर कर 'रं' इस वह्नि वीज को चौसठ वार जपे तथा यह भावना करे कि इससे पाप पुरुष दग्ध हो रहा है फिर 'यं' वायु वीज का बत्तीस वार उच्चारण करता हुआ श्वास को इस कल्पना के साथ निकाल दे कि इस क्रिया से वह दग्ध पाप पुरुष बाहर निकल गया है।

६. आत्मरक्षा के लिये हाथ में चावल लेकर या सफेद सरसों लेकर अथवा संकेत मात्र से—चावल व सरसों को फैंकते हुए संबंधित दिशा में बोले—

"पूर्वे मां शंकरः पातु तथाग्नेय्यां च शूलधृक्।
कपाली दक्षिणे पातु नैऋत्ये जटिलोवतु।
पश्चिमे पार्वतीनाथो वायव्ये प्रमथाधिपः।
उत्तरे मुण्डमालोव्यादैशान्ये वृषभध्वजः।
ऊर्ध्वं पातु तथा शंभुरधस्ताद् धूलिधूसरः।
अग्रतो भैरवः पातु पृष्ठतः पातु खेचरः।
दक्षिणे भूचरः पातु वामे च पिशिताशनः।
केशान्पातु विशालाक्षो मूर्धानं च मरूत्प्रियः।
मस्तकं पातु भृग्वीशो नेत्रे पातु महामनाः।
कपोलौ पातु वीरेशो गण्डौ गण्डाभिमर्द्दनः।
उत्तरोष्ठे विरूपाक्षो ह्यधरे योगिनी प्रियः।
अक्षेषु दक्ष विध्वंसी चिवुके तु कपालधृक्।
कण्ठे रक्षतु मां देवो नीलकंठो जगद्गुरूः।
दक्षस्कन्धे गिरीन्द्रेशो वामस्कंधे वसुंजयः।
दक्षिणे च भुजे सर्वमंत्रनाथः सदावतु।
वामे भुजे सार्वभौमः हृदये पातु पाण्डुरः।
दक्ष हस्ते पशुपतिः वामे पातु महेश्वरः।
उदरे सर्वकल्याणकारकोऽवतु मां सदा।
नाभौ काम प्रविध्वंसी जंघे पातु दयामयः।
जानुनी पातु जामित्रः गुल्फौ गौरी पतिः सदा।
पादपृष्ठे सामनिधिः तथा पादांगुलीर्हरः।
पादाधः पातु सततं व्योमकेशो जगत्प्रियः।"

इन मंत्रों में जहाँ दिशाओं का नाम आता है वहाँ दिशाओं में चावल या सरसों फैंक दे, अंगों के नाम पर हाथ में लिये अक्षतादि को शेष मंत्र बोल कर अपने चारों ओर फैंक दे। फैंकते समय—ये मंत्र बोले—

अपसर्पन्तु ते भूताः ये भूताः भूमिसंस्थिताः
ये चात्र विघ्न कर्तारस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया।
ये चात्र विघ्न कर्तारः दिवि भुव्यन्तरिक्षगाः।
विघ्नभूताश्च ये चान्ये मम मंत्रस्य सिद्धिषु।
मयैतत्कीलितं क्षेत्रं परित्यज्य विदूरतः।
अपसर्पन्तु ते सर्वे निर्विघ्ना सिद्धिरस्तु मे।

ये फैंक कर या संकेत करके जल हो तो हाथ धोकर आचमन करके अपने दाहिनी तरफ **'गुरुभ्यो नमः'** गुरुदेव का स्मरण करके नमस्कार करे, बाँयी तरफ **'गं गणपतये नमः'** गणपति को नमस्कार करे।

पुरश्चरण या विशेष अवसर पर की जाने वाली पूजा में मण्डूक से लेकर परतत्त्व तक देवताओं की पूजा की जाती है इसमें हाथ में चावल लेकर नमः के साथ अक्षत छोड़

देने होते हैं।

७. यह करने से पहले अपने बाँयी ओर गुरु को, दाहिनी ओर गणेश को और मध्य में (सामने) इष्ट देवता को नमस्कार कर लेना चाहिए।

ये अक्षतादि मंत्र के देवता के आगे (चित्र या यंत्रादि हो तो उसके आगे) डालने होते हैं। बाँये हाथ में पर्याप्त चावल लेकर उनमें से थोड़े-थोड़े डालने होते हैं। इन देवताओं का क्रम इस प्रकार है—

पीठ के मध्य में—**मं मण्डूकाय नमः, कं कालाग्निरुद्राय नमः, अं आधार शक्तये नमः, कूं कूर्माय नमः, अं अनन्ताय नमः, पृं पृथिव्यै नमः, क्षीं क्षीरसागराय नमः, रं रत्नदीपाय नमः, रं रत्नमंडपाय नमः, कं कल्पवृक्षाय नमः, रं रत्नवेदिकायै नमः, रं रत्न सिंहासनाय नमः।**

आग्नेय कोण में—**धं धर्माय नमः;** नैऋत्य कोण में—**ज्ञां ज्ञानाय नमः;** वायव्य में—**वैं वैराग्याय नमः,** ईशान कोण में—**ऐं ऐश्वर्याय नमः,** पूर्व में—**अं अधर्माय नमः,** दक्षिण में—**अं अज्ञानाय नमः,** पश्चिम में—**अं अवैराग्याय नमः;** उत्तर में—**अं अनैश्वर्याय नमः,** पीठ के बीच में—**आं आनन्दकन्दाय ओम् नमः, सं संविन्नलाय नमः, सं सर्वतत्त्वकमलासनाय नमः, प्रं प्रकृतिमयपत्रेभ्यो नमः, विं विकारमय केसरेभ्यो नमः, पं पंचाशद्वर्णकर्णिकाभ्यो नमः, अं अर्कमण्डलाय द्वादशकलात्मने नमः; सों सोमाय षोडशकलात्मने नमः;, वं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने नमः, सं सत्वाय नमः, रं रजसे नमः, तं तमसे नमः, आं आत्मने नमः, पं परमात्मने नमः, अं अन्तरात्मने नमः, ह्रीं ज्ञानात्मने नमः, मं मायातत्त्वाय नमः, कं कलातत्त्वाय नमः, विं विद्यातत्त्वाय नमः, पं परतत्त्वाय नमः।**

पीठ शक्तियां इस प्रकार हैं—

तीव्रायै, चालिन्यै, नन्दायै, भोगदायै, कामरूपिण्यै, उग्रायै, तेजोवत्यै, सत्यायै (इनके आगे नमः बोलकर क्रमशः पूर्व से दक्षिणावर्त आठों दिशाओं) मध्य में विघ्न विनाशिन्यै नमः कह कर अक्षत समर्पण से पूजा करे।

क्षेपक—षोडश मातृकाओं का पूजन करना हो तो सोलह बिन्दु या अक्षत की ढेरी बना कर पूजा करे—

गौर्यै, पद्मायै, शच्यै, मेधायै, सावित्र्यै विजयायै, जयायै, देवसेनायै, स्वधायै, स्वाहायै, मातृभ्यो, लोकमातृभ्यो, धृत्यै, पुष्ट्यै, तुष्ट्यै, आत्मकुलदेवताभ्यो (सबके आगे नमः जोड़ कर गंधाक्षतपुष्प चढ़ाने से पूजा हो जाती है।

८. लोकपालों का पूजन करने के लिए पूर्व से दक्षिणावर्त क्रम से आठों दिशाओं तथा ऊपर (यन्त्र बनाया हो तो पूर्व व ईशान कोण के मध्य में) नीचे (पश्चिम व नैऋत्य कोण के मध्य) इन पदों के आगे नमः जोड़कर गंधाक्षत पुष्प चढ़ा देने होते हैं—

इन्द्राय, अग्नये, यमाय, निर्ऋतये, वरुणाय, वायवे, कुबेराय, ईशानाय, ब्रह्मणे, अनन्ताय।

इसी प्रकार इनके आयुधों का पूजन करने में—

वज्राय, शक्तये, दण्डाय, खड्गाय, पाशाय, अंकुशाय, गदायै, त्रिशूलाय, पद्मने, चक्राय (इनमें नमः जोड़कर पूजा कर ली जाती है।)

विशेष ध्यातव्य—किसी मंत्र विशेष या निर्मित यंत्र की पूजा या प्राण प्रतिष्ठा में पूजा का क्रम भिन्न हो जाता है। यन्त्र का बिल्कुल मध्य भाग चाहे वह षट्-कोणात्मक है, वर्तुल है या चतुष्कोणिक। षट्कोण में छ कोणों में छः अंगों की स्थापना की जाती है जो हम हमारे हृदयादि षडंगन्यास में मंत्र वोला करते हैं वे ही षट्कोण में बोलकर गंधाक्षत पुष्प से पूजे जाते हैं।

ध्यान—विभिन्न देवताओं के विभिन्न स्वरूपों का ध्यान करने के लिए मंत्र दिये रहते हैं। गणपति, षोडशमातृका आदि की संक्षिप्त पूजा करके प्रमुख देवता की पूजा की जाती है। इसमें षोडशोपचारवती पूजा विशद् पूजा रहती है। इसका क्रम इस प्रकार है—

आवाहन—"देवेशि भक्तिसुलभे, परिवारसमन्विते, यावत्त्वां पूजयिष्यामि तावद्देवि इहावह"
इसको हाथ जोड़कर बोले तथा मूल मंत्र में तीन व्याहृति ओम् भूर्भुवः स्व जोड़ कर देवीं (देवी या देव का नाम) आवहयामि।

सन्निधि—आगच्छा कमले देवि स्थाने चात्र स्थिता भव
यावत्त्वां पूजयिष्यामि तावत्त्वं सन्निधौ भव।

मूल मंत्र + ओम् भूर्भुवः स्वः····· देवि सन्निधेहि।

स्थापन—तवेयं महिमामूर्तिस्तस्यां त्वं सर्वगा रमे
भक्तिस्नेहसमाकृष्टः दीपवत् स्थापयाम्यहम्।" मूलमंत्र + व्याहृति अत्र तिष्ठ।

सन्निधापन—अनन्या तव देवेशि मूर्ति.शक्तिरियं रमे
सान्निध्यं कुरु तस्यां त्वं भक्तानुग्रह तत्परे। मूलमंत्र + व्याहृति, नाम इह सन्निधेहि।

सन्निरोधन—आज्ञया तव देवेशि कृपांभोधे गुणाम्बुधे
आत्मानन्दैक तृप्तां त्वां निरुणध्मि धनेश्वरि। मूलमंत्र व्याहृति नाम इह सन्निरुन्धि।

अभिमुखीकरण—अज्ञानाद् दुर्मनस्त्वाद्वा वैकल्यात्साधनस्य च
यदपूर्णं भवेत्कृत्यं तदप्यभिमुखीभव" मूलमंत्र, व्याहृति, नाम सम्मुखीभव।

अवगुण्ठन—अभक्तवाङ् मनश्चक्षुः श्रोत्रैदूरातिगद्युते
स्वतेजः पंजरेणाशु वेष्टिता भव सर्वतः। मूलमंत्र, व्याहृति, नाम, अवगुण्ठिता भव

स्वागत—यस्याः दर्शनमिच्छन्ति देवाः स्वाभीष्ट सिद्धिये,
तस्यै ते परमेश्वर्यै स्वागतं स्वागतं च ते।" मूलमंत्र व्याहृति, नाम, स्वागतं समर्पयामि।

आसन—देवदेवि जगन्मातः महाराज्ञि प्रियेश्वरि
आसनं दिव्यमीशानि दास्येऽहं परमेश्वरि।
अपराधो भवत्येत्र सेवकानां पदे पदे
कोऽपरः सहतां लोके केवलं स्वामिनीं विना मूलमंत्र, व्याहृति, नाम
आसनं समर्पयामि।

प्रार्थना—स्वागतं देवदेवेशि मद्भाग्यात्त्वमिहागता
प्राकृतां त्वां च दृष्ट्वा मां वालवत्परिपालय। " " "
प्रार्थनां समर्पयामि।

पादय—यद्भक्तिलेश संस्पर्शात् परमानन्दसंभवे
तस्मै ते चरणाब्जाय पाद्यं शुद्धाय कल्पये। " " "
पादयोः पाद्यं समर्पयामि।

अहर्य—तापत्रय हरं दिव्यं परमानन्दलक्षणम्
तापत्रयविनिर्मुक्तं तवार्घ्यं कल्पयाम्यहम्। " " "
हस्तयोः अर्घ्यं समर्पयामि।

आचमनीय—देवानां देवतायै ते वेदानां परमात्मने
आचमं कल्पयामीशे शुद्धानां शुद्धिहेतवे। " " "
मुखे आचमनीयकम् समर्पयामि।

जल स्नान—गंगासरस्वतीरेवा पयोष्णीनर्मदा जलैः
स्नापितासि मयादेवि तथा शान्तिं कुरुष्व मे। " " "
सर्वांगे जलस्नानं समर्पयामि।

पंचामृत स्नान—पयोदधि घृतं चैव मधु वै शर्करायुतम्
पंचामृतं मयानीतं स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्। " " "
पंचामृत स्नानं समर्पयामि।

शुद्ध जल स्नान—(जल स्नान की तरह मंत्र से)

वस्त्र—सर्वभूपाधिके सौम्ये लोकलज्जा निवारणे,
मयैवोपादिते तुभ्यं वाससी प्रतिगृह्यताम् " " "
वस्त्रे समर्पयामि।

गंध—श्रीखण्ड चन्दनं दिव्यं गंधाढ्यं सुमनोहरम्
विलेपनं सुरश्रेष्ठ चन्दनं प्रतिगृह्यताम्। " " "
गंधं समर्पयामि।

अक्षत—अक्षताश्च सुरश्रेष्ठ कुंकुमाक्ताः सुशोभिताः
मया निवेदिताः भक्त्या गृहाण परमेश्वरि " " "
अक्षतान् समर्पयामि।

पुष्प—माल्यादीनि सुगंधीनि, मालत्यादीनि वै शिवे

मयानीतानि पुष्पाणि गृहाण परमेश्वरि — मूलमंत्र, व्याहृति, नाम
—पुष्पाणि समर्पयामि ।

धूप—वनस्पति रसोद्भूतो गंधाढ्यो गंध उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्वदेवानां धूपोऽयम् प्रतिगृह्यताम् । " " "
धूपं आघ्रापयामि ।

दीप—सुप्रकाशो महादीपः सर्वतस्तिस्तिमिरापहः ।
स वाह्याभ्यन्तर ज्योतिः दीपोयं प्रतिगृह्यताम् । " " "
दीपं दर्शयामि ।

नैवेद्य—सत्पात्रसिद्धं सुहविर्विविधानेकभक्षणम्
निवेदयामि देवेशि सानुगार्थं गृहाणतत् " " "
नैवेद्यं निवेदयामि ।

जलम्—नमस्ते देवदेवेशि सर्वतृप्तिकरम् परम् ।
अखण्डानन्द सम्पूर्णं गृहाण जलमुत्तमम् । " " "
जलं समर्पयामि

ताम्बूलं—पूगीफलं महद्दिव्यं नागवल्लीदलैर्युतम
एलाचूर्णादिभिर्युक्तं ताम्बूलं प्रतिगृह्यताम् " " "
तांबूलं समर्पयामि ।

फलं—इदं फलं मया देवि स्थापितं पुरतस्तव
तेन मे सुफलावाप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि " " "
फलं समर्पयामि

कपूरार्तिक्यं—कदलीगर्भसंभूतं कर्पूरं च प्रदीपितम् ।
आरात्रिकहं कुर्वे पश्य मे वरदो भव ।
(कपूर से आरती करे)

पुष्पांजलि—नाना सुगंधपुष्पाणि यथाकालोद्भवानि च
पुष्पांजलिर्मया दत्ता गृहाण परमेश्वरि " " "
मन्त्र पुष्पांजलिं समर्पयामि ।

क्षमापन—भूमौ स्खलित पादानां भूमिरेवावलंवनं
त्वयि जातापराधानां त्वमेव शरणं प्रभो ।
यदुक्तं यदि भावेन पत्रं पुष्पं फलं जलम्
निवेदितं च नैवेद्यं गृहाण त्वनुकम्पया ।।

पाद्य, अर्घ्य आदि में जो द्रव्य डालने चाहिए, उनका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है । यंत्र, मूर्ति अथवा चित्र को वे वस्तुएँ समर्पित कर देनी चाहिए। कागज का चित्र या मिट्टी की मूर्ति की स्नानादि न कराकर जल के छींटें दे देने चाहिएँ ।

ये मंत्र 'माँ' की मूर्ति या यंत्र के लिए हैं, जहाँ पुरुष स्वरूप देव हों वहाँ रेखांकित पर क्रमशः इस प्रकार संशोधन करके बोलना चाहिए। आवाहन—(देवेशि) देवेश,

(सुलभे) सुलभ, (समन्विते) समन्वित। (देवि) देव। सन्निधि—(कमले देवि) भगवन्देव, (स्थिता) स्थितो। स्थापन—(सवर्गां रमे) सर्वगः प्रभो। सन्निधापन—(देवेशि) देवेश, (रमे) प्रभो (तत्परे) तत्पर। सन्निरोधन—(देवेशि) देवेश, (तृप्तां) तृप्तं, (धनेश्वरि) धनेश्वर। अवगुण्ठन (वेष्टिता) वेष्टितो। स्वागत (यस्याः) यस्य, (तस्यै) तस्मै, परमेश्वर्ये) परमेशाय, आसन—(देवदेवि) देवदेव, (जगन्मातः) जगद्धातः, (महाराज्ञि) महाराज, (प्रियेश्वरि) प्रियेश्वर (दिव्यमीशानि) दिव्यमीशान, (परमेश्वरि) परमेश्वर (स्वामिनीं) स्वामिना। प्रार्थना—(देवदेवेशि) देवदेवेश, (हागता) हागतः। पादय (संभवे) संभव। अचमनीय– (देवानां देवतायै ते) देवानामपि देवाय (मीशे) मीश। जलस्नान (स्नापितासि) स्नापितोसि। गंध—(सुरश्रेष्ठ) सुरश्रेष्ठे। परमेश्वरि के स्थान पर परमेश्वर, शिवे के स्थान पर शिव देवि और देवेशि के स्थान पर देव और देवेश, सानुगायै के स्थान पर सानुगाय।

विशेष—किसी भी प्रयोजनवश यात्रा करनी पड़े और नित्यकर्म का अवसर न मिले तो यात्रा करते समय भी पूजा की जा सकती है। जूते खोलकर किसी दूसरे से बिना छूये—"अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपिवा, या स्मरेत् पुण्डरीकाक्षी सः वाह्यां-यन्तरः शुचिः" से अपने-आपको पवित्र करके ध्यान कर ले। देवता के पूजन में 'हं' आकाश तत्त्वात्मकं पुष्पं, 'यं' वायुतात्मकं धूपं, 'रं' तेजस्तत्त्वात्मकंदीपं, 'वं पृथ्वी तत्त्वात्मकं गंधं, 'लं' जलतत्वात्मकं नैवेद्यं समर्पयामि। अथवा मुद्रा से पंचोपचारिणी पूजा करले। गंधं समर्पयामि (गंध मुद्रा प्रदर्शित करे. गंध मुद्रा में अंगूठे से कनिष्ठा अंगुलि के निचले पोर को छूना होता है। ग्रंथान्तर में कनिष्ठा और अंगुष्ठं को मिलाकर गंध मुद्रा वतलाई गई है। पुष्पं समर्पयामि में पुष्पमुद्रा चारों अंगुलियों और अंगूठे को सीधा करके मिलाते हुए पुष्पमुद्रा से पुष्पार्पण करे। धूपं आघ्रापयामि में धूप मुद्रा में तर्जनी और अंगुष्ठ के अग्रभाग को मिलाये जाते हैं, दीपं दर्शयामि से दीपक मुद्रा मध्यमा और अंगुष्ठ को मिलाकर दिखा दे, नैवेद्यं निवेदयामि में कनिष्ठा और अंगुष्ठ को मिलाकर नैवेद्य मुद्रा प्रदर्शित करने से भी औपचारिकी पूजा हो जाती है। यदि उपचार हों तो उनको भी भी इन मुद्राओं के प्रदर्शन पूर्वक अर्पित करना ठीक रहता है।

पूजा के पश्चात् जप किया जाता है, जप को मंत्र के स्वरूप यंत्र चित्र अथवा मूर्ति के वायें हाथ में "गुह्यातिगुह्य गोप्तात्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम् सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि" बोलकर समर्पित कर दे, तदनन्तर हवन कर ले।

कार्तवीर्यार्जुन प्रयोग

जैसा हम पौराणिक आख्यानों में पढ़ते है कि कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन बहुत पराक्रमी था, उसके हजार हाथ थे, उसके राज्य में चोरी या परस्वहरण जैसे कृत्य नहीं होते थे। आजकल अशुचिता का प्रसार हो रहा है। अनेक लोग अपनी विवशता में ऋण लेते हैं और वाद में लौटाते नहीं। कुछ लोगों ने यह व्यवसाय ही बना

लिया है मेरा निश्चित विश्वास है कि मांगकर लिये गये रुपये व्यक्ति को लौटाने पड़ते हैं फिर हम पुनर्जन्म को क्यों भूल जाते हैं ? यह क्यों मान लेते हैं कि एक अदृष्ट विधान ऐसी रकम को वापस करने के लिये वाध्य करेगा ही। विन मांगे मिलने वाला धन हमने किसी जन्म में दिया था और मांग कर लिया धन यदि हम नहीं लौटाते हैं तो कालान्तर में किसी अन्य जन्म में लौटाना ही पड़ेगा। जिन की हाथ की दी हुई रकम रुक जाती है, या चोरी चली जाती है उसे वापस प्राप्त करने के लिए यह प्रयोग किया जाता है। कीर्तवीर्यार्जुन का वीस अक्षर का मंत्र इस प्रकार है।

"ओम् फ्रों च्रीं क्लीम् भ्रूम् आं ह्रीं क्रों श्रीं हुम् फट् कार्तवीर्यार्जुनाय नमः

विनियोग—अस्य श्री कीर्तवीर्यार्जुनमंत्रस्य दत्तात्रेय ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः कार्तवीर्यार्जुनो देवता ओम् बीजम् नमः शक्तिः ममाभीष्ट प्राप्त्यर्थे जपे विनियोग अभीष्ट प्राप्तयर्थे में जिन लोगों में रकम फंसी हुई है या जो वस्तु चोरी की गई है उसे प्राप्त करने की कामना करनी चाहिए।

न्यास—दत्तात्रेय ऋषये नमः शिरसि, अनुष्टप् छन्दसे नमः मुखे, कीर्तवीर्यार्जुनाय नमः हृदये, ओम् बीजाय नमः गुह्ये, नमः शक्तये नमः पादयोः, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

करन्यास—फ्रां च्रां अंगुष्ठाभ्याम् नमः, क्लीं श्रीं तर्जनीभ्यां नमः, हूं मध्यमाभ्यां नमः, क्रैं श्रैं अनामिकाभ्यां नमः, हुम फट् कनिष्ठकाभ्याम नमः कीर्तवीर्यार्जुनाय नमः करतलकरपृष्ठाभ्याम् नमः।

हृदयादि षडंग न्यास—फ्रां च्रां हृदयाय नमः, क्लीं श्रीं शिरसे स्वाहा, हूं शिखायै वषट्, क्रैं श्रैं कन्चाय हुम्, हुम् फट् अस्त्राय फट्, कीर्तवीर्यार्जुनाय नमः सर्वांगे।

व्यापक वर्णन्यास—ओम् फ्रों ओम् हृदये, ओं च्रीं ओं जठरे, ओं क्लीं ओं नाभौ, ओं भ्रू ओं पुनः जठरे, ओं आं ओं गुह्ये, ओं ह्रीं ओं दक्षिण पादे, ओं क्रों ओं वामपादे, ओं श्रीं ओं सक्थिनि, ओं हुम् ओं जानुनि, ओं फं ओं जंघयोः, ओं कां ओं मस्तके, ओं तं ओं लटाटे, ओं वीं ओं भ्रुवोः ओं यां ओं श्रवणयोः ओं जुं ओं नेत्रयोः ओं नां ओं नासिका-याम्, ओं यं ओं मुखे, ओं नं ओं गले, ओं मं ओं स्कन्धे

ध्यान—उदयत् सूर्य सहस्रकान्ति रखिल क्षोणी धवैर्वन्दितो
हस्तानां शतपंचकेन च दधच्चापा निषूंस्तावतः।
कंठे हाटक मालया परिवृतश्चक्रावतारो हरेः
पायात्स्यन्दनगोऽरूणाभवसनः श्री कीर्तवीर्यो नृपः॥

सामान्य पूजा विधि से हम परिचित हो गये हैं। यह पूजाविधि प्रत्येक प्रयोग में आवश्यक होती है। शास्त्रीय आदेशानुसार मंत्रोंपासना में प्रतीक की पूजा अनिवार्य मानी जाती है। आजकल कागज पर छपे चित्रों का प्रचार है, मूर्तियाँ भी यत्र कुत्र प्रयोग में आती हैं मूलतः यंत्र निर्मित करके उसकी पूजा करने तथा उस यंत्र को ही मंत्र का व्यक्त रूप मानने की परम्परा है। जिन यंत्रों के लिये विशेष निर्देश नहीं दिये गये हैं वहाँ चतुष्कोण के भीतर अष्टदल कमल में षट्कोण तथा षट्कोण में मूलमंत्र को लिखने का विधान है षट्कोण का मध्य मंत्र का प्राण होता है, षट्कोण के छ कोण मंत्र के षडंग होते

हैं, कमल के आठपत्र उसका परिवार होता है और चतुष्कोण दश दिशायें, दिक्पाल और उनके आयुध, वाहन आदि होते है। इन्हीं की पूजा होती है। सभी मंत्रों में दिक्-पालों, उनके आयुधों आदि की पूजा समान रहती है। भीतर के अंगों आवरणों की पूजा में अन्तर हो जाता है, अंग पूजा का क्रम समान रहता है। यंत्र सोना, चांदी, तांवा, भोज-पत्र आदि पर लिखा जाता है, धातु पर उत्कीर्ण की पूजा अप्टगंध से की जाती है, यदि किसी यंत्र के लिखने के लिये विशेष गंध का उल्लेख न हो तो अष्टगंध से लिखा जाता है। शिव, शक्ति और विष्णु के मंत्रों में उन देवताओं के लिए वर्णित अष्टगंध काम में ली जानी चाहिए। इस प्रकार की पूजा को आवारण कहते हैं। सामान्य पूजा पद्धति पहले लिख दी गई है। इसमें सामान्य प्रारंभिक कृत्य करने के वाद नौ पीठ शक्तियों का पूजन करे। पूर्वादि दिशाओं में विमलायै नमः, उत्कर्णिण्यै नमः, ज्ञानायै नमः, क्रियायै नमः, योगायै नमः, प्रह्व्यै नमः, सत्यायै नमः, ईशानायै नमः;अनुग्रहायै नमः। हाथ में गंधाक्षत पुष्प लेकर ऊपर लिखे पद बोलते हुए क्रमशः पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान तथा मध्य में फेंके देने चाहिएँ इसके वाद यंत्र को घी लगाकर, दूध एवं पानी से धोकर पुष्पादि के आसन पर स्थापित करें फिर ध्यान करें तथा आवरण पूजा करे।

प्रथम आवरण षट्कोणों का है। इसमें पहले कोणों में फिर साधक के सामने वाला कोण पूर्व एवं पीछे वाला पश्चिम इस प्रकार से पूजा करे। हृदयादि षडंग न्यास में लिखे मंत्रों से पूजा करे—पूजा करने का यही क्रम है कि रोली लगे और पुष्प मिले चावलों को तत्तत् कोणों पर चढ़ाया जाता है। मंत्र इस प्रकार से रहेंगे—फ्रां च्रां हृदयाय नमः। आगे उन-उन अंगों का नाम लेकर श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः कहना चाहिए। इसके पश्चात् क्रमशः आठ पत्ते वाले कमल के पत्तों के अग्रभाग में पहले पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, फिर आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान कोण में (की तरफ) अव-स्थित पद्म पत्रों में पूजन करे। पूर्व दिशा में अवस्थित पत्र में चोरमद विभंजकाय नमः कहकर गंधाक्षत पुष्प चढ़ावे, दक्षिण में मारीमद विभंजकाय नमः, पश्चिम में अरि-मद विभंजकाय नमः उत्तर में दैत्यमद विभंजकाय नमः, तदान्तर आग्नेय कोण में दुःखनाशनाय नमः नैऋत्य में दुष्ट नाशनाय नमः वायव्य में दुरितनाशनाय नमः, ईशान में रोगनाशनाय नमः बोलता हुआ पूजा करे। इसी क्रम से इन्हीं कमल पत्रों में कीर्तवीर्यार्जुन की शक्तियों का पूजन क्षेमंकर्यैनमः, वश्यकर्यैनमः श्रीकर्यै नमः, यशस्कर्यैनमः आयुष्कर्यैनमः प्रज्ञाकर्यैनमः, विदयाकर्यैनमः धनकर्यै नमः बोलते हुए गंध पुष्पाक्षत अर्पण करते हुए करे। इसके पश्चात् चतुष्कोण में दिक्पालों और आयुधों का पूजन करके स्थिर चित्त से पंचोपचार या शोषशोपचार से यंत्र पूजन करके मंत्र जप करे। एक लाख जप, दस हजार हवन (आहुति) तिल खीर से देने, एवं एक हजार संख्या में तर्पण करने से पुरश्चरण सम्पन्न हो जाता है। पुरश्चरण करने से मन्त्र सिद्ध हो जाता है। यद्यपि पुरश्चरण के लिए नियत इस संख्या में युग-प्रभाव के अनुसार वृद्धि करने की व्यवस्था है तदपि जो साधक अन्य मन्त्रों का पुरश्चरण

कर चुके हैं, जो आचार-व्यवहार में शुद्ध हैं, सत्वगुण संपन्न हैं उनके लिए यह संख्या पर्याप्त मानी जानी चाहिए। पुरश्चरण से साधित मन्त्र से जब कभी काम आ पड़े तब काम लिया जाता है। इस मन्त्र से रोग नाश, पुत्र लाभ, शत्रुनाश, गतवस्तु या द्रव्य की पुन: प्राप्ति जैसे प्रयोजन सम्पन्न होते हैं। विधि यह है कि भूमि पर अष्टगंध से कार्तवीर्यार्जुन का यंत्र लिखकर उसमें शुद्ध पवित्र जल भर ले फिर यंत्र की पूजा करके कुंभ में राजा कार्तवीर्य का आवाहन करे तथा इस कुंभ को दाहिने हाथ से (दाहिना हाथ माला में व्यस्त हो तो वाँयें हाथ से) स्पर्श करके एक हजार बार जप करे, जप सम्पन्न करके इस जल से साधक का अभिषेक करे यदि स्वयं ही साधना कर रहा तो स्वयं उस मन्त्रपूत जल से स्नान करे। इस मन्त्र जप का दशांश हवन भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिये भिन्न-भिन्न पदार्थों का किया जाता है। शत्रुशातन के लिये सरसों, लहसुन, विनौले और अरीठे का हवन किया जाता है, स्तंभन के लिए धतूरे का, विद्वेषण के लिये नीम का, वशीकरण के लिये कमल का हवन किया जाता है। समिधायें उच्चाटन के लिये वहेडे और खैर की अन्य में उन्हीं पदार्थों की लकड़ी समिधा के रूप में काम आती हैं। जौ का हवन करने से लक्ष्मी प्राप्ति, घी तिल का हवन करने से पाप नाश, तिल-चावल-लाजा का हवन करने से राजवशीकरण, मालकांगनी से स्त्री वशीकरण, गूगल से भूतवाधाशमन, पीपल-गूलर-वड़ और विल्व की समिधाओं का हवन करने से आयुष्य धन व पुत्र लाभ, सर्प की कैंचुल-धतूरा और नमका हवन करने से चोरनाश गोरोचन और गाय के गोबर के उपलों में हवन करने से स्तंभन तथा शालि चावलों का हवन करने से भूमि प्राप्ति होती है। विजय प्राप्ति, चोरी गये या दूसरे से रोके गये द्रव्य को प्राप्त करने के लिए दूसरा मन्त्र 'ओम् नमो भगवते श्री कार्तवीर्यार्जुनाय सर्वदुष्टान्तकाय तपोबलपराक्रमपरिपालित सप्तद्वीपाय सर्वराजन्य चूड़ामणये महाशक्तिमते सहस्रवाहवे हुम् फट्"

न्यास—राजजन्य चक्रवर्तिने हृदयाय नम:, वीराय शिरसे स्वाहा, शूराय शिखायै वषट्, माहिष्मतीपतये कवचात हुम्, रेवाम्बु परितृप्ताय नेत्रत्रयाय वौषट् कारागेह प्रवाधित दशास्याय अस्त्राय फट्।

प्राचीन ग्रन्थ में न्यास का यह विधान ही निर्दिष्ट है इसलिये संशय नहीं करना चाहिए। करन्यास भी इन्हीं पदों से कर लेना चाहिए। वर्णन्यास पहले वाले प्रयोग में जिस तरह दिया गया है उसी तरह कर लिया जाय। यन्त्र निर्माण और उसका पूजन भी पूर्वोक्त रीति से ही किया जाना चाहिए।

ध्यान—सिच्यमानं युवतिभि: क्रीडन्तं नर्मदाजले, हस्तैर्जलौघं रूंधंतं ध्यायेन्मत्तं नृपोत्तमम्। इस मन्त्र का पुरश्चरण एक हजार जप से ही जाता है, शेष व्यवस्थायें पहले की तरह रहेंगी। अन्य मन्त्र इस प्रकार है—"कार्तवीर्यार्जुनो नाम राजा वाहुसहस्रवान्, तस्य संस्मरणादेव हृतं नष्टं च लभ्यते यह मन्त्र चोरी गई या दबाई वस्तु या द्रव्य फिर से प्राप्त करने के निमित्त अधिक सार्थक रहता है।

न्यास—कार्तवीर्यार्जुनो नाम हृदयाय नम:, राजा बाहु सहस्रवान् शिरसे स्वाहा, तस्य संस्मरणादेव शिखायै वषट्, हृतं नष्टं च लभ्यते कवचाय हुम्, कार्तवीर्यार्जुनो नाम

राजा बाहुसहस्रवान् तस्य संस्मरणादेव हृतं नष्टं च लभ्यते अस्त्राय फट् ।

इन्हीं पदों से करन्यास कर ले, यन्त्र-पूजादि पहले प्रयोग की ही तरह होंगे। दूसरा मन्त्र इस प्रकार हैं—

"कार्तवीर्यः खलद्वेषी कृतवीर्य सुतोबली, सहस्रबाहुः शत्रुघ्नो रक्तवासाः धनुर्धरः, रक्तगंधो रक्तमाल्यो राजा स्मर्तुरभीष्टदः"

इसका न्यासादि कुछ नहीं है, यन्त्र निर्माण पूजादि पूर्व प्रयोगानुसार होंगे। यदि कोई इन बारह नामों को प्रतिदिन ग्यारह या इक्कीस बार पवित्र होकर पढ़ लिया करे उसके यहाँ चोरी नहीं होगी, न उसकी रकम कोई दबा सकेगा—ऐसा तन्त्र शास्त्र का वचन है। कार्तवीर्यार्जुन के ऊपर लिखे मन्त्रों में से किसी भी मन्त्र का प्रयोग करने से पहले कार्तवीर्य गायत्री का जप कर लेना चाहिए। एक हजार से दस हजार तक जप करने का विधान है—यह साधक की पात्रता पर निर्भर है कि कितने जप करने से वह उपयुक्त स्थिति प्राप्त करेगा। कार्तवीर्य गायत्री "ओम् कार्तवीर्याय विद्महे महावीर्याय धीमहि तन्नोर्जुनः प्रचोदयात्" यदि कोई रात में सोने से पहले ऊपर वाले मन्त्र (कार्तवीर्य गायत्री नहीं) का जप करके, उसे प्रणाम करके सोये तो चोर आदि का भय नहीं रहता।

बीसा यंत्र

यंत्र पद्धति भारत के चिन्तन की गहराइयों और रहस्य दृष्टि की तीव्रता की सूचक है। रेखाओं और रेखाजनित अंकों का भौतिक एवं पारमार्थिक अध्ययन करने में भारत शायद विश्व का प्राचीनतम देश है जिसने जड़ और चेतन के अन्तः संबंधों को परखा-पाया है। यंत्र रचना के विवेचन में अंकों वाले यंत्रों का छन्द बताने वाले ऋषियों ने अंक के सत्य, स्फूर्ति और स्पन्दन को सुकुमारता से जाना-पहचाना था। सामान्य दृष्टि से अंकों में यति गर्भित छन्द नहीं दिखता किन्तु गणित और गुणित के पहाड़ों का सूक्ष्म दर्शन करने पर उनमें भिन्नधर्मी एक गतिक्रम, एक स्वतंत्र लास्य, यति और मुद्रा दिखाई देती है। अंकों के इस रूप, गुण, गति आदि पर संप्रति विचार नहीं करेंगे यहाँ इतना ही जान लेना ठीक है कि किन्हीं संख्याओं को क्रम विशेष से रखने पर एक निश्चित स्वरूप बनता है और उसमें भी एक गति एवं तदाधारित शक्ति रहा करती है इन विशेषताओं को ऋषियों ने तकनीकी भाषा में ऋषि, छन्द, देवता आदि शब्दों में कहा है।

प्रत्येक मंत्र का यंत्र होता है और यंत्र का मंत्र होता है मंत्रों का प्रचार एवं विस्तार अधिक है इसलिये मंत्रों का यंत्र बनाने की विशिष्ट रचनायें भी हैं तथा जहाँ विशेष रूप नहीं बनता वहाँ सामान्य पद्धति से यंत्र निर्माण कर लिया जाता है किन्तु प्रत्येक यंत्र का, विशेषकर अंकों से निष्पन्न होने वाले यंत्र का मंत्र इतनी सरलता से नहीं मिलता। नित्यनाथ भगवान् ने अपने तांत्रिक प्रयोगों का संकलन इस प्रकार किया है कि

उनमें क्रमशः अंकों के यन्त्र साधित करके प्रयोग सम्पन्न किये जाते हैं, भले ही वे प्रयोग औषधियों के ही क्यों न हों।

प्रत्येक सांसारिक कामना के लिये यंत्र दिये गये हैं और इनका प्रयोग करने वालों ने उत्साहवर्धक परिणाम प्राप्त किये हैं—यह दूसरी बात है कि किसी को कितने प्रतिशत सफलता मिली और कोई असफल रह गया। असफलता के पीछे व्यक्तिगत कारण ही रहते हैं, शास्त्रीय व्यवस्था अपने आपमें खरी और असंदिग्ध है। जिस प्रकार मंत्र अनेक कार्य सम्पन्न करता है उसी प्रकार साधित यंत्र भी अनेक कार्य करता है। विश्व में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो केवल एक ही कार्य करती है फिर मंत्र या यंत्र की साधना तो देवता जैसी उदात्त शक्ति के मानवी गुण-धर्म, रूपाकार में स्थापित करने की प्रक्रिया है। मनुष्य जिस प्रकार अनेक कार्य कर सकता है उसी प्रकार मानवीय प्रयासों से संयोजित-संपादित मंत्र पुरुष भी अनेक कार्य कर सकता है।

यों यंत्रों के लिये यह कहा जाता है कि इनका न्यास, विनियोग, हवनादि नहीं होते किन्तु इन यंत्रों के आगे बैठकर जिन मंत्रों का जप किया जाता है उनके ऋषि, देवता, न्यास आदि सभी किये जाते हैं। कतिपय अंग तो अंक यंत्रों में भी सामान्यतया आ ही जाते हैं।

प्रस्तुत बीसा यंत्र सिद्ध यंत्रों की श्रेणी में आता है, इसकी प्रशंसा में शास्त्र बहुत मुखर हैं। जनभाषा में भी कहा जाता है—"जिसके पास रहे यह बीसा, उसका खाली रहे नहीं खीसा" मेरा अपना अनुभव एवं विश्वास है कि यन्त्रों का थोक व्यापार करने वाले इस विधा का अपमान करते हैं और जिस प्रकार रिश्वत लेने और देने वाले दोनों दण्ड के पात्र होते हैं उसी प्रकार केवल तांबे या चांदी के पात्र पर यन्त्र उत्कीर्ण करा कर बेचने और खरीदने वाले नरकगामी होते हैं। बीसा यन्त्र जैसे यन्त्र को कोई कीमत लेकर बेचता है यह अपने आप में उपहासास्पद बात लगती है क्योंकि बीसा यन्त्र के प्रभाव से धन की कमी रहने की बात होती नहीं इसलिये ये यन्त्र विक्रेता असिद्ध यन्त्रों का अशुद्ध व्यापार करते हैं। मेरा विनम्र आग्रह है कि साधक स्वयं जो कुछ करेगा वह स्थायी लाभ का विषय होगा। इससे साधक के पास एक अतिरिक्त शक्ति स्रोत आ जाएगा जिसका वह समय व परिस्थिति विशेष में परोपकार के निमित्त विनियोग कर सकेगा। साधकों को यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि पाप और दोष दो भिन्न स्थितियाँ होती हैं। समझने के लिये एक उदाहरण लें—कोई अंधा पुरुष हमारे सामने भटक रहा है, उसे रास्ता दिखाना हमारे लिये बाध्यता नहीं है किन्तु एक पुण्य संचय का प्रसंग है उसकी उपेक्षा करना दोष है। राजा दिलीप जब स्वर्ग से आ रहा था तो रास्ते में कामधेनु का सम्मान-नमस्कार—न करके दोष का भाजन बना। दोष का दण्ड अभाव से मिलता है अर्थात् हमारे सुख का कोई साधन छीन लिया जाता है जैसे बहुत ऐश्वर्यशाली होकर भी पेट की बीमारी से पीड़ित होने के कारण गरिष्ठ और स्वादिष्ट पदार्थ नहीं खा सकता।

इन यन्त्रों या मन्त्रों के सिद्ध हो जाने पर किसी को दुःखी करने से पाप और दोष दोनों का भागी बनाता है उसे एक हजार रु० का जुर्माना और दो माह की कड़ी कैद

जैसी दोनों सजायें मिलती हैं। यदि आपका विवेक इसे संगत मानता है कि आपकी या समाज की हितसाधना के लिये अभिचार कर्म आवश्यक हो गया है तो कर लीजिए किन्तु अपने अस्त्र संधान के पहले शान्त एवं निष्पक्ष दृष्टि से विचार कर लीजिए, पीड़ित होने वाले व्यक्ति के कष्ट और विपत्ति का मूल्यांकन कर लीजिए फिर आपको यह उचित लगे कि सभावित पाप-दोष के परिणामों से अधिक संगत आपका प्रहार करना है तो कर डालिये ऐसे अवसरों के लिये ही शास्त्रों ने इन प्रयोगों का उपदेश किया है किन्तु आवेश या अपने अहंकार की तृप्ति के लिये इन अस्त्रों का प्रयोग कभी भी मत करिये।

विश्वलोक तन्त्र में विशाक यन्त्र का विधान इस प्रकार है—

शुभ मुहूर्त में, सिद्ध स्थान—पर्वत, वन अथवा अपने घर के एकान्त—में जप स्थान निश्चित करके प्रयोगारंभ करे। अपना नित्य कर्म सम्पन्न करके स्थिर बुद्धि से कुशा के आसन पर पूर्व अथवा उत्तर की तरफ मुख करके प्रयोग करे।

सर्वप्रथम गुं गुरवे नमः, गं गणपतये नमः बोल कर गुरु और गणपति का ध्यान व नमस्कार करे। हाथ जोड़कर—

प्रजानाथ नमस्तेऽस्तु प्रजापालनतत्पर, प्रसन्नो भव मे देव यन्त्रसिद्धि प्रयच्छ मे।
ये केचित्प्रेतकूष्माण्डाः भैरवाः भूतनायकाः ते सर्वे विलयं यान्तु प्रजानाथ नमोस्तु ते।
प्रयच्छ सिद्धिमतुलां यन्त्रराजात्सुदुर्लभाम् त्वत्प्रसादादहं नाथ कृतकृत्यो व्रजे परम।

इन मन्त्रों से भगवान् शंकर को प्रार्थना करके चमेली की आठ अंगुल लंबी कलम से चन्दन, लाल चन्दन, अगर, कस्तूरी, कपूर, कुंकुम, देवदारु, कूठ को पानी में घिस कर वनाये। अष्टगंध से भोजपत्र पर वीसा यन्त्र लिखे। वैसे वीसा यन्त्र को लिखने के सत्तर प्रकार मैंने देखे हैं किन्तु विश्वलोक ने जो रूप और क्रम बताया है वह इस प्रकार है—भोजपत्र पर पहले पूर्व-पश्चिम चार रेखायें समानान्तर खैंचे फिर चार रेखायें उत्तर-दक्षिण खैंचे इस प्रकार आठ रेखाओं से नौ कोष्ठक वन जाते हैं। इनमें अंक भरे। अंक जिस कोष्ठक में हैं उसी में लिखे जायेंगे किन्तु लिखने का क्रम यह रहेगा—८, ९, ३, २, ७, ११, १०, ४, ६.

यन्त्र लेखन की यह सरल गति है, ठीक वैसी ही जैसी भाषा लिखने में रहा करती है। यह यन्त्र लिखते समय ओम् ह्रीं ओम् का जप मन में करते रहना चाहिए। इस तरह एक सौ आठ यन्त्र लिखे इन यन्त्रों को किसी पात्र में रख ले फिर इनका पंचोपचार से पूजन करे दीपक इत्र या इत्र से सुवासित तिल्ली के तेल का होना चाहिए, धूप में शुद्ध काला अगर, पुष्पों में—संभव हो तो कई रंग के सुगंधित पुष्प अष्ट गंध अथवा कुंकुम से गंध व प्रसाद (सिद्धान्न = मिठाई) चढ़ावे। एक पश्चिमाभिमुख दीपक (पश्चिमाभिमुख का अर्थ दीपक की वत्ती पश्चिम दिशा की तरफ जलती हुई लौ वाली होनी चाहिए) यह दीपक भी सुगंधित तेल से जलाया जाएगा तथा पूजा वाले दीपक से अलावा रहेगा। इस दीप के आगे हाथ जोड़कर—

"भो भो जलेशवसन सर्वकार्यप्रसाधक
निर्विघ्नं कुरु मे कार्यं हर विघ्नान् नमोस्तु ते।"

इससे वरुणदेव को प्रार्थना करके, दीपक की पुष्प, गंध, अक्षत से पूजा करके 'भो वरुण इम दीपं तुभ्यम् अहं संप्रददे' यह वोल कर दीपक वरुण देवता के अर्पित कर दे। इस अर्पित दीपक को वहीं रखा रहने दे अथवा पश्चिम दिशा में किसी ऊँचे स्थान पर रख दे या पूर्व, उत्तर की ओर वाले आले में रख दे किन्तु इसका मुख पश्चिम की तरफ ही रहे। उन पूजित यन्त्रों को सामने रखकर हाथ में जल लेकर विनियोग करे—

"अस्य श्री विंशांक यन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषि: अनुष्टुप् छन्द: विंशांका भवानी देवता ओम् बीजम् ह्लीम् शक्तिः श्रीम् कीलकम् चतुर्विधपुरुषार्थ सिद्धयर्थे जपे विनियोग:"

न्यास—ओम ब्रह्मर्पये नम: शिरसि, अनुष्टुप् छन्दसे नम: मुखे, विंशांकाभवानी देवतायै नम: हृदये, ओम वीजाय नम: गुह्ये ह्रीं शक्तये नम: पादयो:, श्रीं कीलकाय नम: नाभौ, विनियोगाय नम: सर्वांगे।

न्यास करने के पश्चात् लाल चन्दन की माला से—

"ओम् ह्लीम् श्रीम् क्लीम् मम सर्ववांछितं देहि देहि स्वाहा"

इस मन्त्र की दस मालायें जपे। दस मालाओं का एक हजार जप माना जाएगा। एक माला की आहुति पंचामृत (दूध, दही, घी, शहद, चीनी) तथा पाँच तरह की मिठाई से हवन करे, दस वार तर्पण करे। यह क्रम प्रतिदिन का है। अट्ठासी दिन तक रोज यह क्रम निभाने से अट्ठासी हजार जप होते हैं और इसका पुरश्चरण संपन्न हो जाता है। पुरश्चरण समाप्ति के दिन यथाशक्ति ब्राह्मण भोजन करा दे। शास्त्रानुसार अट्ठासी ब्राह्मण भोजन कराने की बात है। युगानुसार इतना संभव न हो तो कम करा दे शेष बाद में, सुविधानुसार करा देना चाहिए।

संभव है आज की मनोवृत्ति को यह ब्राह्मण भोजन की परम्परा अव्यावहारिक लगेगी तथा ब्राह्मणवाद की स्थापना प्रतीत होगी किन्तु जैसा अनुभव से सिद्ध है— ब्राह्मण में एक अंश अथवा उससे भी क्षीण रूप में ही सही, ब्राह्मणत्व का रहता ही है और उस सात्विकता को यथेच्छ व सुस्वादु भोजन कराने से उसकी तृप्ति जनित प्रसन्नता हमारे ज्ञात-अज्ञात दोषों का शमन करती है। मैं व्यक्तिगत रूप से इस परम्परा का पक्षपाती हूँ। कभी किसी क्षुधातुर को भोजन करा कर भी हम पुण्य लाभ ही करते हैं इस प्रकार के पुण्य कार्य हमारे ज्ञात-अज्ञात दोषों की उग्रता शान्त करते हैं।

इन भोजपत्र पर लिखे यन्त्रों को आटे की गोलियों में रखकर किसी जलाशय या समुद्र में मछलियों को इस भावना के साथ खिला देना चाहिए कि इससे वरुणदेव प्रसन्न होंगे।

पुरश्चरण के दिनों में भूमि पर सोना (संभव हो तो) अन्यथा यथाशक्ति— ब्रह्मचर्य धारण करना, लक्ष्मी साधक के जो व्यवहार दिये हैं उनका पालन करना, गेहूँ और तेल खाना, घी वर्जित है। पुरश्चरण करते समय कई वार कई तरह के विघ्न आते हैं। कभी साधक को विचित्र प्रकार के दृष्टान्त होते हैं, कभी कई तरह की आवाजें आती हैं, कभी साधक अस्वस्थ हो जाता है, इन सब विघ्नों पर कोई ध्यान दिये बिना अविचल भाव से करते रहने पर पुरश्चरण संपन्न हो जाता है। सिद्ध हो जाने पर इसी से अनेक

कार्य सम्पादित किये जा सकते हैं।

आकर्षण के लिये कुम्हार के यहाँ से लाये नये खप्पर (किसी घड़े का नीचे का हिस्सा या सराई) में इस यन्त्र को उपरिवर्णित स्याही से लिखकर उसे उलटा कर बाँये पैर से दबाकर—

"ओम ह्रीं श्रीं क्लीं······आकर्षय आकर्षय स्वाहा।"

इस मन्त्र का एक सौ आठ बार जप करने से आकर्षण होता है। खाली स्थान में जिसका आकर्षण करना हो उसका नाम लेना चाहिए। शास्त्र वचन के अनुसार पुरश्चरण करने के पश्चात् इस प्रयोग से चाहे जिसका आकर्षण किया जा सकता है।

शत्रुशातन के लिये भोजपत्र पर पहले यन्त्र लिखे फिर शत्रु का नाम लिखे फिर मूलमन्त्र लिखे इसके आगे एक सौ आठ वार जप करके इसी भोजपत्र को खैर (खदिर) की आग में तपाने से शत्रु विभिन्न प्रकार के कष्टों से घिर जाता है। ध्यान रहे यह भोजपत्र जल न जाय। उच्चाटन में वायव्य कोण की तरफ मुख करके धतूरे के रस से यन्त्र, फिर नाम, फिर मूल मन्त्र लिखकर उसके सामने एक माला मूलमन्त्र की जपे। उच्चाटन, विद्वेषण एवं शातन में साधक को क्रोधाविष्ट होकर जप करना चाहिए तथा जैसा कार्य हो अभीष्ट व्यक्ति की वैसी ही अवस्था की कल्पना करनी चाहिए। तदनन्तर उस भोजपत्र को श्मशान में फैंक देना चाहिए अथवा वहेड़े के पेड़ से बाँध देना चाहिए।

स्तंभन के लिये हल्दी के रस में नमक मिला कर भोजपत्र पर लिख कर उसे दो पत्थरों के बीच दवा कर रख दे तथा मूल मन्त्र में

"ओं क्लीं ह्रीं श्रीं······स्तंभनं कुरु कुरु स्वाहा।"

खाली स्थान में जिस व्यक्ति का स्तंभन करना हो उसका नाम लेकर स्य जोड़ देना चाहिए जैसे शंकर की यात्रा स्थगित करनी है तो शंकरस्य स्तंभनं वोला जाएगा और अधिक स्पष्ट करना हो तो मन में वह भावना रखे जिस चीज का स्तंभन करना हो और मूल मन्त्र का ही जप करता रहे। शत्रु का वाक् स्तंभन करना हो तो यह कल्पना कर ले, किसी की यात्रा स्थगित करनी हो या चोरों की गति स्तंभित करनी हो तो इसी तरह की कामना करता हुआ मन्त्र जपे। विद्वेषण के लिये श्मशान से लाये (कफन के) कपड़े पर उल्लू के पंख से धतूरे के रस से यन्त्र लिखे इस यन्त्र को बाँये पैर से दबा कर मन्त्र का जप करने से विद्वेषण होता ही है। इस प्रयोग में केवल यन्त्र लिखा जाएगा।

प्रारंभ में जो विधि दी गई है वह शान्ति पुष्टि श्री सम्पत्तिकारक रहती है। अच्छा रहे इस यन्त्र को सोने-चाँदी या ताँवे के पत्र पर लिखा कर रख ले। भोजपत्र पर लिखे गये यन्त्रों को तो सागर में मछलियों के अर्पित कर दिया जाएगा, यह मूल यन्त्र स्थापित रहेगा तो इसकी साक्षी में अन्य कार्य संपादित कर लिये जायेंगे किन्तु इस यन्त्र का पूजन तथा एक माला प्रतिदिन इसके सामने वैठकर की जाएगी।

लक्ष्मी कवच

अथ वक्ष्ये महेशानि कवचं सर्वकामदम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण भवेत्साक्षात्सदाशिवः ।।
नार्चनं तस्य देवेशि मन्त्रमात्रं जपेन्नरः ।
स भवेत्पार्वतीपुत्रः सर्वशास्त्रपुरस्कृतः ।।
विद्यार्थीनां सदा सेव्या धनदात्री विशेषतः ।
धनार्थिभिः सदा सेव्या कमला विष्णुवल्लभा ।।

विनियोग—अस्याश्चतुरक्षर विष्णुवनितायाः कवचस्य भगवान् शिव ऋषिः अनुष्टुप् छन्दः वाग्भवा देवता वाग्भवं वीजम् रमा कीलकम् काम वीजात्मकम् मम सुकवित्वपाण्डित्यसमृद्धिसिद्धये जपे विनियोगः ।

ऐं कारो मस्तके पातु वाग्भवा सर्वसिद्धिदा, ह्रीं पातु चक्षुषोर्मध्ये चक्षुर्युग्मे च शांकरी ।
जिह्वायां मुखवृत्ते च कर्णयोर्दन्तयोर्नसि, ओष्ठाधारे दन्तपंक्तौ तालुमूले हनौ पुनः ।
पातु मां विष्णुवनिता लक्ष्मीः श्रीवर्णरूपिणी कर्णयुग्मे भुजद्वन्द्वे स्तनद्वन्द्वे च पार्वती ।
हृदये मणिवंधे च ग्रीवायां पार्श्वयोर्द्वयोः पृष्ठदेशे तथा गुह्ये वामे च दक्षिणे तथा ।।
उपस्थे च नितंवे च नाभौ जंघाद्वये पुनः जानुचक्रे पदद्वन्द्वे घुटिकेऽगुलिमूलके ।।
स्वधा तु प्राणशक्त्यां वा समिन्यां मस्तके तथा सर्वांगे पातु कामेशी महादेवी समुन्नतिः ।
पुष्टिः पातु महामाया उत्कृष्टिः सर्वदावतु ऋद्धिः पातु सदा देवी सर्वत्र शंभुवल्लभा ।।
वाग्भवा सर्वदा पातु पातु मां हरगेहिनी रमा पातु महादेवी पातु माया विराट् स्वयम् ।
सर्वांगे पातु मां लक्ष्मीर्विष्णुमाया सुरेश्वरी विजया पातु भवने जया पातु सदा मम ।।
शिवदूती सदा पातु सुन्दरी पातु सर्वदा भैरवी पातु सर्वत्र भेरूण्डा सर्वदावतु ।
त्वरिता पातु मां नित्यमुग्रतारा सदावतु पातु मां कालिका नित्यं कालरात्रिः सदावतु ।
नवदुर्गाः सदा पान्तु कामाख्या सर्वदावतु योगिन्यः सर्वदा पान्तु मुद्राः पान्तु सदा मम ।
मात्राः पान्तु सदादेव्यश्चक्रस्थाः योगिनीगणाः सर्वत्र सर्वकार्येषु सर्वकर्मसु सर्वदा ।
पातु मां देवदेवी च लक्ष्मीः सर्वसमृद्धिदा इति ते कथितं दिव्यं कवचं सर्वसिद्धये ।

विशेष—मूलतः यह कवच चतुरक्षर लक्ष्मी मन्त्र का है । यह लक्ष्मी मन्त्र प्रयोग अन्यत्र दिया गया है । इस कवच के विवरण में लिखा गया है कि अपना हित चाहने वाला व्यक्ति लक्ष्मी कवच को मूर्ख, श्रद्धाहीन, निन्दा करने वाले, अंगहीन, अधिक अंग वाले, व्यक्ति को सिखाये, दिखाये, या बतावे नहीं । जो लोग कुलीन हैं, शिव और शक्ति की आराधना करते हैं, विचार व्यवहार में शुद्ध हैं उनको देना चाहिए ।

चतुरक्षर मन्त्र वाले यन्त्र को मं॰ल या शनिवार को लाल चन्दन और मेंहदी से लिखे और उसके केन्द्रक में मन्त्र लिखे तथा इस कवच को शुक्र एवं शोणित, अनेक गंध (गंधप्रधान द्रव्यों) गौरोचन, कुंकुम, रक्त चन्दन से रविवार श्रवण नक्षत्र में अथवा अश्विनी, कृत्तिका, फाल्गुनी, मघा, पूर्वाभाद्रपदा, स्वाति में से कोई नक्षत्र मंगलवार को रहे, इन्हीं दिनों में आयुष्मान, प्रीति, व्राह्म, ऐन्द्र योग हो अथवा अन्य कोई शुभ योग हो और कौलव, वालव, वणिज करण हो तो किसी शून्यस्थान, एकान्तस्थान अथवा

श्मशान में शाक, कन्द, मूल, फल, पुष्प, धूपादि से पूजन करे। कुमारिका पूजन और ब्राह्मण भोजन करके परमेश्वरी का पूजन करे तथा तीन दिन तक आखेट कथा करे तो सभी मनोरथ एवं षट्कर्म सिद्ध हो जाते हैं। अभिचार कर्म करने के लिये इसका अनुष्ठान श्मशान में तथा अन्य प्रयोजन के लिये घर पर अथवा अन्य स्थान में करना चाहिए।

लक्ष्मी स्तोत्र

त्रैलोक्य पूजिते देवि कमले विष्णुवल्लभे,
यथा त्वमचला कृष्णे तथा भवमयि स्थिरा।
कमला चंचला लक्ष्मीश्चला भूतिर्हरिप्रिया
पद्मा पद्मालया सम्यगुच्चैः श्रीपद्मधारिणी।
द्वादशैतानि नामानि लक्ष्मीं संपूज्य यः पठेत्
स्थिारा लक्ष्मीर्भवेत्तस्य पुत्रदारादिभिः सह।

कमला अष्टोत्तरशतनाम स्तोत्र

शतमष्टोत्तरं नाम्नां कमलायाः वरानने
प्रवक्ष्याम्यतिगुह्यं हि न कदापि प्रकाशयेत्।
महामाया महालक्ष्मीर्महावाणी महेश्वरी
महारात्रिर्महा शक्तिर्महिषासुरमर्दिनी।
कालरात्रिः कुहूः पूर्णा नन्दाद्या भद्रिका निशा
जया रिक्ता महाशक्तिर्देवमाता कृशोदरी।
शचीन्द्राणी शक्रनुता शंकरप्रियवल्लभा
महावराहजननी मदनोन्मथिनी मही।
वैकुण्ठनाथरमणी विष्णुवक्षःस्थलस्थिता
विश्वेश्वरी विश्वमाता वरदाभयदा शिवा।
शूलिनी चक्रिणी मा च पाशिनी शंखधारिणी
गदिनी मुण्डमाला च कमला वरुणालया।
पद्माक्षधारिणी ह्यम्बा महाविष्णुप्रियंकरी
गोलोकनाथरमणी गोलोकेश्वरपूजिता।
गया गंगा च यमुना च गोमती गरूडासना
गण्डकी सरयूस्तापी रेवा चैव पयस्विनी।

नर्मदा चैव कावेरी केदारस्थलवासिनी
किशोरी केशवनुता महेन्द्रपरिवन्दिता।
ब्रह्मादिदेव निर्माणकारिणी देवपूजिता
कोटिब्रह्माण्डमध्यस्था कोटिब्रह्माण्डकारिणी।
श्रुतिरूपा श्रुतिकरी श्रुतिस्मृतिपरायणा
इन्दिरा सिंधुतनया मातंगी लोकमातृका।
त्रिलोकजननी तंत्रा तंत्रमंत्रस्वरूपिणी
तरुणी च तमोहंत्री मंगला मंगलायना।
मधुकैटभमथिनी शुंभासुरविनाशिनी
निशुंभादिहरा माता हरिशंकरपूजिता।
सर्वदेवमयी सर्वा शरणागतपालिनी
शरण्या शंभुवनिता सिंधुतीर निवासिनी॥
गंधर्वगानरसिका गीतगोविन्दवल्लभा
त्रैलोक्यपालिनी तत्त्वरूपा तारूण्यपूरिता।
चन्द्रावली चन्द्रमुखी चन्द्रिका चन्द्रपूजिता
चन्द्रा शशांकभगिनी गीतवाद्यपरायणा।
सृष्टिरूपा सृष्टिकरी सृष्टिसंहारकारिणी
इति ते कथितं देवि रामानामशताष्टकम्।
त्रिसंध्यं प्रयतो भूत्वा पठेदेतत्समाहितः
यं यं कामयते काम तं तं प्र प्नोत्यसंशयम्।
इमं स्तवं यः पठतीह मर्त्यो वैकुण्ठपत्न्याः परमादरेण।
धनाधिपाद्यैः परिवन्दितः स्यात् प्रयास्यति श्रीपदमन्तकाले॥

लक्ष्मी सूक्त

ओं हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजां
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह।
तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरूषानहम्।
अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम्
श्रियं देवीमुपाह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम्।

कांसोस्मि तां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम्,
पद्मे स्थितां पद्वर्णां तामिहोपाह्वये श्रियम् ।
चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम्,
तां पद्मनेमिं शरणं प्रपद्ये अलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणोमि ।
आदित्यवर्णो तपसोऽधिजातो वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः,
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मायान्तरायाश्च बाह्या अलक्ष्मीः ।
उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह,
प्रादुर्भूतः सुराष्ट्रेस्मिन्कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ।
क्षुत्पिपासामला ज्येष्ठा अलक्ष्मीर्नाशयाम्यहम्
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वान्निणुद मे गृहात् ।
गंधद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टांकरीषिणीम्
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपाह्वये श्रियम् ।
मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ।
कर्दमेन प्रजा भूता मयि संभ्रम कर्दम
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ।
आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे
निच देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ।
आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम्
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह ।
अ र्द्रां यः करिणीं यष्टिं पिंगलां पद्ममालिनीम्
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह ।
तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम्,
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावोऽश्वान् विन्देयं पुरूषानहम् ।
यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम्
श्रियः पंचदशर्चं च श्रीकामःसततं जपेत् ।

सदाशिव कवच

श्री देव्युवाच—भगवन्देवदेवेश सर्वाम्नाय प्रपूजित, सर्वं मे कथितं देव कवचं न प्रकाशितम् । प्रासादाख्यस्य मंत्रस्य कवचं मे प्रकाशय ।

श्री भगवानुवाच—प्रासादामंत्रकवचस्य वामदेव ऋषिः पंक्तिश्छन्दः
सदाशिवो देवता सकलाभीष्ट सिद्धये जपे विनियोगः।

शिरो मे सर्वदा पातु प्रासादाख्यः सदाशिवः।
षडक्षरस्वरूपो मे वदनं तु महेश्वरः॥
पंचाक्षरात्मा भगवान् भुजौ मे परिरक्षतु।
मृत्युंजयस्त्रिवीजात्मा आस्यं रक्षतु मे सदा॥
वटमूलं समासीनो दक्षिणामूर्तिरव्ययः।
सदा मां सर्वदः पातु षट्त्रिंशार्णस्वरूपधृक्॥
द्वाविंशार्णात्मिको रूद्रो दक्षिणः परिरक्षतु।
त्रिवर्णात्मा नीलकंठः कंठं रक्षतु सर्वदा॥
चिन्तामणिर्बीजरूपो ह्यर्धनारीश्वरो हरः।
सदा रक्षतु मे गुह्यं सर्वसम्पत्प्रदायकः॥
एकाक्षर स्वरूपात्मा कूटव्यापी महेश्वरः।
मार्तंड भैरवो नित्यं पादौ मे परिरक्षतु॥
तुंबुराख्यो महाबीजस्वरूपस्त्रिपुरान्तकः।
सदा मां रणभूमौ च रक्षतु त्रिदिशाधिपः॥
ऊर्ध्वं मूर्धानमीशानो मम रक्षतु सर्वदा।
दक्षिणास्यं तत्पुरुषः पायान्मे गिरिनायकः॥
अघोराख्यो महादेवः पूर्वास्यं परिरक्षतु।
वामदेवः पश्चिमास्यं सदा मे परिरक्षतु॥
उत्तरास्यं सदा पातु सद्योजातस्वरूप धृक्।
इत्थं रक्षाकरं देवि कवचं देव दुर्लभम्॥
प्रातःकाले पठेद्यस्तु सोऽभीष्टं फलमाप्नुयात्।
पूजाकाले पठेद्यस्तु कवचं साधकोत्तमः॥
कीर्तिः श्रीः कान्तिमेधायुः सहितो भवतिध्रुवम्।
कण्ठे यो धारयेदेतत्कवचं, मत्स्वरूपकम्॥
युद्धे च जय माप्नोति द्यूते वादे च साधकः।
कवचं धारयेद् यस्तु साधको दाक्षणे भुजे॥
देवाः मनुष्याः गंधर्वाः वश्यास्तस्य न संशयः।
कवचं शिरसा यस्तु धारयेद् यतमानसः॥
करस्थास्तस्य देवेशि अणिमाद्यष्टसिद्धयः।

भूर्जपत्रेत्विमां विद्यां शुक्लपट्टेन वेष्टिताम् ॥
रजतोदरसंविष्टाम् कृत्वा वा धारयेत्सुधीः ।
संप्राप्य महतीं लक्ष्मीमन्ते मद्देहरूपभाक् ॥
यस्मै कस्मै न दातव्यं न प्रकाशयं कदाचन ।
शिष्याय भक्तियुक्ताय साधकाय प्रकाश्येत् ॥
अन्यथा सिद्धिहानिः स्यात्सत्यमेतन्मनोरमे ।
तव स्नेहान्मह देवि कथितं कवचं शुभम् ॥
न देयं कस्यचिद् भद्रे यदीच्छेदात्मनोहितम् ॥
योऽर्चयेद् गंधपुष्पाद्यैः कवचं मन्मुखोदितम् ॥
तेनार्चिता महादेवी सर्वे देवाः न संशयः ॥

विशेष—मूल कवच 'इत्थं रक्षाकरं देवि कवचं देव दुर्लभम्' तक ही है। यह कवच मंत्र की श्रेणी में नहीं विद्या की श्रेणी में आता है इसलिए पांच सौ बार जप करने से ही पुरश्चरण हो जाता है। जो लोग इसके कई पाठ कर चुके वे भोजपत्र या चांदी के पत्र पर लिखकर पंचोपचार से पूजा करके हाथ या गले में बांध लेते हैं वे युद्ध, विवाद, मुकदमे में विजय प्राप्त करते हैं, लोग उनके वशीभूत रहते हैं, सभी प्रकार की सफलता उनको मिलती है। इस कवच को अष्ट गंध से भोज पत्र पर लिखकर सफेद कपड़े से लपेटकर गंध पुष्पादि से पूजा करके, इसको सामने रखकर इक्यावन बार पाठ सुनाकर चांदी के तावीज में धारण करने से धन-धान्य वृद्धि होती है, रक्षा होती है।

गणपति प्रयोग

गणपति की उपसना विघ्न विनाशन, ऋद्धि (किसी भी कार्य का विकास) सिद्धि प्राप्त करने एवं स्त्री का आकर्षण करने के लिए की जाती है। इन कार्यों में गणपति की उपासना सामयिक एवं अपेक्षया सिद्धिदायक रहती है। गणपति के सात्विक स्वरूप का स्तोत्र इस पुस्तक में अन्यत्र दे दिया गया है, राजस ध्यान में ये जल विहार कर रहे, अपनी अंक में ऋद्धि-सिद्धि को बिठलाकर उनसे कामुक चेष्टा करते हुए माने जाते हैं। इनके तीन-चार प्रयोग दिये जा रहे हैं विश्वास पूर्वक करने पर साधक की मनोकामना पूरी करने एवं किसी अन्य प्रयोग को करने से पहले इनका ध्यान करने पर सफलता प्रदान करने का इनका स्वभाव है।

उच्छिष्ट गणपति का प्राकृत प्रयोग

मन्त्र—"ओम् नमो हस्तिमुखाय लम्वोदराय उच्छिष्ट महात्मने क्रां क्रीं ह्रीं घे घे उच्छिष्टाय स्वाहा"

इस मन्त्र के विनियोगादि नहीं हैं पर सृष्टि न्यास और करन्यास कर लेने चाहिएँ। करन्यास में ओम् नमो हस्तिमुखाय अंगुष्ठाभ्यां नमः, लम्वोदराय तर्जनीभ्यां नमः, उच्छिष्टमहात्मने माध्यमाभ्यां नमः, क्रां क्रीं ह्रीं घे घे अनामिकाभ्यां नमः, उच्छिष्टाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः, स्वाहा करतल करपृष्ठाभ्यां नमः। हृदयादि षडंग न्यास भी इन्ही पदों से करना है जैसे—ओम् नमो हस्तिनमुखाय हृदयाय नमः, लम्वोदराय शिरसे स्वाहा, उच्छिष्ट महात्मने शिखायै वषट्, क्रां क्रीं ह्रीं घे चे कवचाय हुम्, उच्छिष्टाय नेत्रत्रयाय वौषट्, स्वाहा अस्त्राय फट्।

कड़वे नीम की जड़ से अंगूठे के ऊपरी पोर जितनी मूर्ति, रविवार पुष्य नक्षत्र के दिन वना ले। इस मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा करके थाली में रखकर लाल पुष्प चावल, लाल चन्दन से पूजा करके उनको चढ़ाये प्रसाद में से अथवा पान में से थोड़ा मुँह में रख ले उसे चवाते हुए अथघा चवाकर जूंठे मुंह ही ऊपर लिखे मन्त्र की पाँच माला जपे। यह प्रयोग कृष्णपक्ष की अष्टमी से अमावास्या पर्यन्त करना चाहिए। अष्टमी से चर्तुदशी तक सात दिन जप करे तथा अमास्या के दिन जप करके जूंठे मुँह ही पंचखाद्य से पाँच माला की आहुति दे। यह संक्षिप्त पुरश्चरण है, इससे सामान्य मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, साधक का यश बढ़ता है।

आकर्षण के लिये—पहले यह पुरश्चरण कर ले फिर जिस स्त्री का आकर्षण करना हो उसके चित्र के (चित्र कैमरे से बनाया हुआ सुलभ न हो तो अपनी कलम से जैसा वना सके वैसा वनाकर उसमें रूप कल्पना कर लेनी चाहिए) हृदय स्थान में गणपति की मूर्ति रखकर प्रतिदिन एक माला जपे, इस प्रकार करने से सप्ताह भर में आकर्षण हो जाता है विर्कषण करने के लिये उसके चित्र के कपाल पर रखकर उसी पद्धति से एक माला प्रतिदिन जपे। सर्वजन वशीकरण के लिये उस गणपति मूर्ति को नदी में ले जाकर पहले धोले फिर अपने मुँह में नदी का पानी भरकर कुल्ले से गणपति को स्नान कराये, चार कुल्लों से स्नान कराये, इन कुल्लों का पानी किसी घड़े के पानी में मिलाकर जिनको पिलाया जाएगा वे वशीभूत हो जायेंगे। इस प्रयोग में सात-आठ दिन वाला पुरश्चरण पहले कर लेना आवश्यक होता है तथा उनको जूंठे पानी से स्नान कराते समय एवं उस जल को वशीकरण के लिये पिलाते समय मन्त्र का जप करना होता है। यदि जल पर पाँच माला जप कर दी जाँय तो फिर पिलाते समय जपने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार मन्त्र पूजित जल को कोई भी व्यक्ति पिला सकता है, किन्तु वशीकरण उसके प्रति होगा जिसने प्रयोग किया है उस गणपति मूर्ति को दरवाजे पर या पेड़ की डाल में रखकर नित्य पूजा करके एक माला जपे तो धन-धान्य की वृद्धि होती है। इस मूर्ति को तांबे या चांदी के तावीज में रखकर कमर में बांधने से शत्रु स्तब्ध और स्त्रियाँ वशीभूत हो जाती हैं। शत्रुशातन के लिये गणपति

मूर्ति को हाथ में रखकर घो ले और शत्रु का नाम लेते हुए उस जल को पीवे—इससे शत्रु स्तब्ध होते हैं।

शक्ति विनायक प्रयोग

मूल मंत्र—"ओम् ह्रीं ग्रीं ह्रीं" चार अक्षर का यह मंत्र शक्ति विनायक का है।

विनयोग—अस्य श्री शक्तिगणाधिपतिमन्त्रस्य भार्गव ऋषिः विराट् छन्दः शक्तिगणाधिपतिदेवता ग्रीं बीजम् ह्रीं शक्तिः मम अभीष्टप्राप्तये जप विनियोगः

न्यास—ओम् भार्गव ऋषये नमः शिरसि, विराट् छन्दसे नमः मुखे, शक्ति गणाधिपति देवतायै नमः हृदये ग्रीं बीजाय नमः गुह्ये, ह्रीं शक्तये नमः पादयोः विनि-योगाय नमः सर्वांगे

करन्यास—ओम् ग्रां अंगुष्ठाभ्याम् नमः, ओम् ग्रीं तर्जनीभ्यां नमः ओम् ग्रूं मध्यमाभ्याम् नमः ओम् ग्रैं अनामिकाभ्यां नमः, ओं ग्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः ओम् ग्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः

इन्हीं बीजों से सृष्टि न्यास कर लेना चाहिए जैसे—

ओम् ग्रां हृदयाय नमः, ओम् ग्रीं शिरसे स्वाहा, ओम् ग्रूं शिखायै वषट् ओम् ग्रैं कवचाय हुम्, ओम् ग्रौं नैत्रत्रयाय वौषट्, ओम् ग्रः अस्त्राय फट्।

ध्यान—विषाणांकुशावक्षसूत्रं च पाशं दधानं करैर्मोदकं पुष्करेण।
स्वपत्न्या युतं हेमभूषाभराढ्यं गणेशं समुद्यत् दिनेशाभमीडे।

इसके पश्चात् ताम्रपत्र, रजतपत्र अथवा स्वर्णपत्र पर निर्मित शक्ति विनायक यंत्र की पूजा करनी है (यन्त्र निर्माण में सामान्य विधि से उत्कीर्ण यन्त्र ही होगा अर्थात् चतुष्कोण के भीतर अष्टदल कमल और इस कमल के भीतर दो त्रिभुजों को परस्पर मिलाकर वनाये षट्कोण में मूल मन्त्र लिख दिया जाय) ताम्र या अन्य पत्र न मिले तो भोजपत्र पर ही अष्टगंध से लिख लेना चाहिए।

सामान्य पद्धति के अनुसार मंडूक से लेकर परतत्त्व तक के पीठ देवताओं का पूजन करे फिर पूर्वादि क्रम से नौ पीठ शक्तियों का पूजन करके यन्त्र का पूजन करना होता है। यह पूजा पद्धति इस खंड के प्रारंभ में दी गई है।

यन्त्र के पूजन में सवसे पहले षट्कोणों में पूजन करनी होगी। क्रम यह है कि आपके सामने वाले कोण से दाहिनी तरफ होते हुए तीसरे कोण में आग्नेय विदिशा मानी जाती है इसलिए पहले में वह कोण, दूसरे में आपके दाहिने एवं उसकी सीध में पड़ने वाला नीचे दूसरा फिर सामने वाले को छोड़ कर वायें „हाथ की तरफ वाला तीसरा, उससे ऊपर वाला चौथा, आपके सामने वाला पाँचवा, आपके सामने बिल्कुल पीछे वाला छठा। यह क्रम इसलिये कि स्थापना किये जाने वाले देवता का मुख आपकी तरफ होगा किन्तु जब उसकी स्थापना हो चुकेगी तो क्रम इससे विपरीत चलेगा क्योंकि देवता आपके

सम्मुख विराजमान हो गये हैं इसलिये आपका बाँया उसका दाहिना होगा। इस विधि को प्रदर्शित करने वाला सामान्य यंत्र अंक क्रम से दिया गया है जहाँ क्रम में कोई अन्तर होगा वहाँ इसका उल्लेख कर दिया जाएगा।

षट्कोणों में क्रमशः गणपति के स्वरूपों का पूजन होगा। वक्रतुंडाय नमः, वक्रतुंड श्रीपादकां पूजयामि तर्पयामि नमः (श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः—ये शब्द आगे के प्रत्येक पद में जोड़ देने चाहिएँ) दूसरे में एकदंष्ट्राय नमः, तीसरे में महोदराय नमः, चौथे में हस्तिमुखाय नमः, पाँचवे में लम्बोदराय नमः, छठे में विकटाय नमः, सातवें तीसरे और चौथे कोण के बीच में बाहर की तरफ किन्तु अष्टदल कमल के अन्दर की तरफ विघ्नराजाय नमः, आठवें पहले और दूसरे कोण के बीच में धूम्र वर्णाय नमः।

अब अष्टदलकमल से आठ पत्तों में आपके सामने वाले पत्र से प्रारंभ करकेआपके बाँये हाथ की तरफ से क्रमशः चारों ओर गणपति की शक्तियों का पूजन करिये। क्रमशः ब्राह्म्यै नमः ब्राह्मी श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः (ये पद आगे भी जोड़ने होंगे। माहेश्वर्यै नमः माहेश्वरी श्री०, तीसरे पद में कौमार्यै नमः कौमारी०, वैष्णव्यै नमः वैष्णवी०, वाराह्यै नमः वाराही०, इन्द्राण्यै नमः इन्द्राणी०, चामुण्डायै नमः चामुंडा० आठवें पत्र में महालक्ष्म्यै नमः महालक्ष्मी श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

इसके पश्चात् चतुष्कोण में दशों दिक्पालों और उनके आयुधों का पूजन करना चाहिए यह क्रम सामान्य पूजा पद्धति में देख लेना चाहिए।

इस पूजा में गंध अक्षत पुष्प ही चढ़ाने पड़ते हैं। इसके बाद यन्त्र की समग्र पूजा षोडशोपचार में बताये गये मन्त्रों से कर लेनी चाहिए। यन्त्र में प्राण प्रतिष्ठा भी प्राण प्रतिष्ठा में बताये गये क्रम से कर लेनी है।

चतुरक्षर मन्त्र होने के कारण इसका पुरश्चरण चार लाख जप करने से संपन्न हो जाता है। पूये से दशांश हवन करना होता है। ऐसा करने पर मन्त्र सिद्ध होता है। इसके पश्चात् मन्त्र जप करके दशांश (घी में मिलाकर अन्न का) हवन करने से अन्न लाभ, ईख के टुकड़ों को होमने से राजा के समान वैभव, केले और नारियल के हवन से वशीकरण, केवल घी के हवन से धन, नमक की कंकरियों को शहद में मिलाकर हवन करने से स्त्री वशीकरण तथा पूये का हवन करने से राजवशीकरण होता है।

लक्ष्मी विनायक गणपति प्रयोग

यों तो गणपति का प्रयोग सुख, शान्ति, समृद्धि, ऋद्धिसिद्धि के लिये किया जाता है किन्तु जिनको राजनीति, राजनेता एवं जनसंपर्क का काम रहता है उनके लिए यह प्रयोग दैनिक पूजा-नित्यकर्म के रूप में श्रेयस्कर रहेगा।

मंत्र—"ओम् श्रीं गं सौम्याय गणपतये वरवरद सर्वजनं मे वशमानय स्वाहा।"

विनियोग—अस्य श्रीलक्ष्मीविनायकमन्त्रस्य अन्तर्यामी ऋषिः गायत्री छन्दः लक्ष्मीविनायको देवता श्रीं बीजम् स्वाहा शक्ति ममाभीष्टप्राप्तये जपे विनियोगः।

न्यास—अन्तर्यामि ऋषये नमः शिरसि, गायत्री छन्दसे नमः मुखे, लक्ष्मी विनायक देवतायै नमः हृदये, श्रीं बीजाय नमः गुह्ये, स्वाहा शक्तये नमः पादयोः, विनियोगाय नमः सर्वांगे।

करन्यास—श्रां गां अंगुष्ठाभ्याम् नमः, श्रीं गीं तर्जनीभ्याम् नमः, श्रूं गूं मध्यमाभ्यां नमः, श्रैं गैं अनामिकाभ्यां नमः, श्रौं गौं कनिष्ठकाभ्यां नमः, श्रीं गः करतल कर पृष्ठाभ्यां नमः।

हृदयादि न्यास—श्रां गां हृदयाय नमः, श्रीं गीं शिरसे स्वाहा, श्रूं गूं शिखायै वषट्, श्रैं गैं कवचाय हुम्, श्रौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट्, श्रः गः अस्त्राय फट्।

ध्यान—दन्ताभये चक्रवरौ दधानं कराग्रगं स्वर्णघटं त्रिनेत्रम्।
धृताब्जयालिंगितमब्धिपुत्र्या लक्ष्मीगणेशं कनकाभमीड़े॥

पश्चात् मंडूक से लेकर परतत्व तक पीठ देवता और पहले वाले प्रयोग में वर्णित नौ पीठ शक्तियों की पूजा करे तदन्तर निर्मित यन्त्र को स्नान कराकर (स्नान दूध और स्वच्छ जल से होगा) स्वच्छ कपड़े से पोंछकर आसन पर स्थापित करे, प्राण प्रतिष्ठा करके यन्त्र की क्रमशः पूजा करे, पूजा करने की विधि वही है जो ऊपरवाले प्रयोग में वर्णित है। शक्ति विनायक यन्त्र में षट्कोण के अतिरिक्त दो और थे जबकि इसमें छः ही हैं। क्रम ऊपरवाले ढंग से ही रहेगा किन्तु पूजार्थ इस प्रकार बोलना होगा श्रां गां हृदयाय नमः, श्रीं गीं शिरसे स्वाहा, श्रूं गूं शिखायै वषट्, श्रैं गैं कवचाय हुम्, श्रौं गौं नेत्रत्रयाय वौषट्, श्रः गः अस्त्राय फट् शंखाय नमः पद्मनिधये नमः। इनके पश्चात् उन-उन नामों के आगे श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः पूर्ववत् जोड़ दिया जाएगा जैसे—हृदय श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः इसी प्रकार सभी स्थानों पर जोड़कर बोल दिया जाएगा, जैसे शंख श्री०, पद्मनिधि श्री०।

अष्टदल कमल के पत्रों में पूर्ववर्णित क्रम के अनुसार अर्थात् सामने वाले पत्र से प्रारंभ होकर आपके बाँये हाथ की तरफ से क्रमशः पूजा होगी। पूजा में गंध, चावल और पुष्प चढ़ाये जायेंगे। वलाय नमः वला **श्री पादुकांपूजयामि तर्पयामि नमः**—ये शब्द आगे के पूजन में भी बोले जायेंगे।

विमलायै नमः विमला श्री०, कमलायै नमः कमला० वनमालिकायै नमः वनमालिका०, विभीषिकायै नमः विभीषिका०, मालिकायै नमः मालिका०, शांकर्यै नमः शांकरी०, वसुबालिकायै नमः वसु वालिका० (नाम के पश्चात् विन्दु जहाँ लगाई गई है वहां श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः जोड़ा जाएगा) इससे पश्चात् चतुष्कोण में बाहर की तरफ इन्द्रादि दिक्पालों और उनके आयुधों का पूजन किया जाएगा।

चार लाख जप से इसका पुरश्चरण होता है, विल्वपत्र की लकड़ी से दशांश हवन किया जाता है। तर्पण एवं ब्राह्मण भोजन होम के दशांश तथा तर्पण के दशांश की संख्या में किया जाता है।

इस प्रकार पुरश्चरण करलेने के पश्चात् नाभि तक जल में खड़े होकर सूर्यमण्डल में भगवान् गणपति का ध्यान करते हुए जप करने से लक्ष्मी प्राप्ति, विल्वपत्र की जड़ में बैठकर जितना जप किया जाएगा उतना ही फल (मनोवांछित) प्राप्त होगा, अशोक

वृक्ष की समिधा में घी और चावल का हवन करने से वशीकरण, खैर की लकड़ी में आक की लकड़ी की श्रुचा से हवन करके राजवशीकरण, खीर का हवन करने से लक्ष्मी प्राप्त होती है।

गणपति के अन्य सरल प्रयोग

"ओम् नमो सिद्धि विनायकाय सर्वकार्यकर्त्रे सर्वविघ्नप्रशमानय सर्वराज्यवश्य-करणाय सर्वजन सर्वस्त्रीपुरुषाकर्षणाय श्रीं ओम् स्वाहा।"

इस मन्त्र के न्यास आदि नहीं होते केवल एक माला प्रतिदिन जप करने से ही सारे काम सिद्ध हो जाते हैं। यात्रा पर जाने से पूर्व एवं यात्रा करते समय इसका जप करने से यात्रा निर्विघ्न पूरी होती है तथा यात्रा का प्रयोजन पूर्ण होता है।

"ओम् गीं गूं गणपतये नमः स्वाहा" ब्रह्मचर्य में रहते हुए, भूमिशैय्या करके एक लाख जपे, पंच खाद्य से दशांश हवन करने से ऋद्धि-सिद्धि होती है तथा विघ्न नष्ट होते हैं।

"गं गणपतये नमः" कुम्हार के यहां से मिट्टी लाकर उससे गणपति की मूर्ति बनाकर पंचोपचार से पूजन, प्राण प्रतिष्ठा करके सामने रखकर ऊपर लिखे मन्त्र की ग्यारह माला जपे। एक सप्ताह में यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है। तदन्तर इसकी प्रतिदिन पाँच माला जपने से बुद्धि विकसित होती है, एक मास तक करने से स्त्री लाभ होता है। इसी मन्त्र की संध्या समय ग्यारह माला जप करने से मनोरथ पूर्ण होते हैं, एक मास में धन प्राप्ति और छ माह में प्रचुर धन लाभ होता है।

गणपति स्तवन

ओंकारमाद्यं प्रवदन्ति सन्तोवाचः श्रुतीनामपि यं गृणन्ति।
गजाननं देवगणानतांघ्रि भजेहमर्धेन्दु कृतावतंसम्॥
पदारविन्दार्चनतत्पराणाम् संसारदावानलभंगदक्षम्।
निरन्तरं निर्गतदानतोयैस्तं नौमि विघ्नेश्वरमम्बुदाभम्॥
कृतांगरागं नवकुंकुमेन मत्तालिमालां मदपंकलग्नाम्।
निवारयन्तं निजकर्णतालैः को विस्मरेत्पुत्रमनंगशत्रोः॥
शंभोर्जटाजूटनिवासिगंगाजलं समादाय कराम्बुजेन।
लीलाभिराराच्छिवमर्चयन्तं गजाननं भक्तियुताः भजन्ति॥
कुमारभुक्तौ पुनरात्महेतोः पयोधरौ पर्वतराजपुत्र्याः।
प्रक्षालयन्तं करसीकरेण मौग्ध्येन तं नागमुखं भजामि॥

त्वया समुद्धृत्य गजास्य हस्तं ये सीकराः पुष्करंध्रमुक्ताः ।
व्योमांगणे ते विचरन्ति ताराः कालात्मना मौक्तिकतुल्यभासः ॥
क्रीडारते वारिनिधौ गजास्ये वेलामतिक्रामति वारिपूरे ।
कल्पावसानं प्रविचिन्त्यदेवाः कैलासनाथं स्तुतिभिः स्तुवन्ति ॥
नागानने नागकृतोत्तरीये क्रीडारते देवकुमारसंघैः ।
त्वयि क्षणं कालमतिं विहाय तौ प्रापतुः कन्दुकतामिनेन्दू ॥
मदोल्लसत्पंचमुखैरजस्रम् अध्यापयन्तं सकलागमार्थान् ।
देवान् ऋषीन् भक्तजनैकमित्रं हेरम्बमर्कारूणमाश्रयामि ॥
पादाम्बुजाभ्यामतिवामनाभ्याम् कृतार्थयन्तं कृपया धरित्रीम् ।
अकारणं कारणमाप्तवाचां तं नागवक्त्रं न जहाति चेतः ॥
येनार्पितं सत्यवतीसुताय पुराणमालिख्य विषाणकोट्या ।
तं चन्द्रमौलेस्तनयं तपोभिः अवाप्यमानन्दघनं भजामि ॥
पदं स्तुतीनामपदं श्रुतीनाम् लीलावतारं परमष्टमूर्तेः ।
नागात्मको वा पुरुषात्मकोवेत्यभेद्यमाद्यं भज विघ्नराजम् ॥
पाशांकुशौ भग्नरदं त्वभीष्टं करैर्दधानं कररंध्रमुक्तैः ।
मुक्ताफलाभैः पृथुसीकरोधैः सिंचन्तमंगं शिवयोर्भजामि ॥
अनेकमेकं गजमेकदन्तं चैतन्यरूपं जगदादिबीजम् ।
ब्रह्मेति यं ब्रह्मविदोवदन्ति तं शंभुसूनुं शरणं भजामि ॥
स्वांगस्थितायाः निजवल्लभायाः मुखांबुजालोकमलोलनेत्रम् ।
स्मेराननास्यं मदवैभवेन रूद्धं भजे विश्वविमोहनं तम् ॥
ये पूर्वमाराध्य गजाननं त्वां शास्त्राणि सर्वाणि पठन्ति तेषाम् ।
त्वत्तोनचान्यत्प्रतिपाद्यमेतैस्तदस्ति चेत्सर्वमसत्यकल्पम् ॥
हिरण्यगर्भं जगदीशतारमृषिं पुराणं रविमंडलस्थम् ।
गजाननं यं प्रविशन्ति सन्तस्तत्कालयोगैस्तमहं प्रपद्ये ॥
वेदान्तगीतं पुरुषं भजेहम् आत्मानमानन्दघनं हृदिस्थम् ।
गजाननं यन्महसा जनानां महांधकारो विलयं प्रयाति ॥
शंभोः समालोक्य जटाकलापे शशांकखण्डं निजपुष्करेण ।
स्वभग्नदन्तं प्रविचिन्त्य मौग्ध्यादाक्रष्टुकामः श्रियमातनोतु ॥
विघ्नार्गलानां विनिपातनार्थं यं नारिकेलैः कदलीफलाद्यैः ।
प्रभावयन्तो मदवारणास्यं प्राप्नुर्नरोभीष्टमहं भजे तम् ॥
यज्ञैरनेकैर्बहुभिस्तपोभिराराध्यमाद्यं गजराजवक्त्रम् ।
स्तुत्यानया ये विधिना स्तुवन्ति ते सर्वलक्ष्मीनिधयो भवन्ति ॥

—०—

कतिपय स्तोत्र

राज मातंगिनी स्तोत्र

विनम्रदेवासुरमौलिरत्नैः नीराजितं ते चरणारविन्दम् ।
भजन्ति ये देवि महीपतीनां व्रजन्ति ते सम्पदमादरेण ।।
मातंगि लीलागमने भवत्याः सिंजानमंजीरमिषाद्भजन्ते ।
मातस्त्वदीयं चरणारविन्दं ग्रकृत्रिमाणां वचसां निगुंफाः ।।
पदात्पदं सिंजित नूपुराभ्यां कृतार्थयन्ती पदवीं पदाभ्याम् ।
आस्फालयन्ती कलवल्लकीं तां मातंगिनी मद्हृदयंधिनोतु ।।
नीलांशुकाबद्धनितंबबिम्बां तालीदलेनार्पितकर्णभूषाम् ।
माध्वीमदाघूर्णित नेत्रपद्मां घनस्तनीं शंभुवधूं नमामि ।
तडिल्लताकान्तमनर्घ्यभूषं चिरेण लक्ष्यं नवलोमराज्या ।
स्मरामि भक्त्या जगतामधीशं वलित्रयांकन्तव मध्यबिम्बम् ।।
नीलोत्पलानां श्रियमावहन्ती कान्त्याकटाक्षैः कमलाकराणाम् ।।
कदम्बमालांचितकेशपाशां मातंगकन्यां हृदि भावयामः ।।
ध्यायेयमारक्तकपोलकान्तं बिबाधरन्यस्त ललामरम्यम् ।
आलोलनीलालकमायताक्षं मन्दस्मितं ते वदनं महेशि ।।
स्तुत्यानया शंकरधर्मपत्नीं मातंगिनींवागधिदेवतां ताम् ।
स्तुवन्ति ये भक्तियुताः मनुष्याः परां श्रियं नित्यमुपाश्रयन्ति ।।

त्रिपुरा स्तोत्र

ब्रह्मादयः स्तुतिपदैरपि सूक्ष्मरूपां, जानन्ति नैव जगदादिमनादिमूर्तिम् ।
तस्माद् वयं कुचनतां नवकुंकुमाभां, स्थूलां स्तुमः सकलवाङ्मय मातृभूताम् ।।
सद्यः समुद्यतसहस्रदिवाकराभां, विद्याक्षसूत्रवरदाभयचिह्नहस्ताम् ।
नेत्रोत्पलैस्त्रिभिरलंकृतपद्मवक्त्रां त्वां तारहाररूचिरां त्रिपुरे भजामः ।।
सिन्दूरपुंजरुचिरं कुचभारनम्रं, जन्मान्तरेषुकृतपुण्यफलैकगम्यम् ।
अन्योन्यभेदकलहाकुलमानभेदैः जानन्ति नोजडधियस्तवरूपमंत्रम् ।।
स्थूलां वदन्ति मुनयः श्रुतयो गृणन्ति सूक्ष्मां वदन्ति वचसामधिवासमन्ये ।
त्वां मूलमाहुरपरे जगताम् भवानि मन्यामहे वयमपारकृपाम्बुराशिम् ।।
चन्द्रावतंसकलिकां शरदिन्दुशुभ्रां पंचाशदक्षरमयीं हृदिभावयन्ति ।
त्वां पुस्तकं जपवटीममृताढ्यकुंभम् व्याख्यां च हस्तकमलैर्दधतीं त्रिनेत्राम् ।।

शंभुस्त्वमद्रितनयाकलितार्धभागो विष्णुस्त्वमंब ! कमलापरिबद्धदेहः ।
पद्मोद्भवस्त्वमसि वागधिवासभूमिः तेषां क्रियाश्च जगति त्रिपुरेत्वमेव ॥
आश्रित्य वाग्भवभवांश्चतुरः परादीन् भावान्परेषु विहितार्थमुदीरयन्ति ।
कण्ठादिभिश्च करणैः परदेवतां त्वां संविन्मयीं हृदि कदापि न विस्मरामि ॥
आकुंच्य वायुमवजित्य च वैरिषट्कमालोक्य निश्चलधिया निज नासिकाग्रम् ।
ध्यायन्ति मूर्ध्नि कलितेन्दु कलावतंसं त्वद्रूपमंब ! कृतिनस्तरूणार्कबिम्बम् ॥
त्वं प्राप्य मन्मथरिपोर्वपुरर्धभागं सृष्टिं करोषि जगतामिति वेदवादः ।
सत्यं तदद्रितनये ! जगदेकमातः नोचेदशेषजगतः स्थितिरेव न स्यात् ॥
पूजां विधाय कुसुमैः सुरपादापानां पीठे तवाम्ब ! कनकाचलगह्वरेषु ।
गायन्ति सिद्धवनिताः सह किन्नरीभि रास्वादितासवरसारूणनेत्रपद्मा ॥
विद्युद्विलासवपुषः श्रियमुद्वहन्तीं यान्तीं स्ववासभवनाच्छिवराजधानीम् ।
सौषुम्णमार्गकमलानि विकाशयन्तीं देवीं भजे हृदि परामृतसिक्तगात्रीम् ॥
आनन्दजन्मभवनं भवनं श्रुतीनाम् चैतन्यमात्रतनुमंब समाश्रयामि ।
ब्रह्मेशविष्णुभिरभिष्टुतपादपद्मम् सौभाग्यजन्मवसतिं त्रिपुरे यथावत् ॥
शब्दार्थभावभवनं सृजतीन्दुरूपा या तद् बिभर्ति पुनरर्कतनुः स्वशक्तया ।
वह्न्यात्मिका हरति तत्सकलं युगान्ते तां शारदां मनसि जातु न विस्मरामि ॥
नारायणीति नरकार्णवतारिणीति गौरीति खेदशमनीति सरस्वतीति ।
ज्ञानप्रदेति नयनत्रयभूषितेति त्वामिन्द्रराजतनयेति बुधाः वदन्ति ॥
ये स्तुवन्ति जगन्मातः श्लोकैर्द्वादशभिः क्रमात्,
त्वामनुप्राप्य वाक्सिद्धिं प्रायुप्नुस्ते परांगतिं ।

श्यामा (दक्षिणा कालिका) स्तोत्र

कर्पूरं मध्यमाद्यस्वरपररहितं सेन्दुवामाक्षियुक्तम्,
बीजं ते मातरेतत् त्रिपुरहरवधूः त्रिः कृतं ये जपन्ति ।
तेषां गद्यानि पद्यानि च मुख कुहरादुल्लसन्त्येव वाचः,
स्वच्छन्दं ध्वान्तधाराधररूचिरूचिरे सर्वसिद्धिं गतानाम् ॥१॥
ईशानः सेन्दुवामश्रवणपरिगतो बीजमन्यन्महेशि,
द्वन्द्वं ते मन्दचेता यदि जपति जनो वारमेकं कदाचित् ।
जित्वा वाचामधीशं धनदमपिचिरं मोहयत्यम्बुजाक्षी,
वृन्दं चन्द्रार्धचूडे स भवति सुमहाघोररावावतंसे ॥२॥

ईशो वैश्वानरस्थः शशिधर विलसद् वामनेत्रेण युक्तो,
बीजं ते द्वन्द्वमन्यत् विगलित चिकुरे कालिके ये जपन्ति।
द्वेष्टारं घ्नन्ति ते च त्रिभुवनमपि ते वश्यभावं नयन्ति,
सृक्क द्वन्द्वास्त्रधाराद्वयधरवदने दक्षिणे कालिकेति ॥३॥
ऊर्ध्वं वामे कृपाणं करकमलतले छिन्नमुण्डं तथाधः,
सव्येऽभीतिं वरं च त्रिजगदघहरे दक्षिणे कालिके च।
जप्त्वैतन्नाम ये वा तव मनुविभवं धारयन्त्येव मंब,]
तेषामष्टौ करस्थाः प्रकटितवदने सिद्धयस्त्र्यंबकस्य ॥४॥
वर्गाद्यं वह्निसंस्थं विधुरतिवलितं तत् त्रयं कूर्चयुग्मं,
लज्जाद्वन्द्वं च पश्चात् स्मितमुखि तदधः ठ द्वयं योजयित्वा।
मातर्ये ये जपन्ति स्मरहरमहिले भावयन्ते स्वरूपं,
ते लक्ष्मी लास्यलीलाकमलदलदृशः कामरूपाः भवन्ति ॥५॥
प्रत्येकं वा द्वयं वा त्रयमपि च परं बीजमत्यन्तगुह्यम्,
त्वन्नाम्ना योजयित्वा सकलमपि सदा भावयन्तो जपन्ति।
तेषां नेत्रारविन्दे विहरति कमलावक्त्रशुभ्रांशु बिम्बे,
वाग्देवी दिव्यमुण्डस्रगतिशयलसत्कंठपीनस्तनाढ्ये ॥६॥
गतासूनां बाहुप्रकटकृतकांची परिलस,
न्नितंबां दिग्वस्त्रां त्रिभुवन विधात्रीं त्रिनयनाम्।
श्मशानस्थे तल्पे शवहृदि महाकाल सुरत,
प्रयुक्तां त्वां ध्यायन् जननि जडचेता अपि कविः ॥७॥
शिवाभिर्घोराभिः शवनिवहमुण्डास्थिनिकरैः,
परं संकीर्णायां प्रकटितचितायां हरवधूम्।
प्रविष्टां सन्तुष्टामुपरिसुरतेनातियुवतीम्,
सदा त्वां ध्यायन्ति क्वचिदपि न तेषां परिभवः ॥ ८॥
वदामस्ते किं वा जननि वयमुच्चैर्जडधियः,
न धाता नापीशो हरिरपि न ते वेत्ति परमम्।
तथापि त्वद्भक्तिर्मुखरयति चास्माकमपि ते,
तदेतत् क्षन्तव्यं न खलु पशुरोषः समुचितः ॥९॥
समन्तादापीन स्तनजघनधृग्यौवनवती,
रतासक्तो नक्तं यदि जपति भक्तस्तव मनुम्।
विवासास्त्वां ध्यायन्गलितचिकुरस्तस्य वशगाः,

समस्ताः सिद्धौघाः भुवि चिरतरं जीवति कविः ॥१०॥
समाः स्वस्थीभूतो जपति विपरीतो यदि सदा,
विचिन्त्य त्वां ध्यायन्नतिशयमहाकालसुरताम् ।
तदा तस्य क्षोणीतलविहरमाणस्य विदुषः,
करांभोजे वश्याः स्मरहरवधूसिद्धिनिवहाः ॥११॥
प्रसूते संसारं जननि भवती पालयति च,
समस्तं क्षित्यादि प्रलयसमये संहरति च ।
अतस्त्वां धातापि त्रिभुवनपति श्रीपतिरपि,
महेशोपि प्रायः सकलमपि किं स्तौमि भवतीम् ॥१२॥
अनेके सेवन्ते हरगृहिणि गीर्वाणनिवहाः,
विमूढास्ते मातः किमपि नहि जानन्ति परमम् ।
समाराध्यामाद्यां हरिहरविरंच्यादिविबुधैः,
प्रपन्नोस्मि स्वैरं रतिरसमहानन्दनिरताम् ।१३।
धरित्री कीलालं शुचिरपि समीरोपि गगनं,
त्वमेका कल्याणी गिरिशरमणी कालि सकलम् ।
स्तुतिः का ते मातस्तव करुणया मामगतिकम्,
प्रसन्ना त्वं भूयाः भवमनु न भूयान्मम जनुः ।१४।
श्मशानस्थः स्वस्थो गलितचिकुरो दिक्पटधरः,
सहस्रं त्वर्काणां निजगलित वीर्येण कुसुमम् ।
जपंस्त्वत्प्रत्येकं मनुमपि तव ध्याननिरतो,
महाकालि स्वैरं स भवति धरित्रीपरिवृढः ।१५।
गृहे सम्मार्जन्या परिगलितवीर्यं हि कुसुमम्,
समूलं मध्याह्ने वितरति चितायां कुजदिने ।
समुच्चार्य प्रेम्णा मनुमपि सकृत्कालि सततं,
गजारूढो याति क्षितिपरिवृढः सत्कविवरः ।१६।
स्वपुष्पैराकीर्णं कुसुमधनुषो मन्दिरमहो,
पुरो ध्यायं ध्यायं यदि जपति भक्तस्तव मनुम् ।
स गंधर्वश्रेणीपतिरिव कवित्वामृतनदी,
नदेनः पर्यन्ते परमपदलीनः प्रभवति ।१७।
त्रिपंचारे पीठे शवशिवहृदिस्मेरवदनाम्,
महाकालेनोच्चैर्मदनरसलावण्यनिरताम् ।

समासक्तो नक्तं स्वयमपि रतानन्दनिरतो,
जनो यस्त्वां ध्यायेदपि जननि स स्यात्स्मरहरः ।१८।
सलोमास्थिस्वैरं पललमपि मार्जारमपि ते,
परं चौष्ट्रं मैषं नरमहिषयौश्छागमपि वा ।
वलिं ते पूजायामपि वितरतां मर्त्यवसताम्,
सतां सिद्धिः सर्वा प्रतिपदमपर्वा प्रभवति ।१९।
वशी लक्षं मंत्रं प्रजपति हविष्याशनरतो,
दिवा मातर्युष्मच्चरणयुगलध्याननिपुणः ।
परं नक्तं नग्नो निधुवनविनोदेन च मनुम्,
जनो लक्षं सम्यक् स्मरहरसमानः क्षितितले ।२०।
इदं स्तोत्रं मातस्तव मनुसमुद्धारणजनु,
स्वरूपाख्यं पादाम्बुजयुगलपूजा विधियुतम् ।
निशार्धे वा पूजासमय अथवा यस्तु पठति,
प्रलापस्तस्यापि प्रसरति कवित्वामृतरसः ।२१।
कुरंगाक्षी वृन्दस्तमनुसरति प्रेमतरलं,
वशस्तस्य क्षोणीपतिरपि कुबेर प्रतिनिधिः,
रिपुः कारागारं कलयति च तत्केलिकलया
चिरं जीवन्मुक्तः स भवति सुभक्तः प्रति जनु ।२२।

काली स्तोत्र

(इसका पाप नाशन के लिए समापन स्तुति के रूप में पाठ करना भी श्रेयस्कर रहता है।)

प्राग्देहस्थो यदाहं तव चरणयुगं नाश्रितोनार्चितोहम्,
तेनाद्धा कीर्तिवर्गैर्जठरजदहनैर्वध्यमानो बलिष्ठैः ।
क्षिप्त्वा जन्मान्तरान्नः पुनरिह भविता क्वाश्रयः क्वापि सेवा,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।१।
बाल्ये बालभिलापैर्जडितजडमतिः त्रालीलाप्रसक्तो,
न त्वां जानामि मातः कलिकलुषहराम् भोगमोक्षप्रदात्रीम् ।
नाचारो नैव पूजा न च यजनकथा न स्मृतिर्नैव सेवा,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।२।

प्राप्तोहं यौवनं चे द्विषधरसदृशैरिन्द्रियैर्दष्टगात्रो,
नष्टप्रज्ञः परस्त्रीपरधनहरणे सर्वदा साभिलाषः ।
त्वत्पादाम्भोजयुग्मं क्षणमपि मनसा न स्मृतं तत्कदापि,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।३।

प्रौढे भिक्षाभिलाषी सुतदुहितृकलत्रार्थमन्नादिचेष्टः,
क्व प्राश्ये कुत्र यामीत्यनुदिनमनिशं चिन्तया मग्नदेहः ।
नो ते ध्यानं न चास्था न च भजनविधिर्नाम संकीर्तनं वा,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।४।

वृद्धत्वे बुद्धिहीन कृशविवशतनुः श्वासकासातिसारैः,
कर्मानिर्होक्षिहीनः प्रगलितदशनः क्षुत्पिपासाभिभूतः ।
पश्चात्तापेन दग्धः मरणमनुदिनं ध्येयमात्रं न चान्यत्,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।५।

कृत्वा स्नानं दिनादौ क्वचिदपि सलिलं नाहृतं नैव पुष्पं,
नो नैवेद्यादिकं ते क्वचिदपि विहितं नापि भावो न भक्तिः ।
न न्यासो वै न चैवं तव गुणकथनं नापि चर्चा कृता ते,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।६।

जानामि त्वां न चाहं भवभयहरणे सर्वसिद्धिप्रदात्रीम्,
नित्यानन्दोदयाढ्याम् त्रितयगुणमयीं नित्यशुद्धोदयाढ्याम् ।
मिथ्याकर्माभिलाषैरनुदिनमभितः पीडितो दुःखसंघैः,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।७।

कलाभ्रश्यामलांगीं बिगलित चिकुरां खग्डमुण्डाभिरामाम् ।
त्रासत्राणेष्टदात्रीं कुणपगणशिरोमालिनीं दीर्घनेत्राम् ।
संसारस्यैकसारां भवजननहरां भावितो भावनाभिः,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।८।

ब्रह्मा विष्णुस्तथेशः परिणमति सदा त्वत्पदाम्भोजयुग्मं,
भाग्याभावान्नचाहं भवजननि भवत्पादयुग्मं भजामि ।
नित्यं लोभप्रलोभैः कृतविवशमतिः कामुकस्त्वां प्रयाचे,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।९।

रागद्वेषैः प्रमत्तः कलुषयुततनुः कामनाभोगलुब्धः,
कार्याकार्याविचारी कुलमतिरहितः कौलसंघैर्विहीनः ।
क्व ध्यानं ते क्व चर्चा क्व च मनुजपनं नैव किंचित्कृतं हि,

क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।१०।
रोगी दुःखी दरिद्रः परवशकृपणः पांशुलः पापचेता
निद्रालस्यप्रसक्तः सुजठरभरणे व्याकुलः कल्पितात्मा ।
किं ते पूजाविधानं त्वयि क्व च नु मतिः क्वानुरागः क्वचास्था,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।११।
मिथ्याव्यामोहरागैः परिवृतमनसः क्लेशसंघान्वितस्य,
क्षुन्निद्रौघान्वितस्य स्मरसुविहरिणः पापकर्मप्रवृत्तेः ।
दारिद्र्यस्य क्व धर्मः क्व च जननरूचिः क्वस्थितिः साधुसंघैः,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले।१२।
मातस्तातस्य देहाज्जननि जठरगः संस्थितस्त्वद्वशेहं,
त्वं हर्त्री कारयित्री करणगुणमयी कर्महेतुस्वरूपा ।
त्वं बुद्धिश्चित्तसंस्थाप्यहमतिभवती सर्वमेतत्क्षमस्व,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटतिवदने कामरूपे कराले।१३।
त्वं भूमिस्त्वं जलं च त्वमसि हुतवहस्त्वं जगद्वायुरूपा,
त्वं चाकाशं मनश्च प्रकृतिरसि महत्पूर्विका पूर्वपूर्वा ।
आत्मा त्वं चासि मातः परमसि भवती त्वत्परं नैवकिंचित्,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।१४।
त्वं काली त्वं च तारा त्वमसि गिरिसुता सुन्दरी भैरवी त्वम्,
त्वं दुर्गा छिन्नमस्ता त्वमसि च भुवना त्वं हि लक्ष्मीः शिवा त्वम् ।
धूमा मातंगिनी त्वम् त्वमसि च बगला मंगलादिस्तवाख्या,
क्षन्तव्यो मेऽपराधः प्रकटितवदने कामरूपे कराले ।१५।
स्तोत्रेणानेन देवीं परिणमति जनो, यः सदा भक्तियुक्तो,
दुष्कृत्या दुर्गसंघं परितरति शतं विघ्नता नाशमेति,
नाधिर्व्याधिः कदाचिद् भवति यदि पुनः सर्वदा सापराधः,
सर्वं तत्कामरूपे त्रिभुवनजननि क्षामयेः पुत्रबुद्ध्या ।१६।
ज्ञाता वक्ता कवीशो भवति धनपतिर्दानशीलोदयात्मा,
निष्पापी निष्कलंकी कुलपतिकुशलः सत्यवाग्धार्मिकश्च ।
नित्यानन्दोदयाढ्यः पशुगणविमुखः सत्पथाचारशीलः,
संसाराब्धिं सुखेन प्रतरति गिरिजापादयुग्मालंबात् ।१७।

शिव प्रयोग

त्वरितरुद्र मंत्र—ओम् यो रुद्रो ग्नौ योरुद्रोप्सु य औयधीषु यो रुद्रो विश्वा-भवनाविवेश तस्मै रुद्राय नमोस्तु ।

विनियोग—अस्य त्वरितरुद्रमंत्रस्य अथर्वण ऋषिः अनुष्टूप् छन्दः त्वरित रुद्र संज्ञिका देवता नमः इति बीजम् अस्तु इति शक्तिः त्वरितरुद्रप्रीतये जपे विनियोगः ।

न्यास—अथर्वण ऋषये नमः शिरसि, अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे, त्वरित रुद्र-मंज्ञक देवतायै नमः हृदये, नमः इति वीजाय नमः गुह्ये : अस्तु इति शक्तये नमः पादयोः विनियोगाय नमः सर्वांगे ।

करन्यास—ओम् यो रुद्रः अंगुष्ठाभ्यां नमः, ओम् अग्नौ तर्जनीभ्याम् नमः ओम् यो रुद्रो विश्वाभुवनानि विवेश कनिष्ठिाभ्यां नमः, तस्मै रुद्राय नमोस्तु करतल करपृष्ठाभ्यां नमः ।

हृदयादि न्याय ओम् यो रुद्रः हृदया नमः, ओम् अग्नौ शिरसे स्वाहा, ओम् योप्सु शिखायै वषट् ओम् य औधीषु कवचाय हुम्, ओम् यो रुद्रो विश्वाभुवनानि विवेश नेत्रत्रयाय वौषट् तस्मै रुद्राय नमोस्तु अस्त्राय फट् ।

इस प्रयोग में व्यापक न्यास करने का विधान है । व्यापक न्यास में गृहस्थ को सृष्टि क्रम से न्यास करना चाहिए जो इस प्रकार है—ओम् यः पादयोः, ओम् रुद्रः जंघयोः ओम् अग्नौ जान्वोः, ओम् यः ऊर्वोः, ओम् अप्सु गुल्फयोः, ओम् यः गुह्ये, औम् ओष-धीषु नाभौ, ओम् यः उदरे ओम् रुद्रः कण्ठे, ओम् विश्वाकण्ठे, ओम् भुवना मुखे, ओम् विवेश नासिकायाम् ओम् तस्मै नेत्रयोः ओम् रुद्राय भ्रुवोः, ओम् नमः ललाटे, ओम् अस्तु शिरसि—इसके पश्चात् अंगूठे के नीचे के पोर में चारों अंगुलियों के अगले पोर थोड़े दवाव के साथ लगा कर "ओम् एषते रुद्रभागः सहस्वस्राम्विकया तं जुषस्व स्वाहा" यह मंत्र वोलकर प्रार्थना करे तदनन्तर ध्यान करे—

रुद्रं चतुर्भुजं देवं त्रिनेत्रं वरदाभयम्, दधानमूर्ध्वं हस्ताभ्यां शूलं डमरूमेवच
अंक संस्थामुमां पद्मे दधानंच करद्वये आद्ये करद्वये कुंभं मातुलुगं च विभ्रतम् ।

इसके वाद भगवान् शिव की मानसी पूजा या उपचारवती पूजा करे । इसका पुरश्चरण वीस हजार जप में हो जाता है । दशांश हवन, तर्पण, ब्राह्मण भोजन करने पर सब मनोरथ पूर्ण होते हैं । धन और पुत्र की कामना वाले साधक को एक लाख जप करने होते हैं तथा विल्व की समिधा में हवन करना होता है । तिल और घी से हवन करने से तेजोवृद्धि, ज्वर नाश के लिए शहदलिप्त आम के पत्ते, शीतज्वर की शान्ति के लिए गुड्ची, सारे रोगों की शान्ति के लिए सूर्य के सामने जप करके आक की लकड़ी (समिधा) में जपा के फूलों का हवन किया जाता है । गूलर की समिधा में हवन करने से धान्य लाभ और वेर की समिधा से तेज वढ़ता है । अपामार्ग की समिधा में हवन करने से भूतवाधा और पीपल के पास जप करने से ग्रहजनित वाधा शान्ति होती है, हवन में नियत आहुति देकर अन्त में नमक, दही और पीपल के नुकीले भाग (सूखी पीपल की लकड़ी में नोक निकाल कर उसे नमक व दही में डुवोकर) यह कामना करते हुए कि सर्व प्रकार की

बाधायें जा रही हैं, "गच्छ-गच्छ स्वाहा" बोलकर ये पन्द्रह आहुतियाँ दे देनी चाहिएँ। होम जितनी ही बलि दी जानी चाहिए। बलि का अर्थ यहाँ केवल यही है कि पर्याप्त भोजन का पात्र भर कर "रुद्रानुचरेभ्य: एष ते बलिर्मया दीयते" यह बोलकर दे दे फिर अन्न को किसी योगी (जोगी) यती को दे दे। पूर्व दिशा में ईशान व दिक्पतियों की बलि उनका नाम लेकर देने से सभी प्रकार के विघ्न शान्त हो जाते हैं।

स्वास्थ्य लाभ व रोग नाश के लिग त्र्यक्षरी मृत्युंजय—'ओम् जूं सः सः जूं ओम्' इसमें अनुलोम विलोम होने से षडक्षरी संपूर्ण मंत्र बन जाता है। भगवान् शिव की पूजा करके इस मंत्र का जप करने से अनेक लोग रोगमुक्त हुए हैं। महामृत्युंजय का प्रयोग प्रबल मारकेश से मुक्त करने के लिए अमोघ अस्त्र है। घर में नीरोग और स्वस्थता रखने के लिए "ओम् क्ष्रीं क्ष्रीं क्ष्रीं क्ष्रीं क्ष्रीं फट्" इस मंत्र की पांच मालायें प्रतिदिन जपने से अच्छा लाभ होता है। इस मंत्र का न्यास विनियोग आदि नहीं हैं। पापनाश के लिए महापुरुष विद्या के ग्यारह पाठ प्रतिदिन कर लेना उत्तम रहता है।

महापुरुष विद्या

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन, सुब्रह्मण्य नमस्तेस्तु महापुरुष पूर्वज।
नमो हिरण्यगर्भाय प्रधानव्यक्तिरूपिणे, ओम् नमो वासुदेवाय शुद्धज्ञान स्वरूपिणे ॥
देवानां दानवानां च सामान्यमसि दैवतम् सर्वदा चरणद्वन्द्वं व्रजामि शरणं तव।
एकस्त्वमसि लोकस्य स्रष्टासंहारकस्तथा, अध्यक्षश्चानुमंता चा गुणमायासमावृत: ॥
संसारसागरं घोरमनन्तक्लेश भाजनम्, त्वामेव शरणं प्राप्य निस्तरन्ति मनीषिण:।
न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न च स्पदम्, तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे ॥
नैव किंचित्परोक्षं ते प्रत्यक्षोऽसि न कस्यचित्, नैव किंचिदसाध्यं ते न चासाध्योऽसि कस्यचित्।
कार्याणां कारणं पूर्वं वचसां वाच्यमुत्तमम्, योगिनां परमां सिद्धि परमं ते पदं विदु: ॥
अहं भीतोऽस्मि देवेश संसारेऽस्मिन्महाभये, त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष न जाने शरणं परम्।
कालेष्वपि च सर्वेषु दिक्षु सर्वासुचाच्युत, शरीरेऽपि गतौ चापि वर्तते मे महद्भयम् ॥
त्वत्पादकमलादन्यन्न मे जन्मान्तरेष्वपि, निमित्तं कुशलस्यास्ति येन गच्छामि सद्गतिम्।
विज्ञानं यदिदं प्राप्तम् यदिदं ज्ञानमूर्जितम्, जन्मान्तरेऽपि मे देव मा भूदस्य परिक्षेय: ॥
दुर्गतावपि जातायां त्वं गतिस्त्वं मतिर्मम, यदिनाथं च विज्ञेयम् तावतास्मि कृती सदा।
अकामकलुषं चित्तं मम ते पादयो: स्थितम् कामये वैष्णवत्वं तु सर्वं जन्मसु केवलम् ॥

नरसिंह कवच

परकृत अभिचारादि दुष्प्रयोगों, भूतबाधा एवं अन्य दुर्घटनाओं से रक्षा करने

के लिए नरसिंह कवच अमोघ है, इसका मैंने कई जगह प्रयोग किया है और आश्चर्य जनक रूप से प्रभावशाली पाया है—

विधि—नरसिंह कवच को किसी ताम्रपत्र पर शुद्ध खुदवा कर अथवा भोजपत्र पर अष्टगंध से लिखकर सामान्य प्राणप्रतिष्ठा विधि से पूजा करके नौ दिन तक एक सौ आठ पाठ प्रतिदिन करता रहे अथवा शुक्लपक्ष की अष्टमी से प्रारंभ करके चतुर्दशी तक सात दिन का पुरश्चरण करने, दशांशा हवन ब्राह्मण भोजन करने से यह कवच अत्यन्त जागृत व सप्राण हो जाता है, इस प्रकार का कवच जिस घर में स्थापित रहेगा उसमें किसी भी प्रकार की आगन्तुक बाधा अपना दुष्प्रभाव नहीं करेगी, इतना ध्यान रखना चाहिए कि इस कवच को प्रतिदिन अगरबत्ती और चतुर्दशी के दिन स्नानादि कराकर पूजित रखने से अधिक लाभ मिलता है, उपेक्षा करने से कर्त्ता और कारयिता दोष भागी बनते हैं।

कवच—नारद उवाच-इन्द्रादि देववृन्देश ईड्येश्वर जगत्पते,
महाविष्णोर्नृसिंहस्य कवचं ब्रूहि मे प्रभो ॥
यस्य प्रपठनात् विद्वान् त्रैलोक्य विजयी भवेत्।

ब्रह्मोवाच—शृणु नारद वक्ष्यामि पुत्रश्रेष्ठ तपोधन,
कवचं नरसिंहस्यस्त्रैलोक्यविजयी भवेत्।

स्रष्टाहं जगतां वत्स पठनात् धारणात् यतः, लक्ष्मीः जगत्त्रयंपाति संहर्ताच महेश्वरः।
पठनात् धारणात् देवाः वहवश्च दिगीश्वराः ब्रह्ममंत्रमयं वक्ष्ये भ्रान्त्यादि विनिवारकम्॥
यस्य प्रसादात् दुर्वासाःस्त्रयैलोक्य विजयीभवेत् पठनाद्धारणाद्यस्य शास्ताच क्रोधभैरवः।
त्रैलोक्य विजयस्यापि कवचस्य प्रजापतिः ऋषिश्छन्दस्तु गायत्री नृसिंहो देवता विभुः

क्ष्रौं बीजं मे शिरः पातु चन्द्रवर्णो महामनुः,
ओम् उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्

नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् द्वात्रिंशदक्षरो मंत्रो मंत्रराजः सुरद्रुमः।
कण्ठं पातु ध्रुवं क्ष्रौं हृद् भगवते चक्षुषीमम, नरसिंहाय च ज्वालामालिने पातुकर्णकम्
दीपदंष्ट्रायच तथा अग्निनेत्राय नासिकाम्, सर्वरक्षोःघ्नायच तथा सर्वभूतहिताय च ॥
सर्वज्वर विनाशाय दह दह पदद्वम्, रक्ष रक्ष वर्म मंत्रः स्वाहा पातु मुखं मम ॥
तारादि रामचन्द्राय नमः पातु हृदं मम क्लीं पायात्पार्श्वयुग्मं च तारो नमः पदं ततः।

नारायणाय नाभिं च आं ह्रीं क्रों क्ष्रौं च हुं फट्,
षडक्षरः कटिं पातु ओम् नमो भगवते पदम्।
वासुदेवाय च पृष्ठं क्लीं कृष्णाय क्लीं उरुद्वयम्
क्लीं कृष्णाय सदा पातु जानुनी च मनूत्तमः

क्लीं ग्लौं क्लीं श्यामलांगाय नमः पायात्पदद्वयम् क्ष्रौं नृसिंहाय क्ष्रौं च सर्वांगे मे सादवतु

इति ते कथितं वत्स सर्वं मंत्रौघ विग्रहम, तवस्नेहान्मयाख्यातं प्रवक्तव्यं न कस्यचित् गुरुपूजां विधायाथ गृह्लीयात् कवचं ततः सर्वपुण्ययुतो भूत्वा सर्वसिद्धियुतोभवेत् ।

विशेष—यह कवच नृसिंह मंत्र का स्वरूप है। कवच के साथ मंत्र का जप करने से अति उत्तम फल मिलता है। मंत्र इस प्रकार है—

"ओम् नरसिंहाय हिरण्यकशिपुवक्षः स्थलविदारणाय त्रिभुवनव्यापकाय भूतप्रेत पिशाचडाकिनीकुलोन्मूलनाय स्तंभोद्भवाय समस्त दोषान् हर हर विसर विसर पच पच हन हन कंपय कंपय मथ मथ ह्लीं ह्लीं ह्लीं फट् फट् ठः ठः ठः एहि एहि रुद्रः आज्ञापयति स्वाहा"

हनुमत् द्वादशाक्षर कल्प

परमवीर पवन नन्दन वज्रांग इस युग के प्रत्यक्ष देवता हैं। साधक विश्वास पूर्वक, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हुआ विधि पूर्वक इनकी उपासना करे तो ये प्रत्यक्ष हो सकते हैं क्योंकि ये अपने ब्रह्मचर्य व रामभक्ति के कारण चिरंजीवी हैं, रुद्र के अंशावतार होने के कारण प्रबल पराक्रमी भी हैं, किन्तु ये रुद्रके सात्विक अंश है इसलिए इनकी उपसना भी सात्विक विधि से की जाती है तथा परपीडन या किसी अपवित्र कार्य के लिए इनका मंत्र प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए। जो इनकी शरण में चला गया उस पर किसी भी प्रकार की विपत्ति या कृत्याप्रयोग अथवा ग्रहवाधा असर नहीं करती। प्रस्तुत प्रयोग गरुडतंत्र में वर्णित है।

मंत्र—"हं हनुमते रुद्रात्मकाय हुं फट्"

विधि—किसी राम या विष्णु के मन्दिर गें, निर्जन स्थान, नदी तीर, पर्वत अथवा वन में यह प्रयोग करना है। प्रयोग करने से पूर्व संकल्प वोले। संकल्प में वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, वार का उच्चारण करके अपने गोत्र, पिता व स्वयं का नामोच्चार करते हुए रुद्रात्मक हनुमत्प्रसन्नता प्राप्त्यर्थ द्वादशाक्षर हनुमन्मंत्रस्य (···, संख्यांकं) जपं करिष्ये। ऋषि छन्दादि न होने से विनियोग एवं संहार न्यास नहीं होते। करन्यास मूलमंत्र से ही कर लेने चाहिए। हृदयादि षडंग न्यास भी मूलमंत्र से ही कर लेना चाहिए। जैसे 'हं हनुमते रुद्रात्मकाय हुम् फट्', हृदयाय नमः, मूल मंत्र शिरसे स्वाहा, मूलमंत्र शिखायै वषट् मूल मंत्र कवचाय हुम्, मूल मंत्र (हं हनुमते रुद्रात्मकाय हुम् फट्) नेत्र त्रयाय वौषट्, मूल मंत्र अस्त्राय फट्।

ध्यान—

महाशैलं समुत्पाट्य धावन्तं रावणं प्रति, तिष्ठ तिष्ठ रणे दुष्ट घोररावं समुच्चरन् ।।
लाक्षारसारूणं गात्रं कालान्तकयमोम,म् ज्वलदग्निलसन्नेत्रं सूर्यकोटिसमप्रभम्
अंगदाद्यै र्महावीरैः वेष्टितं रुद्ररूपिणम् एवं हनूमन्तं ध्यात्वा पूजां समारभेत।

इस ध्यान के पश्चात् ताम्रपत्र पर यंत्र खुदा हुआ हो तो लालचन्दन और केसर से, लालचन्दन की ही कलम से उस खुदे यंत्र पर रेखायें खैंच दे। ताम्रपत्र न हो

तो भोज पत्र पर यंत्र लिखे। यंत्र में केवल आठ पत्तों का कमल लिखना है और कमल के मध्य में मूल मंत्र पूरा लिख देना है। मूल मंत्र के अगल-बगल थोड़ी सी जगह रह जानी चाहिए। इस यंत्र को लाल या सफेद वस्त्र के ऊपर रखकर प्राणा प्रतिष्ठा करके पूजा कर लेनी चाहिए, फिर हाथों में पुष्प लेकर मूल मंत्र पढ़कर पुष्पांजलि अर्पित करे, इस प्रकार आठ पुष्पांजलि देकर हाथ जोड़कर भगवान् राम का ध्यान करे—

कुले रघूणां समवाप्य जन्म, विधाय सेतुं जलधेर्जलान्तः
लंकेश्वरं यः रामयांचकार सीतापतिं तं प्रणमामि भक्त्या ॥

इस मंत्र से प्रणाम करके यंत्र का पूजन करे।

श्री रामचन्द्र पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः

(श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः यह पद आगे भी जोड़ना पड़ेगा) साधक के सामने की तरफ कोण यंत्र में पूजाक्रम साधक के सामने वाले पत्त से साधक के बांयी तरफ से चलेगा, आठ पत्रों में आठ इसके पश्चात् अष्टदल के भीतर साधक के बाँये हाथ की तरफ नौंवा और दाहिने हाथ की तरफ दसवाँ क्रम रहेगा। श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः यह प्रत्येक शब्द के साथ जोड़कर गंधाक्षत पुष्प दाहिने हाथ के अंगूठे और कनिष्ठा से चढ़ाने होंगे।

प्रथम पत्र (सामने वाले) में सुग्रीवाय नमः सुग्रीव श्री पादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः, बताये क्रम से आगे के पत्रों में लक्ष्मणाय नमः लक्ष्मण:०, अंगदाय नमः अंगद०, नलाय नमः नल०, नीलाय नमः नील०, जाम्बवते नमः जाम्बवत्०, कुमुदाय नमः कुमद०, केसरिणे नमः केसरि०, आपके बांये हाथ की तरफ कमल के भीतर पवनाय नमः पवन०, दाँये तरफ अंजन्यै नमः अंजनी०,।

अभीष्ट सिद्धिं मे देहि शरणागतवत्सल।
भक्त्या समर्पये तुभ्यमिदं ह्यावरणर्चनम् ॥

यह बोलकर पुष्पांजलि समर्पित करके षोडशोपचार से पूजा करे फिर मंत्र जप करे। पुरश्चरण में वर्णित विधिक्रम से जप करे। पूर्णाहुति के दिन अंजनी नन्दन की विशेष पूजा करे तथा उस दिन अहर्निश मंत्र जपता रहे। शास्त्र का वचन है कि ऐसा करने पर पूर्णाहुति के दिन, दिन-रात जप करने से रात्रि में पवननन्दन आते हैं, उनसे अभीष्ट वर मांग लेना चाहिए, उनके रूप को देखकर डरना नहीं चाहिए।

चोरी बरामद करने का मुसलमानी प्रयोग

नदी के किनारे अथवा कूये की जगत पर बैठ कर पश्चिम दिशा की तरफ मुँह करके इस मंत्र को एक सौ इक्कीस बार पढ़े। मंत्र है—उद्दमुद्दजल्लजलाल पकड़ चोटी धर पछाड़ भेज कुद्दा लाव मुद्दा या कहु हारो या कहु हारो"

पाक साफ होकर कूये या नदी पर जाए अथवा वहीं पर जाकर हाथ पाँव मुँह धोकर संध्या समय या थोड़ी रात गये यह मंत्र जपे तो एक सप्ताह में ही चोरी का सारा